कहानी की कहानी

(हिन्दी कहानी के शिल्प-विधान तथा विकास का सर्वांगीण अध्ययन)

लेखक-संपादक

प्रो० कृष्णदेव झारी एम० ए०

प्राध्यापक हिन्दी-विभाग

सनातन धर्म कॉलेज (लाहौर) अम्बाला छावनी

प्रकाशक

साहित्यिक प्रकाशन

लक्कड़ बाज़ार, अम्बाला छावनी

प्रकाशक :—
साहित्यिक प्रकाशन
लक्कड़ बाज़ार, अम्बाला छावनी

प्रथम संस्करण
१९५९

मुद्रक :—
जोशी प्रिंटिंग प्रैस
अम्बाला छावनी

विषय-सूची

निवेदन

कहानी का जो आश्चर्यजनक विकास विश्व-साहित्य में हुआ है उसके शिल्प-विधान और नाना-विध विकास की सम्पूर्ण कहानी लिखना एक अत्यन्त कठिन कार्य है। लघु आकार की इस साहित्य-विधा ने सुरसा के समान अपना इतना रूप-विस्तार कर लिया है, कि उसे किसी भी सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता, पुस्तक के २००—३०० पृष्ठों की तो बात ही क्या है। फिर भी अध्ययन तो आवश्यक है, अतः अध्ययन के लिए ही प्रस्तुत पुस्तक में कहानी के रूप-विकास—विशेष रूप से हिन्दी कहानी के शिल्प-विकास और साहित्यिक-प्रसार की सम्पूर्ण कहानी एक सीमा में बद्ध करने का प्रयास किया गया है। गागर में सागर भरने की बात बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है, पर न कभी ऐसा हुआ होगा, न हो सकेगा। कहने के लिए अथवा समझने-समझाने के लिए कोई मेरे प्रयास को भी गागर में सागर भरना कहे, तो कह सकता है। इस पुस्तक के प्रस्तुत करने में मेरा उद्देश्य यह रहा है कि पाठकों को कहानी की शिल्प-विधि का पूरा ज्ञान हो जाय, वे उसके स्वरूप, तत्त्वों, लेखन-शैली, रूप-प्रकार, उसके प्राचीन रूप तथा आधुनिक रूप ने अन्तर, हिन्दी कहानी के क्रमिक विकास, उसके प्रमुख प्रतिनिधि लेखकों और उनकी कहानी कला तथा नाना कथा-रूपों का रसास्वादन और पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकें। यह तो विज्ञ पाठक ही बतायेंगे कि मैं अपने उद्देश्य में कहां तक सफल हूँ, मैं केवल इतना कह सकता हूँ कि मुझे यह पुस्तक निकालकर बहुत संतोष हुआ है। यदि पाठकों को भी कहानी-कला के सर्वांगीण अध्ययन तथा हिन्दी की विभिन्न कहानियों का स्वरूप-परिचय पाकर इससे संतोष हुआ; यदि पाठकों की साहित्यिक रुचि के विकास में इसने कुछ योग दिया, तभी मैं अपना प्रयास सफल मानूँगा।

एक निश्चित क्रम से ही पुस्तक प्रस्तुत की गई है। आरंभ में प्राचीन भारतीय कहानी का स्वरूप स्पष्ट किया गया है, फिर आधुनिक कहानी से

उसका अन्तर बताया गया है । इस स्वरूप-भेद को ठीक तरह समझने के लिए उपनिषद्, कथासरित्सागर और पंचतंत्र-हितोपदेश की प्राचीन कहानियों को भी पाठकों के अध्ययन के लिए रखा गया है । फिर आधुनिक कहानी का कला-शिल्प विस्तार से समझाया गया है । कहानी के टेकनीक को विविध लेखकों की कहानियों से अच्छी तरह समझाने का प्रयास किया है । कहानी का वर्गीकरण प्रस्तुत पुस्तक में उदाहृत कहानियों से ही स्पष्ट किया गया है । हिन्दी कहानी का भी संक्षिप्त किन्तु पूर्ण विकास—पूरा ऐतिहासिक विवरण एवं विवेचन प्रस्तुत किया गया है । प्रतिनिधि लेखकों के परिचय के साथ-साथ उनकी कहानी कला और प्रवृत्तियों को उनकी ही श्रेष्ठ कहानी से समझाया गया है । लेखकों की कलात्मक, स्वस्थ, प्रेरणाप्रद, सुरुचिपूर्ण लघुतम कहानियों को ही प्रस्तुत किया गया है । सब कथाएँ जीवन की प्रगतिशील प्रेरणाओं से ओत-प्रोत हैं । विषय, शैली और प्रयोगों की विविधता इनमें मिलेगी । लेखकों की कहानी कला के साथ-साथ प्रस्तुत कहानी के टेकनीक और समालोचनात्मक अध्ययन को भी प्रकट किया गया है । विषय, शैली और संवेदन की दृष्टि से प्रस्तुत कहानियाँ विश्व की श्रेष्ठ कहानियाँ प्रतीत होंगी । विद्यार्थियों के अभ्यास और लाभ के लिए प्रष्टव्य प्रश्न भी साथ-साथ दे दिए गए हैं । आशा है पाठकों को यह 'कहानी की कहानी' विशेष रूप से पसंद आएगी ।

अन्त में हम उन सब साहित्यकारों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं, जिनकी कहानियाँ इस पुस्तक में उदाहृत की गई हैं ।

लेखक-सम्पादक

कहानी की कहानी

'कहानी' की कहानी चिर पुरानी और चिर नवीन है। आदि काल से ही मानव कहानी कहता और सुनता आया है। साहित्य में भी किसी-न-किसी रूप में कथा-प्रसंग लिखने की प्रवृत्ति सभी भाषाओं के साहित्य में उसके जन्म-काल से ही पाई जाती है। हजारों वर्षों की काल-यात्रा में कहानी ने विषय-वस्तु, विचारधारा, रूप-विधान और शिल्प की दृष्टि से, जीवन-विकास और जीवन-परिवर्तन के अनुसार, इतने रूप, आकार-प्रकार बदले हैं कि आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है।

यद्यपि वर्तमान छोटी कहानी का शिल्प-विकास नए ढंग पर पश्चिम के कथा-साहित्य के आधार पर हुआ है, किन्तु हमारी संस्कृत-प्राकृत आदि की प्रचीन कथा-साहित्य-सम्पत्ति भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। वर्तमान हिन्दी कहानी पर चाहे उसका प्रत्यक्ष प्रभाव न हो, किन्तु वर्तमान कथा-शिल्प के समुचित अध्ययन के लिए उसकी जानकारी और अध्ययन बहुत आवश्यक है। अतः हम पहले प्राचीन भारतीय कथा-साहित्य से पाठकों का परिचय कराते हैं।

प्राचीन कहानी :—संसार के सर्वप्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद में भी हमें "संवाद सूक्तों' के रूप में छोटे-छोटे कथा-प्रसंगों के संकेत मिलते हैं। आगे चलकर उपनिषदों, ब्राह्मण-ग्रंथों से होती हुई हमारी प्राचीन कथा-परम्परा जातकों, पुराणों, कथासरित्सागर, पंचतंत्र और हितोपदेश आदि में भिन्न-भिन्न रूपों में विकसित हुई।

उपनिषदों की कथाएँ :—उपनिषदों में हमें अनेक मनोरंजक शिक्षाप्रद आध्यात्मिक कथा-प्रसंग मिलते हैं। उपनिषदों के ऋषियों ने ब्रह्म की जिज्ञासा और परम सत्य के ज्ञान को प्रस्तुत करने के लिए ही उदाहरण-स्वरूप इन कथाओं का वर्णन किया है। इन कथाओं में आत्मिक ज्ञान से सम्बन्धित आध्यात्मिक विषय ही प्रतिपादित किये गए हैं। उपनिषदों की कथाओं में

नाचिकेता की कथा (कठोपनिषद), सत्यकाम की गो सेवा, रैक्वा गाड़ी वाला और राजा जानश्रुति की कथा तथा श्वेतकेतु और उद्दालक की कथा आदि (छान्दोग्य उपनिषद्), देवताओं की शक्ति-परीक्षा की कथा (केनोपनिषद), याज्ञवलक्य-गार्गी-संवाद (बृहदारण्यक), अश्विनीकुमार और उनके गुरु दध्यंग की कथा (तैत्तिरीय उपनिषद) आदि प्रसिद्ध हैं। छान्दोग्य उपनिषद में तो सुन्दर कथाओं का भण्डार है। पाठकों की जानकारी के लिए छान्दोग्य उपनिषद्: ४, खण्ड ३ का एक प्रसंग हमने आगे दिया है। ब्रह्मवाद, सर्वात्मवाद की शिक्षा देने वाली ये सुन्दर संक्षिप्त कथाएँ हैं।

वेदों, ब्राह्मण ग्रंथों और उपनिषदों के कथा-तत्वों के आधार और अनुकरण पर आगे अनेक प्रकार के आख्यानक काव्य और पौराणिक कथाओं की सृष्टि हुई। रामायण और महाभारत में विभिन्न अन्तर्कथाएँ पाई जाती हैं। महाभारतकार ने तो इतिहास, धर्म और कल्पना के योग से बहुत ही सुन्दर कथाओं की रचना की है। परवर्ती संस्कृत साहित्य में इन्हीं पौराणिक कथाओं के आधार पर कथात्मक काव्य, नाटक, चम्पू और आख्यायिकाओं की सृष्टि हुई। महाभारत में 'शकुन्तलोपाख्यान', 'मत्स्योपाख्यान', 'रामोपाख्यान', 'शिविउपाख्यान', 'सावित्रि उपाख्यान', 'नलोपाख्यान' आदि सभी प्राचीन प्रसिद्ध आख्यान पाए जाते हैं। इन पौराणिक कथाओं के आधार पर तथा जन-परम्परागत अनेक **दंत कथाओं** का प्रचलन हो गया होगा। इस प्रकार पशु-पक्षी, देव-दानव, नर-नारी, नदी-पहाड़, पेड़-पौधे, ताल-तालाब आदि समस्त जड़-जंगम पात्रों के रूप में इन प्राचीन कथाओं में आए हैं।

दंत-कथाओं की शैली का समुचित विकास बौद्ध जातक कथाओं में मिलता है, जो बौद्ध-धर्म के प्रचारार्थ लिखी गई थीं। इनमें कथा-शिल्प का अच्छा विकास दिखाई देता है। एक कथा के बीच में दूसरी कथा के जन्म की जो शैली आगे चलकर संस्कृत के 'कथासरित्सागर' और 'पंचतंत्र' जैसे प्रसिद्ध कथा-संग्रहों में विकसित हुई, उसका आरंभ संभवत: इन्हीं जातक कथाओं से हुआ। इन कथाओं में धार्मिक और अलौकिक तत्व के अतिरिक्त व्यापक

मानवतत्व भी पाया जाता है। राजा, महाराजा, सेठ-साहूकार, सज्जन-साधु-पुरुषों से लेकर दीन-दरिद्र, चोर, चांडाल, दुर्जन आदि मानव पात्र तथा पशु-पक्षी, नदी-पहाड़, पेड़-पौधे आदि सब चर-अचर सजीव पात्रों के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। जातक कथाओं में कथा-वर्णन-क्रम वर्तमान कथा, अतीत कथा, गाथा की व्याख्या और समोधान-इन ४ शृंखलाओं में है। प्रायः समस्त जातक कथाओं में अतीत कथा का आरंभ—"पूर्वकाल में अमुक स्थान में अमुक राजा राज्य करता था"—इस प्रकार के वाक्यों से होता है। किस्से-कहानियों, उर्दू-फारसी के "एक दफ़ा का ज़िक्र है" से शुरू होने वाले अफसानों तथा प्राचीन अंग्रेज़ी की—'Once upon a time'—से आरंभ होने वाली कहानियों से इन कहानियों के आरंभ का विचित्र कलात्मक सादृश्य है !

परवर्ती संस्कृत कथा-साहित्य :—परवर्ती संस्कृत कथा-साहित्य में सर्वप्राचीन कथा-ग्रंथ 'वृहत्कथा' (छटीशताब्दी ई०) माना जाता है। इसकी रचना गुणाढ्य (ई० की पहली शती) की पैशाची भाषा में लिखी गई 'वृहत्कथा' के आधार पर हुई थी, ऐसा विद्वानों का मत है। किन्तु यह रचना सर्वथा अप्राप्य है। क्षेमेन्द्र ने अपनी 'वृहत्कथामंजरी', सोमदेव भट्ट ने 'कथा सरित्सागर' तथा बुद्ध स्वामी ने अपनी 'वृहत्कथाश्लोक', इसी रचना के आधार पर लिखीं। इनके अतिरिक्त 'वैताल पंचविंशतिका', 'शुकसप्तति', 'सिंहासन द्वात्रिंशिका', 'पंचतंत्र' और 'हितोपदेश' संस्कृत के प्रसिद्ध कथा-ग्रंथ हैं। बाणभट्ट की 'कादम्बरी', सुबंधु की 'वासवदत्ता' और दण्डी का 'दशकुमारचरित' आदि कथात्मक प्रबंध गद्य-काव्य-ग्रंथ हैं। इन संस्कृत कथा-संग्रहों में 'पंचतंत्र' और 'हितोपदेश' विशेष रूप से नीति-प्रधान हैं। इनके पात्र भी अधिकांशतः पशु-पक्षी हैं, और इनका उद्देश्य धर्म, नीति तथा राजनीति का उपदेश देना है, जबकि 'कथासरित्सागर', 'सिंहासन द्वात्रिंशिका', 'वैताल पंचविंशतिका' आदि का उद्देश्य प्रधान रूप से मनोरंजन है। 'वैताल पंचविंशतिका' पच्चीस कथाओं का संग्रह है और सिंहासन 'द्वात्रिंशिका' में विक्रमादित्य के सिंहासन में लगी बत्तीस पुत्तलियों द्वारा कही हुई ३२ कहानियां हैं। 'शुकसप्तति' में

एक तोते ने अपनी स्त्री मैना को त्रियाचरित्र से सम्बंधित ७० कथाएं सुनाई हैं। इन कथाओं का आधार यह है कि एक वणिक व्यापार के लिए परदेस जाता है और घर की रक्षा का भार अपने तोते पर छोड़ जाता है। तोते ने देखा कि वणिक की पत्नी अपने पतिव्रत-धर्म से विचलित होना चाहती है। अतः उसने उसे सत्पथ पर लाने के लिए अपनी मैना के माध्यम से सत्तर-रातों में ७० कथाएँ सुनाईं। सत्तरवीं रात वणिक घर आ जाता है।

संस्कृत के इन कथा-संग्रहों का बहुत महत्व है। भारतीय दंत-कथाओं और लोक-कथाओं का इन्हीं के आधार पर अनेक रूपों में विकास आगे चलकर हुआ। 'कथा-सागर, 'वैतालपच्चीसी', 'सिंहासन बत्तीसी' तथा 'किस्सा तोता-मैना' के रूप में ये हिन्दी-उर्दू के आरंभिक कथा-साहित्य में रूपांतरित हुईं। पाठकों की जानकारी के लिए 'कथासरित्सागर' की एक कथा का नमूना हमने आगे दिया है।

पंचतंत्र और हितोपदेश की नीति-प्रधान कथाएं :—पंचतंत्र और हितोपदेश की कथाएँ नीति-प्रधान हैं। ये सब उपदेशात्मक शैली में लिखी गई हैं। इनके कथा-पात्र अधिकांश पशु-पक्षी हैं। पशु-पक्षियों के माध्यम से मानव-जीवन के विभिन्न नैतिक पक्षों पर इन कथाओं में अद्भुत प्रकाश पड़ा है। इनकी शिल्प-विधि कथा-सरित्सागर जैसी ही है। इन में भी मूल कथा में विभिन्न छोटी-छोटी कथाएँ जुड़ती चलती हैं, और इस प्रकार एक कथा से दूसरी कथा का जन्म और विकास होता है। 'पंचतंत्र' के मित्र-भेद, मित्र-संप्राप्ति, काकोलूकीय आदि पाँच तंत्र हैं, और इन्हीं के आधार पर 'हितोपदेश' में मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह और संधि—ये चार प्रकरण पाये जाते हैं। ये सभी प्रकरण अपना-अपना लक्ष्य रखते हैं, जिस के प्रकाश में इन की समस्त शिक्षात्मक कथाएँ आती हैं। जैसे 'मित्रलाभ' में मूल उद्देश्य यह बताना है कि सच्चे मित्रों से बहुत लाभ होता है। इसी के प्रकाश में बीच-बीच में अनेक नैतिक शिक्षात्मक कथाएँ आती हैं—जैसे बाघ और लालची पथिक की कथा, सियार और मृग की कथा, हाथी और सियार की कथा आदि। इन कथाओं की शैली और स्वरूप जानने के लिए हमने मित्र-भेद या सुहृद्भेद प्रकरण से कुछ कथांश आगे संग्रह-भाग में दिये हैं।

मध्ययुगीन भारतीय कथा-साहित्य : संस्कृत की धार्मिक, दार्शनिक, उपदेश-नीति-प्रधान कथा-शैली के पश्चात् भारतीय कथा-शैली ने और रूप बदला। प्राकृत और अपभ्रंश में गद्य-कथा साहित्य का अभाव रहा। पद्य रूप में ही प्रबंध कथा-काव्य-शैली प्रचलित हुई। मध्यकालीन हिन्दी आख्यान काव्य पर अपभ्रंश की प्रबन्ध कथा-काव्य शैली का विशेष प्रभाव पड़ा। चारण-साहित्य में पद्यात्मक प्रबन्ध और गीत-कथा-शैली प्रचलित हुई। डिंगल में गद्य कथाएँ वार्ता के नाम से प्रचलित हुई। इन सब में लौकिक आधार अधिक होता गया। प्राय: किसी राजा का किसी रानी के साथ प्रेम ही इन कथाओं की मूल संवेदना है। दो प्रकार की कथाएँ प्रचलित हुईं—एक तो केवल प्रेम-कथाएँ, दूसरी प्रेम और वीरता दोनों से सम्बन्धित। हमारे प्राचीन संस्कृत साहित्य में भी प्रेम-कथाओं की कमी नहीं थी, किन्तु उनमें प्रेम का अतिशय पवित्र और आध्यात्मिक रूप प्रकट होता था। नल-दम्यन्ती, ऊषा-अनिरुद्ध, सती आदि की कथाएँ ऐसी ही प्रेम-कथाएँ हैं। किन्तु हमारी ये राजपूत काल की प्रेम-कथाएँ सामंतीय वातावरण की देन हैं। इनमें लोक-कथा-शैली, अंग्रेजी की Fairy Tales तथा फारसी की लैला-मजनूँ, शीरी-फरहाद आदि की प्रेम-कथा-शैली का विचित्र मिश्रण है। फारसी-साहित्य तथा सामंतीय वातावरण के कारण इनमें विलासपूर्ण प्रेम का समावेश हुआ और Fairy Tales के ढंग पर राजपूती वीर और दर्प की भावना आई।

लोक कथाएँ—लोक-कथाओं की दृष्टि से इस माध्यमिक काल का विशेष महत्त्व है। गद्य और पद्य दोनों ही रूपों में अनेकानेक लोक-कथाएँ प्रचलित हुई। 'ढोलामारूरा दूहा', 'माधवानल काम कंदला', 'हीर राँझा', त्रिया-विनोद, पंच सहैली रादूहा आदि प्रसिद्ध पद्यात्मक लोक-कथाएं हैं। गद्यात्मक कथाएं हैं—'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पचीसी,' 'बगलेहंसिणी की कथा' और 'फुटकर वातां रौ संग्रह'। इन लोक कथाओं के अध्ययन से पता चलता है कि इनमें पूर्ववर्ती साहित्यिक कथा-शैलियों का अद्‌भुत मिश्रण हुआ है। लौकिक-अलौकिक, प्रकृत-अतिप्राकृत-अप्रकृत, प्रेम-साहस-नीति, इतिहास-कल्पना आदि सभी तत्त्व इनमें मिलते हैं। यही लोक-गाथा काल भारतीय जनपदीय साहित्य का विकास काल कहा जा सकता है।

प्राचीन कहानी और आधुनिक कहानी

उपर्युक्त प्राचीन कथा-साहित्य के उल्लेख से प्राचीन कहानी का कुछ स्वरूप-बोध हुआ होगा। आधुनिक कहानी विषय-भाव, उद्देश्य और शैली आदि सभी बातों में प्राचीन कहानी से भिन्नता रखती है। दोनों के अन्तर को हम यहाँ प्रकट करते हैं—

१. प्राचीन कहानी में उपदेश, शिक्षा या नीति का आग्रह रहता था। आधुनिक कहानी में इस प्रकार का कोई आग्रह नहीं रहता, वह शुद्ध साहित्यिक मनोरंजन का उद्देश्य अपनाती है। नीति और आदर्श की बातें उसमें भी रहती हैं, किन्तु वे कला का अंग बनकर ध्वनित होती हैं।

२. प्राचीन कहानी में अलौकिक तथा अतिप्राकृत प्रसंगों की प्रचुरता रहती थी। वहाँ सब कुछ संभव था। पशु-पक्षी बोलते थे, मानव की ही तरह कार्य-कलाप करते थे, उपदेश देते थे। दैवी शाप और वरदान चलते थे, मुर्दे जी उठते थे। देखते-देखते कुछ से कुछ हो जाता था। घटना-वैचित्र्य खूब रहता था। 'क्यों हुआ' और 'कैसे हुआ' का प्रश्न ही नहीं उठता था। इस प्रकार जीवन की स्वाभाविकता का बहुत कुछ अभाव रहता था। इसके विपरीत, आधुनिक कहानी स्वाभाविकता पर आधारित रहती है। जीवन और जगत की यथार्थता से ही बंध कर चलती है। आज का बुद्धिवादी पाठक असंभव घटनाओं में अंध-विश्वास करके आनन्द नहीं ले सकता। जन्म-जन्मान्तर की बातों तक को वह संदेह की दृष्टि से देखता है।

३. प्राचीन कथाएँ सब घटना-प्रधान होती थीं। उनमें विचित्र लौकिक-अलौकिक घटनाओं, संयोगों द्वारा कौतूहल उत्पन्न किया जाता था। आजकल घटना-प्रधान कथाएँ कम लिखी जाती हैं। आजका कथाकार घटना-प्रधान कथा में भी संभाव्य आकस्मिक घटनाओं और संयोगों द्वारा ही उत्सुकता उत्पन्न करता है।

४. प्राचीन कहानियों में जीवन के आन्तरिक रहस्यों का उद्घाटन नहीं होता था। उनमें केवल बाह्य क्रिया-व्यापार ही प्रकट होते थे। अतः चरित्र-

चित्रण का अभाव ही रहता था। केवल आधुनिक कहानी में मनोविज्ञान की विशेषता रहती है। चरित्र-चित्रण खुलकर होता है।

५. बाह्य-पक्ष की अधिकता के कारण प्राचीन कहानी में केवल वर्णनात्मक शैली ही रहती थी, आधुनिक कहानी विश्लेषणात्मक, व्यंग्यात्मक, भावात्मक आदि अनेक शैलियों को अपनाती हैं। शैली-गत प्रयोगों की विविधता आधुनिक कहानी की बड़ी विशेषता है।

६. प्राचीन कहानियों के विषय और उपादान कुछ बंधे हुए सीमित ही थे, किन्तु आधुनिक कहानियों में जीवन अपने नाना रूपों में चित्रित होता है। जीवन का सजीव और नाना-विध यथार्थ चित्रण आधुनिक कहानी की सर्वप्रमुख विशेषता है। अत: आधुनिक कहानी के विषय और उपादान अधिकाधिक विस्तृत हो गए हैं।

७. आधुनिक श्रेष्ठ कथा की एक ही संवेदना होती है, और वह तीव्र गति से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती है। चरम सीमा पर पहुंच कर उसका अंत हो जाता है। इसके विपरीत, प्राचीन कथाओं में संवेदना की एकता कम थी और उनकी गति भी मंथर रहती थी।

८. संगठन की दृष्टि से भी आधुनिक कथा विशेष महत्त्व रखती है। प्राचीन कथा में कार्य-कारण शृंखला का वैसा निर्वाह नहीं होता था, जैसा आधुनिक कहानी में।

९. प्राचीन कथाओं का आरंभ और अंत वैचित्र्य-हीन होता था। प्राय: 'एक राजा था'...इस प्रकार के सीधे वाक्यों से कहानी आरंभ होती थी, किन्तु आधुनिक कहानी में इस दृष्टि से अनेक कलात्मक प्रयोग पाये जाते हैं। आरंभ और अन्त अत्यन्त आकर्षक प्रभावपूर्ण होते हैं।

१०. वार्तालाप की सजीवता और स्वाभाविकता भी आधुनिक कहानी में प्राचीन से अधिक है।

११. आधुनिक कहानी में, प्राचीन कहानी के विपरीत, राजा-रानी की अपेक्षा जनसाधारण का जीवन रहता है।

१२. प्राचीन कहानी में लेखक का व्यक्तित्व कहीं दिखाई नहीं देता था, व्यक्तित्व का प्रतिष्ठापन आधुनिक कहानी की सबसे बड़ी विशेषता है।

इस प्रकार कथा की स्वाभाविकता, चरित्र-चित्रण, जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति, साहित्यिकता, वार्तालाप की सजीवता आदि सभी दृष्टि से आधुनिक कहानी में युगान्तरकारी परिवर्तन हुए हैं, वह जीवन के बहुत ही निकट आ गई है।

आधुनिक कहानी—परिभाषा और कला-शिल्प

परिभाषा : आधुनिक छोटी कहानी एक स्वतंत्र कला-रूप में विकसित हो चुकी है। अपने नाना रूपों में निरन्तर विकासशील रहने के कारण कुछ शब्दों में इसके स्वरूप को परिभाषा-बद्ध करना अत्यन्त कठिन है। अनेक विद्वानों ने कहानी के स्वरूप पर विचार किया है। एडगर एलिनपो ने कहा है कि "कहानी एक ऐसा **छोटा आख्यान** है जो एक ही बैठक में पढ़ा जा सके और पाठक पर **एक ही प्रभाव** डालने की दृष्टि से लिखा गया हो।...प्रभाव को शिथिल करने वाली सब बातों को उसमें त्याग दिया जाता है। वह **अपने में पूर्ण** होता है।"

सर वाल्पोल (Sir Walpole) का इस सम्बन्ध में कथन है—"कहानी घटित होने वाली सामग्री के रूप में कहानी होनी चाहिए। वह **घटना और आकस्मिकता** से पूर्ण होनी चाहिये। तीव्र गति के साथ उसमें **अप्रत्याशित विकास** हो जो कौतूहल द्वारा **चरम सीमा और संतोषजनक अंत** तक ले जाए।" अँग्रेज़ी के प्रसिद्ध कहानीकार श्री एच० जी० वेल्स ने कहा—"कहानी वह लघु कथा है जो एक घंटे में पढ़ी जा सके।" मुन्शी प्रेमचन्द ने कहानी की रूपरेखा इन शब्दों में प्रकट की है—"गल्प (कहानी) ऐसी रचना है जिसमें **जीवन के किसी एक अंग या किसी एक मनोभाव** को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहता है। उसके चरित्र, उसकी शैली, उसका कथा-विन्यास सब उसी एक भाव को पुष्ट करते हैं।...उपन्यास की भांति उसमें मानव जीवन का सम्पूर्ण तथा वृहद् रूप दिखाने का प्रयास नहीं किया जाता है, न उसमें उपन्यासों की भांति सभी रसों का सम्मिश्रण होता है। वह ऐसा रमणीय उद्यान नहीं जिसमें भांति-भांति

के फूल-बेल-बूटे सजे हुए हों, बल्कि एक गमला है जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है।" श्रेष्ठ कहानी का गुण बताते हुए मुंशी जी ने यह भी कहा है कि "श्रेष्ठ कहानी वह है जिसका आधार मनोविज्ञान हो।" बाबू श्याम सुन्दर दास ने कहानी को 'एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को लेकर नाटकीय आख्यान' बताया है।

उपर्युक्त सभी विद्वानों की परिभाषाओं में अव्याप्ति का दोष है। किसी ने कहानी के किसी एक पक्ष पर प्रकाश डाला है, किसी ने अन्य अंग पर ज़ोर दिया है। इन सब के कथन से कहानी की ये विशेषताएँ प्रकाश में आई हैं—१. वह एक छोटे आकार का आख्यान है। २. उसमें जीवन के किसी एक ही पक्ष की मार्मिक झांकी रहती है। ३. वह झांकी अपने में पूर्ण होनी चाहिए। ४. छोटी होते हुए भी वह किसी एक बड़े तथ्य का उद्घाटन करने वाली हो। ५. उसमें एक ही संवेदना या प्रभाव रहता है। ६. वह क्षिप्रगति से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती है। ७. उसमें आकस्मिकता या किसी अन्य कारण से उत्सुकता और कौतूहल रहना चाहिए। ८. उसका अन्त संतोष-जनक होना चाहिए।

अतः हम कह सकते हैं कि वर्तमान छोटी कहानी एक ऐसा छोटा सा स्वतः पूर्ण गद्यात्मक कथा-साहित्य-रूप है जिसमें एक प्रभाव, एक संवेदना से पूर्ण जीवन के किसी एक मार्मिक पहलू को आकस्मिकतापूर्ण क्षिप्रगति के साथ चरम सीमा पर प्रकाशित कर दिया जाये।

कहानी के तत्त्व और उपन्यास से भेद— जैसाकि कहा जा चुका है, आधुनिक कहानी का शिल्प अपने स्वतंत्र रूप में विकसित हुआ है। आरंभ में कुछ समय तक छोटी कहानी और उपन्यास में केवल आकार का ही भेद माना गया। यही कारण है कि स्काट और डिकेंस आदि की कुछ लघु औपन्यासिक रचनाओं को कहानी की कोटि में ही गिना गया। पर कालान्तर में आकार ही कसौटी न रही। कहानी की स्वतंत्र कला का बोध हुआ। रचना-तत्त्वों की दृष्टि से दोनों का अन्तर मान्य हुआ। वास्तव में दोनों ही पाठ्य या श्रव्य गद्यात्मक कथा-साहित्य के रूप हैं। दोनों में ही कथा के रूप में जीवन

की मार्मिक अभिव्यक्ति होती है। पर इतना होते हुए भी दोनों के शिल्प-विधान में मूलतः भेद है। किसी कटे-छटे उपन्यास को कहानी कहना उतना ही हास्यास्पद है जितना किसी बड़ी कहानी को छोटा उपन्यास या उपन्यास का कोई अनुच्छेद कहना। दोनों की रचना-प्रक्रिया और गठन में अन्तर है। यह आवश्यक नहीं कि एक सफल उपन्यासकार सफल कहानीकार भी हो। एक के शिल्प-विधान में पारंगत होना दूसरे में भी कुशलता का प्रमाण नहीं माना जा सकता। यद्यपि उपन्यास और कहानी दोनों के—कथा वस्तु: चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देशकाल-वातावरण, भाषा-शैली, उद्देश्य और भाव-रस—ये समान तत्त्व गिनाये जाते हैं, पर इन तत्त्वों की अनिवार्यता तथा प्रयोग की दृष्टि से दोनों में भारी अन्तर है। नीचे हम कहानी के तत्त्वों पर विशद् प्रकाश डालते हुए, साथ ही दोनों का अन्तर भी स्पष्ट करेंगे।

कथावस्तु : कथावस्तु के ढांचे पर ही कहानी निर्मित होती है। कहानी की कथावस्तु अत्यन्त संक्षिप्त, रहती है। उपन्यासकार जीवन के नाना पक्षों से सम्बंधित व्यापक कथा-सामग्री का चयन करता है, किन्तु कहानीकार किसी एक ही मार्मिक पहलू की झांकी देता है। उपन्यासकार की तरह वह अपनी कथा को न जटिल रूप दे सकता है, न प्रासंगिक कथाओं में घुमा सकता है। कहानीकार सीधा अपने एक ही कथा-तत्व को लक्ष्य की ओर बढ़ाता है। उपन्यासकार भिन्न-भिन्न प्रासंगिक कथाओं में से घुमाता हुआ अपनी मुख्य कथा को मंथर गति से अंत की ओर ले जाता है। मार्मिक पहलू की कल्पना या चयन के पश्चात् कहानीकार को चाहिए कि वह अपनी कथा-सामग्री को कौतूहलवर्द्धक तारतम्य के साथ सम्बद्ध रूप में प्रस्तुत करे। उसकी नियोजना में उत्सुकता का होना आवश्यक है। कथा यथार्थ, स्वाभाविक और संभाव्य होनी चाहिए। जहां उपन्यास में कथा-विकास के पांच सोपान—आरंभ, विकास, चरमसीमा, निगति और अंत—होते हैं, वहां कहानी में केवल पहले तीन सोपान ही रहते हैं। संसार की श्रेष्ठतम कहानियां आरंभ के साथ ही किसी संघर्ष या द्वन्द्व के रूप में विकसित होती हैं और

बहुत शीघ्र तीव्रगति से अपनी चरम या तीव्रतम स्थिति (climax) पर पहुंचकर बिजली की कौंध की तरह अपना तीव्रतम प्रकाश प्रकट करती हुई समाप्त हो जाती हैं। श्रेष्ठ कहानी का प्रत्येक अंग, प्रत्येक पंक्ति चुस्ती और सजगतापूर्वक लक्ष्य की ओर इंगित करती है। तीव्र झोंके की भांति कहानी प्रारंभ होकर अपने रहस्य और तीव्रता के वेग में संवेदना को घनीभूत करती हुई बढ़ चलती है। संघर्ष या घनीभूत संवेदना का वातावरण तनता जाता है मानो कोई बवण्डर अब आया और अब आया। अंत में सब कुछ खिंचकर, तनकर चरम पर आ टिकता है। आंधी का वेग सहसा स्तंभित हो रुक जाता है। एक बिजली की कौंध और कहानी समाप्त! यही कौंध पाठक के मनपर अमिट प्रभाव छोड़ जाती है। उत्सुकता, आशा और आशंका के हिंडोले में झूलते हुए पाठक के सामने जब सारा संघर्ष, सारी संवेदना अन्तिम मोड़ या चरम सीमा पर, तीव्रता के साथ, फल के रूप में बरस पड़ती है तो वहीं पाठक काव्यानन्द से उछल पड़ता है। कहानी इस चरम सीमा पर ही समाप्त हो जानी चाहिए अन्यथा चरमसीमा का समस्त सौन्दर्य फीका पड़ जाता है। कौशिक जी की कहानी 'मनुष्यता का दण्ड' यद्यपि चरम सीमा पर ही समाप्त हो गई है, किन्तु बाद की चार पंक्तियां भी, जिनमें पाल फ्रेड्रिक के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करता है, खलने-सी लगती हैं। उपन्यास की तरह कहानी में निगति (उतार) के लिए स्थान भी नहीं होता। आगे हमने कहानियों का विश्लेषण करके कहानी के कथा-शिल्प को समझाया है।

यद्यपि कथावस्तु कहानी का आवश्यक तत्त्व है, किन्तु उपन्यास की भांति इसमें कथासूत्र का विकास अनिवार्य नहीं। बहुत-सी आधुनिक चरित्र और प्रभाव-प्रधान कहानियों में कथावस्तु कुछ होती ही नहीं—जैसे, प्रेमचन्द की 'पूस की रात', अज्ञेय की 'रोज़' आदि कहानियां। इसप्रकार स्वरूप की दृष्टि से कथा वस्तु के तीन प्रकार होते हैं, १. घटना-प्रधान कथा, २. चरित्र-प्रधान कथावस्तु, जिसमें घटना और संयोग के स्थान पर कथा पात्रों के चरित्र की रेखाओं में विकास पाती है। ३. भाव-प्रधान कथा-वस्तु, जिसमें

कथा-सूत्र और भी सूक्ष्म और अमूर्त होता है, जैसे अज्ञेय की 'कोठरी की बात, रायकृष्णदास की 'कला और कृत्रिता'।

चरित्र-चित्रण : कहानी में पात्रों की संख्या बहुत कम होती है। प्राप्र: एक मुख्य पात्र और एक दो अन्य गौण पात्र होते हैं। उपन्यास की तरह उसमें दर्जनों पात्र नहीं समा सकते। चरित्र-विकास भी कहानीकार उपन्यासकार की तरह पूरे विस्तार से नहीं दिखा सकता। कहानीकार की परिधि बहुत सीमित होती है। अत: अपने पात्रों को सजीवता प्रदान करने के लिए उसे कला-लाघव को अपनाना चाहिए। एक तो उसे अपने पात्रों के ऐसे चारित्रिक अंश पर ही प्रकाश डालना चाहिए, जिससे उनके व्यक्तित्व सजीव हो उठें। कुछ उल्टी-सीधी संक्षिप्त रेखाओं से ही चरित्र सजीव कर देने की क्षमता उसकी संक्षिप्त कला में होनी चाहिए। कहानी में प्राय: अपरिवर्तनशील पात्र ही रहते हैं, क्योंकि चरित्र का विस्तार से विकास दिखाकर परिवर्तन प्रकट करने की गुँजाइश यहां नहीं होती। यदि कहीं परिवर्तन दिखाया जाता है, तो किसी एक ही संगत, स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक चोट के आधार पर होना चाहिए।

पात्र सजीव और स्वतंत्र व्यक्तित्व वाले होने चाहिएँ। लेखक के हाथ की कठपुतली नहीं बनने चाहियें। वे इसी धरती के यथार्थ मानव हों—हाड़-माँस के पुतले। देव-दानव, पशु-पक्षी, जड़जंगम का युग बीत गया है। आज का युग मानव का है। चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिक संगीत बहुत आवश्यक है। चरित्र-प्रधान कहानियों में तो पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व और सूक्ष्म आन्तरिक रहस्यों का उद्घाटन ही लेखक का उद्देश्य रहता है। पात्र वर्गगत भी होते हैं, और व्यक्तिगत भी। वर्गगत पात्रों में वर्ग-भावनाओं की सजीवता होनी चाहिए। व्यक्तिगत पात्र ऐसे न हों कि सनकी-से विचित्र दिखाई दें। उनका भी साधारणीकरण हो सकना आवश्यक है। चरित्र-चित्रण प्रत्यक्ष रूप में भी होता है और परोक्ष नाटकीय रूप में भी। प्रत्यक्ष रूप में लेखक अपनी लेखनी द्वारा एक तो पात्रों के रेखा-चित्र (बाह्य रूप-आकृति) प्रकट करता है, दूसरे, उनके चरित्र की विशेषताओं का स्वयं उल्लेख कर देता है। प्रत्यक्ष की अपेक्षा नाटकीय शैली में ही चरित्रोद्घाटन

करना अच्छा रहता है। प्रत्यक्ष-शैली में यदि लेखक संक्षिप्त रेखा-चित्र देने तक ही बस करे तो अच्छा है। नाटकीय शैली में चरित्र-प्रकाशन दो रूपों में होता है, एक संवादों द्वारा, दूसरे पात्रों के क्रिया-कलाप, भाव-भंगियों द्वारा। संवाद रूप में भी दो तरह से चरित्र प्रकट होता है, एक तो पात्र के अपने कथन द्वारा; दूसरे अन्य पात्रों के कथनों द्वारा।

यद्यपि आजकल कहानियों में क्या, उपन्यास, नाटक आदि सभी में चरित्र-चित्रण को महत्व मिल रहा है, तथापि चरित्र-चित्रण भी कहानी का उतना अनिवार्य तत्त्व नहीं है, जितना कि उपन्यास का। कुछ कहानियों में चरित्र-चित्रण अत्यन्त नगण्य रहता है। आधुनिक चरित्र-प्रधान कहानियों में चरित्र-विश्लेषण को महत्त्व मिल रहा है।

कथोपकथन :—कथोपकथन का भी कहानी में बड़ा महत्त्व है। कुछ कहानियाँ संवाद-प्रधान शैली में ही लिखी जाती हैं। किन्तु यह तत्व भी कहानी का सर्वथा अनिवार्य तत्त्व नहीं है। कुछ कहानियां ऐसी देखने में आती हैं जिनमें कथोपकथन का प्राय: अभाव रहता है। किन्तु केवल वर्णन रूप में प्रकट करने से कहानी में पात्र अव्यक्त रह जाते हैं और अकलात्मकता-सी उत्पन्न होने का डर रहता है। उपन्यास के बृहद् कलेवर में यह अभाव संभव नहीं। वहाँ इसकी कमी भी कथा को अस्वाभाविक और नीरस बना सकती है। कथा में सवाद की सार्थकता तीन बातों में होती है। १. वह कथा-विकास में सहायक हो। २. चरित्रों पर प्रकाश डाले और ३. रोचकता की वृद्धि करे। कथोपकथन से कहानी में एक अपूर्व सजीवता उत्पन्न हो जाती है। संवाद चुस्त, संक्षिप्त, सजीव, संगत, चटुल, व्यंजनापूर्ण, प्रभावपूर्ण तथा पात्र-परिस्थिति के अनुकूल होने चाहिए। कहानीकार को कला-लाघव का कुशल प्रयोग दिखाना चाहिए। कम से कम शब्दों के छोटे-से-छोटे संवादों में दीर्घ अर्थ-व्यंजना रहनी चाहिए। सभी संवाद सार्थक हों। उपन्यास में तो सैद्धान्तिक, तर्क-वितर्क से पूर्ण अथवा अप्रासंगिक संवाद फिर भी खप सकते हैं, किन्तु कहानी में बिल्कुल नहीं। उपन्यास के कथोपकथन की

अपेक्षा कहानी के कथोपकथन में अधिक संयम और नियन्त्रण की आवश्यकता है। कथोपकथन प्रायः दो शैलियों में प्रकट कराए जाते हैं। १. संकेत, स्थिति और भाव-चेष्टा से रहित केवल नाटकीय संवाद रूप में। इसके भी दो ढंग होते हैं। एक में लेखक साथ रहता है, दूसरे में वह नहीं रहता, पाठक स्वयं पात्रों को समझ लेता है। इनमें दूसरा ढंग अधिक सुन्दर है। उदाहरण के लिए निम्न संवाद देखिए—

सुखदा ने कहा—तो क्या अब किसी की दवा न होगी ?

इन्द्रमणि—बस इसकी एक ही दवा है और वह अलभ्य है।

सुखदा—तुम्हें तो बस वही धुन सवार है, क्या बुढ़िया आकर अमृत पिला देगी ?

(देखिए आगे महातीर्थ कहानी)

लेखक-निरपेक्ष दूसरा रूप देखिए—

"कौन ?"

"एक आपद्ग्रस्त मनुष्य ! कृपा करके जल्दी द्वार खोल दो !"

"पर तुम हो कौन ?"

"इस समय मैं केवल एक मनुष्य हूं और मनुष्यता के नाते प्रार्थना करता हूँ कि मुझे शरण दीजिए···।" (मनुष्यता का दण्ड)

दूसरे ढंग में पात्रों की रूप-चेष्टाएँ, मुद्राएँ और क्रियाएँ भी लेखक प्रकट करता हैं, जिससे और भी सजीवता आ जाती है। आजकल की श्रेष्ठ कहानियों में यही शैली अपनाई जाती है। यह पात्रों के चरित्र-चित्रण और कहानी की सवेदना को तीव्र करने में सहायक होती है। उदाहरण देखिए—

उसने बड़ी शिष्टता से कहा—देव, वे आचार्य हैं, मैं उनकी चरण-धूलि के समान भी नहीं। उनकी और मेरी कृति की तुलना न्याय नहीं है—मल्लयुद्ध में बराबर के जोड़ छोड़े जाते हैं।

'परन्तु यह तो प्रतिभा की तुलना है जो अपने विकास से छोटे को भी बड़े के बराबर बैठा देती है।' **महाराज ने गंभीर होकर कहा, और महा-स्थपति को देखने लगे।**

'किन्तु'—नीहार **दृढ़ता से बोला**—'इस प्रसंग में तो एक और सूक्ष्म विचार है,... ।"

'वह क्या ?' **महाराज ने उत्सुकता से पूछा** । (कला और कृत्रिमता)

देशकाल-वातावरण : देशकाल-वातावरण की भी कहानी में उपन्यास के विपरीत अधिक गुंजाइश नहीं होती । फिर भी अपनी संक्षिप्त परिधि में ही देशकाल की स्पष्टता और कार्य से परिस्थिति की अनुकूलता व्यंजित करने के लिए यह तत्त्व आवश्यक है । वातावरण-प्रधान तथा ऐतिहासिक कहानियों में तो इसकी ही विशेषता रहती है । कहानीकार अन्तर्बाह्य प्रकृति को दो चार रेखाओं से ही सजीव बनाने का प्रयत्न करता है । नाटक में रंगमंच, सजावट, विशेष पर्दे, दृश्य और अभिनेताओं की वेशभूषा देशकाल-परिस्थिति की जो सजीवता उत्पन्न करते हैं, वही कहानीकार की संक्षिप्त रेखाओं द्वारा उत्पन्न होनी चाहिए ।

उद्देश्य : किसी-न-किसी मूल संवेदना को प्रकट करने के उद्देश्य से ही कहानी की रचना की जाती है । निरुद्देश्य रचना कोई नहीं करता । आवश्यकता मुख्य रूप से दो बातों की है । एक तो उद्देश्य महान् होना चाहिए, जीवन के किसी महत्त्वपूर्ण तथ्य पर मार्मिक प्रकाश पड़ना चाहिए, दूसरे, उद्देश्य सदैव व्यंजित होना चाहिए । ऐसा न हो कि लेखक अपने उद्देश्य की नोंक-झोंक में साहित्यकार या कलाकार की बजाय नीतिकार या उपदेशक बन बैठे । समाज, जीवन और जगत की नाना परिस्थितियों और समस्याओं के प्रति लेखक की प्रतिक्रिया ही उसकी कहानी का उद्देश्य बनती है । कहानीकार के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठापना के रूप में यह उद्देश्य प्रतिफलित होता है ।

भाषा-शैली : अभिव्यक्ति की कुशलता पर ही लेखक की सफलता निर्भर रहती है । जब तक लेखक के पास भाषा और शैली की शक्ति नहीं होगी, उसकी अच्छी सामग्री भी अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकती । कला की प्रभावपूर्ण प्रेषणीयता भाषा-शैली पर ही निर्भर है । लेखक की भाषा सरल, स्पष्ट, प्रवाहपूर्ण, चुस्त और प्रभावपूर्ण होनी चाहिए । उसमें

भाषा-शक्ति के प्रसाधन, जैसे मुहावरे, लोकोक्तियां, लाक्षणिक प्रयोग, स्वाभाविक अलंकार-योजना, चित्रात्मकता, व्यंग्य-व्यंजनात्मकता आदि भी भाव और वस्तु के उत्कर्ष-हेतु स्वाभाविक रूप से आने चाहिएं। लेखक की भाषा-शैली में भावानुरूपता का गुण भी बहुत आवश्यक है। विषय और अवसर के अनुसार उसकी लेखनी वर्णनात्मक (Descriptive), विवरणात्मक (Narrative), विश्लेषणात्मक, भावात्मक, व्यंग्यात्मक,, वक्तृतात्मक, संभाषणात्मक आदि सभी शैलियों के प्रयोग में समर्थ होनी चाहिए। शैली में लेखक की व्यक्तिगत विशिष्टता अवश्य आनी चाहिए। प्रेमचन्द और प्रसाद अपनी-अपनी विशिष्ट शैलियों के निर्माता हैं। कहानीकार हो या उपन्यासकार दोनों में भाषा-शैली की शक्ति होनी आवश्यक है। किन्तु कहानी का टेकनीक कला-लाघव की मांग करता है। कहानीकार की शब्द-योजना अधिक सांकेतिक और व्यंजनापूर्ण होनी चाहिए। थोड़े में बहुत अर्थ देने का गुण होना चाहिए। उसका प्रत्येक शब्द सार्थक, अपने स्थान पर नपा-तुला होना चाहिए। कहानी के इस कला-संकोच या कला-लाघव को एक पाश्चात्य विद्वान पोकाँक के शब्दों में समझिए—'Every single part of the story must be relevant and to the point. There must be no padding out, no word spinning. Every epithet, every phrase, every sentence should bear in some way upon the plot, character or atmosphere, so that when we come to the end we feel sure that we could not have skipped a line without missing something essential.' अर्थात् कहानी का प्रत्येक भाग प्रसंग और विषय-अनुरूप होना चाहिए। न क्लिष्टता हो, न कोई शब्द-आडम्बर। प्रत्येक शब्द, प्रत्येक वाक्य का अनिवार्य सम्बन्ध कथा-वस्तु, चरित्र अथवा वातावरण से होना चाहिए। यहां तक कि जब हम कथा समाप्त करें, तो अनुभव हो कि बीच में एक पंक्ति का छोड़ जाना भी कथा को अधूरा कर देता।'

विषय और कथा-रूप के अनुसार कहानियों में भिन्न-भिन्न गद्य-शैलियों की प्रधानता होती है। घटना-प्रधान या कथा-प्रधान कहानियों में वर्णनात्मक या संलाप शैली की, चरित्र-प्रधान मनोवैज्ञानिक कहानियों में विश्लेषणात्मक शैली की, हास्य-व्यंग्य-प्रधान कहानियों में हास्य-व्यंग्य शैली की, भाव-प्रधान कहानियों में भाव-प्रधान शैली की प्रधानता रहती है। वर्णन-प्रयोग की दृष्टि से मुख्य चार शैलियों में कहानियां लिखी जाती हैं, १. ऐतिहासिक शैली अर्थात् अन्यपुरुष में, २. आत्मचरितात्मक शैली अर्थात् उत्तम पुरुष में, ३. पत्र-शैली और इसी से मिलती-जुलती ४. डायरी शैली। उपन्यास में भी यही शैलियां अपनाई जाती हैं।

कहानी का आरम्भ और अन्त : जैसा कि कहा जा चुका है कि कहानी के दो प्रमुख भाग उसका आरम्भ और अन्त होते हैं। आरम्भ से अन्त की ओर उसकी गति सीधी और तीव्र होती है। वह आरम्भ से अन्त की ओर पूरी शक्ति से जाने के लिए आतुर रहती है। एक पाश्चात्य विद्वान् Ellery Sedgewich का कथन है कि 'A story is like a horse race. It is the start and finish that count most.' अर्थात् कहानी एक घुड़दौड़ के समान है जिसका आरम्भ और अन्त बहुत महत्त्व रखता है। आरम्भ ऐसा होना चाहिए जो पाठक को एकदम आकर्षित कर ले। अन्त भी चमत्कारपूर्ण, संतोषजनक और अमिट प्रभाव डालने वाला होना चाहिए। आरम्भ से कहानी की तीव्रगति अपने लक्ष्य की ओर हो। इसी लिए कहानी को सौ गज़ की दौड़ के समान कहा जा सकता है, जिसमें प्रारम्भ से अन्त तक का प्रत्येक कदम पूरी शक्ति से लक्ष्य की ओर ही भागता है। यदि दौड़ लगाने वाले ने ठीक प्रारम्भ न किया अथवा वह एक क्षण के लिए भी इधर-उधर देखने लगा या रुक गया, तो असफलता निश्चित है। यही बात कहानी के सम्बन्ध में कही जा सकती है। कहानी की प्रत्येक वस्तु निरन्तर चरमसीमा की ओर बढ़ती है। चरमसीमा ही श्रेष्ठ कहानी का अन्त है।

कहानी आरम्भ करने की अनेक शैलियां हैं। इस सम्बन्ध में लेखक अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अनेक प्रयोग करते है। कोई सीधे संवाद से आरम्भ करता है, कोई उसका ज़रा सा हेतु देकर, जैसे—कुछ दिन चढ़े, मैं

स्कूल से आकर, आँगन में पलथी मारे चिउरा-दही का कौर-पर-कौर निगल रहा था कि अकस्मात् मामी ने मेरी थाली उठा ली, उसे घर में ले आई। पीछे-पीछे मैं अवाक् उनके साथ लगा था; थाली रख मुझ से बोलीं—"बस, यहीं खा, बाहर मत निकलना, रूपा की आजी आ रही हैं, नजर लगा देंगी ! समझे न ?" (दे० 'रूपा की आजी' कहानी)। कहीं वातावरण के चित्रण के रूप में, जैसे—आज उदयपुर के चौक में चारों ओर बड़ी चहल-पहल है। नवयुवकों में नवीन उत्साह उमड़ उठा है। मालूम होता है कि किसी ने यहां के कुओं में उमंग की भंग घोल दी है। नवयुवकों की मूछों में ऐंठ भरी हुई है। आँखों में ललाई छा गई है।" (देखिए 'मुण्डमाल' कहानी)। कोई रेखा-चित्र शैली में आरम्भ करता है, जैसे—चन्दूलाल, रामचन्द, ज्योति प्रसाद और हुकूमतराय चार आदमियों के नाम हैं। चन्दूलाल एक घड़ी की दुकान में बीस रुपये का नौकर है। स्त्री है, एक बच्ची है। गुजर-बसर मुश्किल से होती है।···" (देखिए 'दान' कहानी)। किसी कहानी का आरम्भ विश्लेषणात्मक शैली में होता है, जैसे, देखिए अज्ञेय की 'नम्बर दस" कहानी। किसी में वर्णनात्मक शैली रहती है। उदाहरण के लिए देखिए कमलादेवी चौधरी की 'पराजय' कहानी। कहीं घटना से ही आरम्भ होता है, जैसे—'सम्राट् ने एक महल बनाने की आज्ञा दी—अपने वैभव के अनुरूप··· ।" (दे० 'कला और कृत्रिमता')। इस प्रकार इस पुस्तक में ही आपको कहानी आरम्भ करने के अनेक ढंग मिलेंगे। सब में आरम्भ से ही पाठक के मन को पकड़ने की क्षमता है।

भाव और रस : कहानी ही क्या, भाव और रस तो सब प्रकार के साहित्य का मूल तत्त्व है। इसके बिना साहित्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती। कोई-न-कोई मूल भाव-संवेदना अपनाकर ही कहानी आरम्भ से अन्त तक चलती है। चाहे रस-निष्पत्ति का प्राचीन सिद्धान्त आज की साहित्य-प्रक्रिया में नहीं है, तो भी मानव जीवन की भावानुभूतियों से शून्य कोई रचना साहित्य में स्थान नहीं पा सकती। करुणा, प्रेम, साहस, हास, ग्लानि आदि मानवीय भावों का चित्रण सब प्रकार की कहानियों में रहता

है। जिस कहानी में भावानुभूति जितनी तीव्र होगी, वह उतनी ही सफल मानी जायगी। कहानी में उपन्यास जैसा भाव-विस्तार तो सम्भव नहीं, पर भाव-गहनता उसमें कम नहीं होती। कहीं-कहीं तो किसी रस का भी बहुत सुन्दर परिपाक होता है। उदाहरणतः प्रेमचन्द जी की 'महातीर्थ' कहानी में वात्सल्य-रस का पूर्ण परिपाक देखिए।

कहानी का शीर्षक : कहानी का शीर्षक-निर्वाचन भी महत्त्व का विषय है। वह आकर्षक, सुन्दर, संक्षिप्त और सार्थक होना चाहिए। शीर्षक की सार्थकता तीन बातों में है। या तो वह प्रमुख पात्र के नाम पर हो, जैसे 'रूपा की आजी', 'सलीम', 'नम्बर दस', या मूल संवेदना या थीम का द्योतक हो, जैसे, 'मनुष्यता का दण्ड', 'महातीर्थ', 'दान', 'कला और कृत्रिमता', अथवा प्रमुख घटना का बोधक होना चाहिए, जैसे—जूठा आम, पराजय, मुण्डमाल आदि। अतः सार्थकता और कलात्मकता दोनों का ध्यान करके सतर्कता के साथ कहानी को शीर्षक देना चाहिए।

यथार्थ और आदर्श :—सभी साहित्यिक विधाओं में जीवन के यथार्थ चित्रण की दृष्टि से उपन्यास और कहानी ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग हैं। आज का कलाकार जीवन के यथार्थ चित्रों को अपनाता है। प्राचीन साहित्य में जीवन की वास्तविकता बहुतांश में छिपी रहती थी। लेखक की कला के सभी उपकरण आदर्शवादी होते थे। वह धीरोदात्त नायकों की कल्पना करता था। अभिजात वर्ग के केवल राजाओं, महाराजाओं या अन्य महान् व्यक्तियों की ही प्रतिष्ठा करता था। सर्वसाधारण के भाव-अभाव, दैनिक समस्याएँ, समाज की रूढ़ियों में पिसती हुई उनकी भावनाएँ और निरीह विवशता तथा शोषण उस के राजमार्ग या दृष्टिपथ से दूर रहते थे। उनकी आदर्शवादी कला में बंधी-बंधाई परम्परागत नैतिकता के आधार पर किन्हीं आदर्शों की स्थापना का उद्देश्य रहता था।

किन्तु आधुनिक युग में जीवन के प्रति यथार्थ दृष्टि जगी। पश्चिम में पहले रोमांटिसिज़्म के रूप में जो साहित्यिक क्रांति हुई, उसने भी प्राचीन रूढ़िबद्धता के स्थान पर काव्य में नए भाव, नई अभिव्यक्ति, यथार्थ प्रकृति-

अवलोकन, यथार्थ, स्वच्छन्द प्रेम-चित्रण आदि की प्रवृत्ति तो जगाई, पर इन कवियों का भी मनोराज्य कल्पना के प्रदेश पर ही अधिक था। जीवन की यथार्थ समस्याएँ, नाना प्रकार के भौतिक-मानसिक घूर्णन तथा दैनिक जीवन की विषमताओं आदि से ये भी दूर रहे। यही कारण है कि १९वीं शती में इस रोमाँटिसिज्म का भी विरोध हुआ। फ्रांसीसी-कलाकारों ने विशेष रूप से उसकी कल्पना-प्रियता और भावुकता के स्थान पर यथार्थ और वास्तविकता को अपनाया। कला-साहित्य में सर्वप्रथम जीवन का वास्तविक अध्ययन होने लगा। पुराना काल्पनिक आदर्शवादी दृष्टिकोण समाप्त हुआ, और साहित्य में जीवन की नग्न वास्तविकता उभरने लगी। आदर्शवाद के स्थान पर यथार्थवाद, यथातथ्यवाद, या प्रकृतिवाद का प्रचलन हुआ। परन्तु अपने अतिवाद में यथार्थवादियों ने भी मर्य्यादा का उल्लंघन करके समाज की विकृतियों को, उसके नग्न, हेय दृश्यों को तटस्थता से दिखाना आरंभ कर दिया। स्वस्थ यथार्थवाद के स्थान पर नग्न यथार्थवाद (Sur-realism) आने लगा। इस पर आदर्शवादी साहित्य-मर्मज्ञों ने उनके इस अतिवाद का विरोध किया। इस प्रकार यथार्थवाद और आदर्शवाद दो विरोधी साहित्य-धाराओं का द्वन्द्व आरंभ हुआ।

वस्तुत: यथार्थवाद वर्तमान भौतिक-बौद्धिक या विज्ञान-युग की देन है। जीवन के प्रत्येक पहलू पर जितनी निकटता के साथ देखने की दृष्टि आज जागृत हुई है, पिछले किसी युग में वह नहीं थी। जीवन की यथार्थ समस्याओं से सामना करने का जैसा साहस आज के मानव ने अपनाया है, वह पहले न था। फ्रांसीसी राज्यक्रांति से लेकर १९१७ में रूसी क्रांति तक, तथा भारत में राजा राम मोहन राय से लेकर वर्तमान काल तक पश्चिम और भारत में जीवन के प्रति जो नई यथार्थवादी प्रवृत्ति जगी, वही साहित्य में उतरी। वर्तमान युग में यथार्थवाद को दो मनीषियों की विचारधारा से विशेष प्रश्रय मिला—एक हैं मार्क्स और दूसरे फ्रायड। इन में भी पहले का महत्त्व अधिक है।

इस प्रकार वर्तमान कथा साहित्य में यथार्थवाद को आग्रहपूर्वक अपनाया जा रहा है, किन्तु यथार्थवाद और आदर्शवाद दोनों की अपनी-अपनी सीमाएं हैं। प्रेमचन्द जी ने इन दोनों के मध्य आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की महत्ता प्रमाणित की। उन्होंने आदर्श के सम्बध में कहा कि किसी देवता की कल्पना करना आसान है, किन्तु उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करना कठिन है। इस सम्बंध में रूसी साहित्यकार गोर्की के विचार भी उल्लेखनीय हैं। गोर्की ने एक ओर स्वप्निल आदर्शवाद (Utopia) का निषेध किया, और कहा कि इस प्रकार की काल्पनिक दृष्टि पाठक को वास्तविकता से भटकाएगी। दूसरी ओर उन्होंने कोरे यथार्थवाद—नग्न यथार्थवाद, मानवीय प्रेरणाओं से शून्य यथार्थवाद की भर्त्सना की। न वे काल्पनिक निष्क्रिय आदर्शवाद के हक में थे, न तटस्थ, कोरे यथार्थ के। उन्होंने स्वस्थ, प्रेरक यथार्थ—या प्रेमचन्द के ही शब्दों में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को ही मान्य ठहराया। वस्तुतः कहानीकार का यही उद्देश्य होना चाहिए कि वह जीवन की यथार्थता को प्रकट करे, किन्तु वह यथार्थता जीवन की प्रेरणाएं प्रदान करने वाली हो। जहाँ आदर्शों का आग्रह होगा, वहाँ कला को हानि पहुंचेगी, जैसे—प्रेमचन्द, ज्वालादत्त शर्मा और कौशिक जी की कुछ कहानियों में सुधारवादी प्रवृत्ति ने कला पर कुठाराघात किया है। साथ ही जीवन की नारकीय यथाथ बुराइयों के प्रति यदि लेखक अपनी घृणात्मक प्रतिक्रिया प्रकट नहीं करता, तो पाठक के मानसिक स्खलन का डर रहता है, ऐसा यथार्थ भी स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। बेचन शर्मा उग्र, आचार्य चतुरसेन शास्त्री तथा ऋषभचरण जैन की कुछ आरंभिक कहानियां नग्नता की ओर झुकती थीं, किन्तु अब उन सब ने अपना पुराना रग छोड़ दिया है। आज की कहानी में स्वस्थ यथार्थवाद या आदर्शोन्मुख यथार्थ-वाद की ही अभिव्यक्ति होती है।

प्रस्तुत पुस्तक में 'रूपा की आजी', 'दान', 'पंडित जी', 'नम्बर दस' आदि कहानियाँ स्वस्थ यथार्थवादी कहानियां हैं। इनमें लेखक ने किसी आदर्श की स्थापना का प्रयत्न नहीं किया है। किन्तु साथ ही यथार्थ कोरा यथार्थ-चित्रण के लिए भी नहीं है। लेखक की व्यंग्यात्मक प्रतिक्रिया ने उसे जीवन

के स्वास्थ्य की ओर उन्मुख किया है। "जीवन कैसा है" के साथ वह 'कैसा होना चाहिए'—इस ओर भी संकेत किया है। 'सलीम', 'महातीर्थ', 'मनुष्यता का दण्ड' आदि कहानियों में क्रमशः नन्द राम, कैलासी, फ्रेडरिक और पाल के चरित्र यथार्थवाद में आदर्श की मिस्री घोल देते हैं। ये आदर्शोन्मुखी यथार्थ-वादी रचनाएँ हैं। 'मुण्डमाल' ऐतिहासिक यथार्थ पर आदर्शवादी कहानी है, तो 'पराजय' कल्पना-प्रधान आदर्शवादी। किन्तु इनका आदर्श भी किसी स्वप्नलोक में भटकाने वाला नहीं। 'कला और कृत्रिमता' तथा 'झूठा आम' कहानियाँ कल्पना और भावना-प्रधान आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी रचनाएँ हैं। इनका यथार्थ चाहे विरल हो, है यथार्थ ही। इस प्रकार कहानी कला में यथार्थवाद और आदर्शवाद का दृष्टिकोण स्पष्ट हुआ होगा। लेखक को एक ओर तो निष्क्रिय, कोरे काल्पनिक आदर्शवाद में नहीं भटकना चाहिए, दूसरी ओर यथार्थवाद का नग्न, निरुद्देश्य प्रदर्शन करने से बचना चहिए। वही रचना श्रेष्ठ मानी जायगी जिसमें जीवन के सत्य का यथार्थ की दृढ़ भित्ति पर चित्रण हो, किन्तु साथ ही जीवन की स्वस्थ प्रेरणाएँ और आदर्श भी उस से व्यंजित हों—व्यंजित होने चाहिएँ, कथित नहीं। उपर्युक्त विवेचन से कहानी-कला का पूर्ण बोध हुआ होगा, ऐसी आशा है। कहानी में कथानक, चरित्र-चित्रण और देशकाल-वातावरण होते तीनों तत्व हैं, किन्तु प्रधानता एक को ही मिल सकती है। शेष दोनों गौण रह जाते हैं। उपन्यास में किसी एक की प्रधानता होते हुए भी, शेष नगण्य नहीं हो सकते। विस्तार सब का अपेक्षित है। उपन्यास की सफलता सभी तत्वों के यथोचित मिश्रण में ही है। कहानी के सभी तत्वों में लेखक को कलालाघव का कौशल दिखाना अनिवार्य है। छोटी-सी सीमा में ही उसे सम्पूर्ण प्रभाव को समेटना है। अतः उसे उच्च कोटि की ध्वन्यात्मक शैली का प्रश्रय लेना चाहिए। कहानी में एक ही मूल संवेदना चरमसीमा को प्राप्त करती है। उपन्यास में कई संवेदनाएं होती हैं, विस्तार होता है। पात्र, संघर्ष, कथा और उद्देश्य का कोई निश्चित क्रम नहीं होता। घटनाएँ भी अंत से प्रारंभ की ओर और कभी प्रारंभ से

अन्त की ओर बढ़ती हैं। कहानी में वृत्त की एकता, लक्ष्य और प्रभाव की एकता तथा एक देशीयता के कारण पूर्ण संगठन रहता है। उपन्यास शिथिल भी खप जाता है। आदि से अन्त तक कहानी का ध्यान परिणाम पर बंधा रहता है, उसका डंक उसकी पूंछ में रहता है। सब कुछ एक दम पराकोटि पर टिका देने की विधि ही कहानी को उपन्यास से पृथक् करती है। कहानी एक ही बैठक में पढ़ी जाने वाली रचना है, उपन्यास महीनों में समाप्त किया जा सकता है।

कहानी तथा गद्य साहित्य के कुछ अन्य रूप :—जैसा कि कहा जा चुका है, कहानी की अपनी स्वतंत्र कला है। किन्तु गद्य साहित्य के कुछ रूपों से कहानी का इतना साम्य है कि उनमें भेद करना कठिन हो जाता है। **कहानी और एकांकी** में अद्भुत तात्विक समानता है। केवल अभिनय तत्त्व एकांकी को कहानी से पृथक् करता है। संवाद-प्रधान कहानियों में यदि रंगमंच की दृष्टि से दृश्य और पात्रों के प्रवेश आदि की कुछ व्यवस्था कर दी जाय, तो सफल एकांकी बन सकता है। दोनों के कथा-तत्व, चरित्र-चित्रण, संवाद, देशकाल-वातावरण, भाषा-शैली आदि की सीमाएं समान होती हैं, दोनों में ही कला-लाघव की विशेषता रहती है। एकदेशीयता तथा प्रभाव-एकता समान रूप से रहती हैं। कथा-विकास दोनों में तीव्रगति से चरम-सीमा पर पहुंच कर अवसीन पाता है। कहानी में नाटकीय अभिव्यंजना अत्यन्त आवश्यक है। कहानी में संवाद, आकस्मिक घटना, आकस्मिक अंत आदि नाटकीय ढंग पर ही होते हैं। **कहानी और विवरणात्मक निबंध** (Narrative Essays)—कहानी का कथात्मक निबंधों से भी विचित्र साम्य है। बहुत स्थानों पर तो दोनों में भेद करना ही कठिन हो जाता है। महादेवी वर्मा के संस्मरणात्मक निबंधों; सियारामशरण गुप्त के 'झूठ-सच' में संकलित कुछ निबंधों को कथात्मक संस्मरणात्मक निबंध कहा जाय या कहानी साहित्य में गिना जाए, यह समस्या बहुत बार उठती है। इस सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विवेचन हमने अन्यत्र किया है, यहाँ हम दो तीन उदाहरण देकर इस विषय को स्पष्ट करेंगे। वास्तव में कहानी में अकुंठित कथा-प्रवाह आवश्यक है,

जहाँ यह प्रवाह रुका कि कहानी-कला को क्षति पहुंची। महादेवी के संस्मरणों में से हम दो का उदाहरण बता कर यह अन्तर स्पष्ट करते हैं। महादेवी का 'चीनी भाई' नामक संस्मरण पढ़िए और साथ ही पढ़िए उनका 'लछमा' संस्मरण। पहले में कथा की संवेदना अकुंठित रूप में प्रवाहित हुई है, दूसरे में महादेवी का चिंतन, मनन कथांश को अवरुद्ध करता है, कथा छिन्न-भिन्न हो जाती है, मंथर और मंद है। 'चीनी भाई' में चीनी की कहानी द्रुत गति से चरम पर पहुंच कर समाप्त हो जाती है। किन्तु 'लछमा' में कथा विशेष है ही नहीं, स्वभाव और परिस्थितियों के चित्र और वर्णन ही हैं। अतः जहाँ मैं 'चीनी भाई' को कहानी के अन्तर्गत लेता हूं, वहाँ 'लछमा' को निबंध ही मानता हूं। 'घीसा' को भी कहानी मानना अनुचित है। यही कसौटी रामवृक्ष बेणीपुरी के संस्मरणात्मक रेखाचित्रों के लिए होनी चाहिए। उनका संकलित शब्द-चित्र 'रूपा की आजी' कहानी कला की सम्पूर्ण विशेषताओं से ओत-प्रोत है। 'माटी की मूरतें' के प्रायः सभी शब्द-चित्र संस्मरणात्मक कहानियाँ कहे जा सकते हैं। **कहानी और शब्द-चित्र या रेखा-चित्र** में यहाँ समानता ही प्रतीत होती है। किन्तु उनके 'लाल तारा' के शब्द चित्र कहानी नहीं हैं, शब्द-चित्र ही कहे जायेंगे, यद्यपि कहानी के कुछ तत्व उनमें पाए जाते हैं। **कहानी और गद्य-काव्य :** प्रभाव और भाव की एकता की दृष्टि से दोनों की समानता है। भाव-प्रधान कहानी में जब कथांश बिल्कुल गौण—नगण्य हो जाता है, और भाव घनीभूत रहता है, तो वह गद्य-गीत बन जाती है, जैसे प्रसाद की कुछ कहानियां। और जब गद्य-गीत में कथा-तत्व का समावेश हो जाता है, वह कहानी के निकट पहुंच जाता है। रायकृष्णदास का निम्न कथात्मक प्रतीकात्मक गद्य-गीत पढ़िए—

"मैं भी मन्दिर की सीढ़ियों पर माला बेचा करती। किन्तु अक्सर ऐसा होता कि मैं अपनी डाली ज्यों की त्यों भरी लिए घर लौटती। विदग्धा मालिनें ग्राहकों को ऐसा लुभा लेतीं कि वे मेरी मालाओं को पूछते तक न !

एक दिन मैंने बहुत परिश्रम से माला तैयार की और केवल वही हाथ में लिए जा खड़ी हुई।

आज मैं आगन्तुकों का ध्यान आकर्षित कर सकी। वे मुझे घेर कर खड़े हो गए, ध्यानपूर्वक उस माला को देखने लगे, उसकी प्रशंसा करने लगे। मैं निरन्तर मुस्करा रही थी।

अन्य मालिनें डाह से मेरी ओर देख रही थीं।

एक व्यक्ति ने पूछा—"इस माला का क्या दाम है?"

मैंने उत्तर दिया, "शत मुद्रा।"

ज्यों ही वह नीवी से रुपया निकालने लगा, दूसरे ने कहा—"मुझ से एक सौ एक ले लो।"

योंही इस का मूल्य बढ़ने लगा। संध्या भी आ रही थी।

जब संख्या हजारों के पार पहुंची तब मैंने समझा कि यह तो अमूल्य माला है। और मैंने दृढ़तापूर्वक उन लोगों से कह दिया—"मुझे माला नहीं बेचनी है।" बेचारे निराश होकर लौटने लगे।

तब मैंने सोचा कि इसका उपयुक्त स्थान है देवता का कंठ और मैं उन सीढ़ियों पर चढ़ने लगी। पर अंतिम सीढ़ी पर पहुंचकर क्या जाने क्यों मैं रुक गई और मैंने स्वयं वह माला पहन ली।

साथ ही मैंने कहा—"इसका उपयुक्त स्थान यह है।"

तब से मैं मंदिर नहीं गई। ('छायापथ' संग्रह से)

नाटकीयता और कौतूहल से पूर्ण यह कथात्मक गद्य-काव्य भाव-प्रधान लघुतम कहानी का सुन्दरतम उदाहरण है। मैं इसे अधुनिक कहानी-कला का चरम विकास मानता हूं। भावना, कौतूहलपूर्ण अंत, उत्सुकता, नाटकीयता, विचार-गर्भ थीम आदि विशेषताओं के कारण यह चरम कला का द्योतक है।

हिन्दी कहानी का वर्गीकरण और प्रस्तुत चयन

कहानी का विकास इतना बहुमुखी हुआ है कि उसका समुचित वर्गीकरण अत्यन्त कठिन कार्य है। फिर भी अध्ययन की सुविधा के लिए हम निम्न विभागों में कहानी के भिन्न-भिन्न रूपों का अध्ययन कर सकते हैं। **(क) विषय-सामग्री की दृष्टि से, (ख) तत्त्व विशेष की प्रधानता की दृष्टि से, (ग) लेखन-शैली की दृष्टि से, (घ) गद्य शैली की दृष्टि से, और (ङ) अन्य रूप-प्रयोगों से, (च) यथार्थ और आदर्श की दृष्टि से।**

(क) वर्ण्य-विषय की कोई सीमा ही नहीं। प्रकृति के कण-कण में कहानी है। निखिल विजन में बिखरे बालु-कण से लेकर इन्द्रपुरी में तथा एक टूटी झोंपड़ी से लेकर सौध-शिखर में कथा सामग्री मिलती है। हम जहां भी दृष्टि दौड़ाएँ कहानी का मूल-तत्व विद्यमान् मिलेगा। आवश्यकता है केवल बाह्य और अन्तर्जगत से अनुभूति, और सहानुभूति के आदान-प्रदान की। अनेक विषयों पर कहानियां लिखी गई हैं। १. **सामाजिक कहानियां** जिनमें समाज का नाना-विध चित्रण होता है। समाज की विभिन्न समस्याओं पर प्रकाश डाला जाता है। जैसे प्रेम चन्द की अनेक कहानियां, प्रस्तुत पुस्तक में 'रूपा की आजी,' 'दान,' 'गुडबाई दर्दे दिल' आदि कहानियाँ। सब से अधिक सामाजिक विषयों पर ही कहानियाँ लिखी गई हैं। २. **राजनीतिक तथा राष्ट्र प्रेम से सम्बन्धित,** जैसे प्रेमचन्द की 'समर यात्रा तथा अन्य कहानियाँ' नामक संग्रह की कहानियां; आगे प्रस्तुत की गई 'पराजय' कहानी भी सांकेतिक रूप में राष्ट्र प्रेम को जगाती है। ३. **प्रेम प्रधान कहानियां,** जैसे 'झूठा आम', 'डायरी के पन्ने' आदि। ४. **मानवतावादी कहानियां,** जैसे 'मनुष्यता का दण्ड,' 'सलीम' आदि। ५ **साहित्य और कला से सम्बन्धित,** जैसे रायकृष्ण दास की कहानियां—यहां प्रस्तुत की गई 'कला और कृत्रिमता'। ६. **ऐतिहासिक कहानियां**—जैसे आचार्य चतुर्सेन, वृन्दावन लाल वर्मा आदि की कहानियां, इस संग्रह की 'मुण्डमाल' कहानी। ७. **मनोवैज्ञानिक कहानियां**—जैसे, जैनेन्द्र, इलाचन्द्र और अज्ञेय की कहानियां। प्रस्तुत पुस्तक में अज्ञेय जी की 'नम्बर दस'।

८. **हास्य-व्यंग्य-कथा**, जैसे, श्री अन्नपूर्णानन्द, राधाकृष्ण, जी० पी० श्रीवास्तव, नलिन जी, जहूर बख्श आदि की कुछ कहानियाँ। प्रस्तुत पुस्तक में श्रीवास्तव जी की 'पंडित जी' कहानी। ९. **धार्मिक-पौराणिक**—यद्यपि हिन्दी में धार्मिक-पौराणिक कथाएं कम लिखी गई हैं, फिर भी उपनिषदों, पुराणों आदि की कहानियों को आधुनिक कहानियों के रूप में उपस्थित किया जा रहा है। गीता प्रेस गोरखपुर के 'कल्याण' पत्र में भी समय-समय पर ऐसी कहानियां निकलती रहती हैं। आगे दी गई 'पुरंजनोपाख्यान' ऐसी ही कथा है। १०. **पारिवारिक कहानियां**—पारिवारिक समस्याओं के आधार पर लिखी जाती हैं, जैसे इस पुस्तक में श्रीमती होमवती देवी की 'माँ' कहानी।

इन प्रमुख बिषयों के अतिरिक्त जासूसी, साहसिक, वैज्ञानिक, सैद्धान्तिक, जीवन चरितात्मक आदि अनेक विषयों को अपना कर कहानियां लिखी जा सकती हैं। हिन्दी में भी अनेकानेक विषयों को कहानीकार अपना रहे हैं। विषय की दृष्टि से हिन्दी कहानी का पर्याप्त विकास हुआ है।

(ख) **रचना तत्वों की दृष्टि से** भी कहानी की कई कोटियां होती हैं—(क) घटना-प्रधान कहानियां, (ख) चरित्र-प्रधान कहानियां, (ग) वातावरण प्रधान, (घ) भाव-प्रधान, तथा (ङ) उद्देश्य-प्रधान।

घटना-प्रधान कहानियां—जिन कहानियों में कथा या घटना का वैचित्र्य रहता है, कथा उत्सुकता, आकस्मिकता और संयोग से पूर्ण होती है, उन्हें कथानक या घटना-प्रधान कहानियां कहा जाता है। प्रेमचन्द, कौशिक, सुदर्शन आदि की आरंभिक कहानियाँ घटना-प्रधान ही हैं। प्रस्तुत पुस्तक की 'सलीम' और 'मनुष्यता का दण्ड' भी घटना-प्रधान कही जा सकती हैं। आजकल घटना-प्रधान कहानियां बहुत कम लिखी जाती हैं, क्योंकि मानव-मनोविज्ञान को आज अधिक महत्व मिल रहा है। जासूसी, साहसिक आदि कहानियां भी कथानक प्रधान होती हैं। किन्तु हिन्दी में उच्च कोटि की साहित्यिक कहानियां इस ढंग की (जासूसी-साहसिक) नहीं हैं। वस्तुतः हमारा कहानी साहित्य आज समस्या-प्रधान या मनोवैज्ञानिकता-प्रधान हो गया है, जासूसी और साहसिक कार्यों का चित्रण लेखकों की व्यावहारिक दृष्टि से दूर ही

रहता है। घटना-प्रधान कहानियों में वर्णनात्मकता और विवरणात्मकता अधिक रहती है।

चरित्र-प्रधान कहानियां—इन कहानियों में पात्रों के चरित्र-चित्रण पर ही लेखक का अधिक ध्यान रहता है। चरित्र-चित्रण और चरित्र-विश्लेषण ही केन्द्रबिन्दु होने के कारण, मनोविज्ञान ऐसी कहानियों का धरातल रहता है। इनमें घटनाएं, पात्रों के कार्य-कलाप और कथा-प्रसंग बिल्कुल नाम मात्र को होते हैं। प्रेमचन्द जी की बाद की विकास-युग की कहानियां चरित्र-प्रधान ही हैं। अज्ञेय, जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, यशपाल, भगवतीप्रसाद वाजपेयी आदि लेखकों ने अधिकाधिक अन्तर्विश्लेषण की प्रवृत्ति दिखाई। इन मनोवैज्ञानिक, विश्लेषण-प्रधान कहानियों में कथांश बिल्कुल क्षीण होता है। अज्ञेय जी की 'नम्बरदस' कहानी आगे पढ़िए, इस कोटि का श्रेष्ठ उदाहरण है।

कुछ कहानियां घटना और चरित्र-चित्रण दोनों से समन्वित होती हैं। बहुत में पात्रों की विशेष-विशेष मनोवृत्तियों पर प्रकाश डाला जाता है। यशपाल जी की 'गुडबाई दर्दे-दिल' ऐसी ही घटना पर आधारित मनोवृत्ति-प्रधान कहानी है। आरंभ में किसी चरित्र के त्याग, बलिदान, प्रेम आदि कुछ स्थूल चारित्रिक रेखाओं के रूप में ही चरित्र-चित्रण रहता था, पर आजकल चरित्र की किसी एक विशेषता के भी विशेषांश का सूक्ष्म, आन्तरिक द्वन्द्वात्मक चित्रण रहता है। इससे पात्र का व्यक्तित्व सजीव हो जाता है। जिन कहानियों में पात्र प्रतिनिधि रूप में चित्रित होते हैं, उनमें सामाजिकता का पुट अधिक आ जाता है। मनोवैज्ञानिक चरित्र-प्रधान कहानियों में पात्र प्रायः वैयक्तिक ही होते हैं। वे वर्ग का प्रतिनिधित्व कम करते हैं, जैसे 'नम्बर दस' का रतन।

वातावरण-प्रधान कहानियां—इस कोटि की कहानियों में कथा के परिपार्श्व और वातावरण की अधिक प्रेरणा रहती है। वातावरण भी दो प्रकार का होता है—एक बाह्य, जैसे प्रकृति-चित्रण, रूप-आकृति, दृश्य, वेश-भूषा का चित्रण तथा

दूसरे आंतरिक स्थितियों, परिस्थितियों का चित्रण। सामाजिक तथा ऐतिहासिक कहानियों में—विशेषकर ऐतिहासिक में—वातावरण को बहुत महत्व मिलता है। उसके बिना ये कहानियां अपनी सार्थकता प्रमाणित कर ही नहीं सकतीं। वातावरण कथा को सजीवता प्रदान कर देता है। कभी-कभी स्थानीय रंग लाने के लिए भाषा में भी जनपदीय बोलचाल का पुट दे दिया जाता है। प्रसाद जी ने 'देवरथ', 'स्वर्ग का खंडहर', 'आकाश दीप', 'सालवती' आदि श्रेष्ठ वातावरण-प्रधान ऐतिहासिक कहानियां लिखीं। प्रेमचन्द की 'पूस की रात', 'अलग्योझा' आदि सामाजिक धरातल पर वातावरण-प्रधान कहानियां हैं। प्रस्तुत पुस्तक में 'मुण्डमाल' (शिवपूजन सहाय) ऐतिहासिक वातावरण-प्रधान कहानी है।

भाव-प्रधान कहानियां—भाव-प्रधान कहानियों में कल्पना और भावुकता का प्राधान्य रहता है। इनमें कवित्वपूर्ण वातावरण, कल्पना की उड़ान, प्रायः संस्कृत-निष्ठ अलंकृत भावात्मक शैली की विशेषता रहती है। हिन्दी में प्रसाद, हृदयेश, विनोद शंकर व्यास, रायकृष्ण दास, गोविन्द बल्लभ पंत आदि लेखकों ने इस कोटि की श्रेष्ठ कहानियाँ लिखी हैं। पाठक प्रस्तुत पुस्तक में 'झूठा आम', 'उत्सर्ग', 'डायरी के पन्ने' नामक कहानियाँ पढ़ें। तीनों भिन्न-भिन्न प्रकार की भाव-प्रधान कहानियां हैं। पहली अपनी संक्षिप्तता और कल्पनात्मकता में गद्य-काव्य-सी हो गई है, दूसरी में कवित्वपूर्ण अलंकृत संस्कृत-निष्ठ शैली की विशेषता है। तीसरी सरल, निश्छल दाम्पत्य-प्रेम की भावनाओं से ओत–प्रोत है। ऐसी भाव-प्रधान कहानियां जिनमें कल्पना के स्थान पर यथार्थ संवेदना की प्रगाढ़ता रहती है, प्रभाव-प्रधान भी कह दी जाती हैं। इनका समष्टि-प्रभाव पाठक पर अमिट रूप से पड़ता है। वैसे, कहानी चाहे कैसी ही हो उसकी चरम सफलता समष्टि-प्रभाव उत्पन्न करने में ही रहती है। अज्ञेय जी की 'नम्बरदस' कहानी मनोवैश्लेषिक चरित्र-प्रधान, प्रभावपूर्ण कहानी है। डा० आज़म करेवी की 'कुर्बानी' भी दुखांत प्रभाव-प्रधान है।

उद्देश्य-प्रधान कहानियां—ऐसी कहानियों में लेखक अपने उद्देश्य को ही प्रकाशित करने की दृष्टि या आग्रह रखता है, जहां आग्रह अधिक हो

जाता है, वहां कलात्मक संवेदना की कमी रह जाती है। वैसे तो लेखकों की रचनाओं में उद्देश्य रहना अनिवार्य है, परन्तु जब यह कला के साथ घुला-मिला नहीं होता, तब कथा उद्देश्य-प्रधान या उपदेश–प्रधान बन जाती है। इस पुस्तक में 'कला और कृत्रिमता' उद्देश्य-प्रधान कहानी है और 'पुरंजनोपाख्यान' उपदेश-प्रधान। 'उत्सर्ग' में भी आदर्श–प्रतिष्ठा का उद्देश्य स्पष्ट है।

(ग) **लेखनशैली की दृष्टि** से भी कहानियों के छः मुख्य भेद होते हैं— **१. ऐतिहासिक शैली, २. आत्मचरित शैली, ३. पत्रात्मक शैली, ४. डायरी शैली, ५. नाटकीय शैली, ६. मिश्रित शैली।** ऐतिहासिक शैली में कहानीकार कथावाचक की भांति द्रष्टा रूप में तटस्थ वर्णन करता है। इस शैली का ही सर्वाधिक प्रयोग होता है, क्योंकि यह सब से अधिक सरल, सुगठित और बोधगम्य शैली है। कहानीकार को भी इसमें स्वतन्त्रता रहती है। यही कहानी कहने की आदि काल से प्रचलित शैली है। कहानी की समूची गतिविधि अन्य पुरुष में अभिव्यक्त होती है। इस पुस्तक में 'जूठा आम', 'रूपा की आजी', 'पंडित जी', 'डायरी के पन्ने' को छोड़ कर सब कहानियां इसी शैली में लिखी गई हैं। 'पंडित जी', और 'रूपा की आजी' में भी आत्म-तत्व बहुत क्षीण है, क्योंकि इनका 'मैं' दूसरों की ही कहानी कहता है, अपनी नहीं।

आत्मचरित शैली में कहानीकार स्वयं (जैसे 'रूपा की आजी' में) या कहानी का कोई पात्र 'मैं' (उत्तमपुरुष) शैली में कथा-वर्णन करता है। रूप-विधान की दृष्टि से इस शैली के भी कई भेद हो सकते हैं। एक में मुख्य पात्र आरंभ से अंत तक अपनी कथा कहता है, जैसे 'झूठा आम' का 'मैं', किसी में लेखक की आप-बीती घटना या सच्चा संस्मरण रहता है, जैसे, 'रूपा की आजी' में।

आत्मगत शैलियों के ही दो और रूप होते हैं—पत्र-शैली और डायरी शैली। इन दोनों में भी प्रायः 'मैं' शैली रहती है, क्योंकि पत्र या डायरी निजी वस्तु ही है।

आधुनिक कहानी कला में आत्मचरितात्मक शैली का बहुत प्रचलन हुआ है। पात्रों की मनोवैज्ञानिक गुत्थियों का स्पष्टीकरण इस शैली में

अच्छी तरह हो जाता है। मानव-अन्तर्मन के विश्लेषण में इस का खूब प्रयोग हो रहा है। इस शैली का सफल निर्वाह कला की सूक्ष्मता चाहता है। पत्रात्मक शैली और डायरी शैली दोनों का ही प्रचलन और विकास बहुत कम हुआ है। इन दोनों में कहानी की मूल आत्मा अच्छी तरह प्रस्फुटित नहीं हो पाती। पत्रात्मक शैली के भी मुख्य तीन रूप होते हैं—एक तो एक ही व्यक्ति के कई पत्रों के रूप में, जैसे प्रसाद जी की 'देवदासी', चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की 'एक सप्ताह' आदि। दूसरे, एक ही पत्र के माध्यम से व्यक्त होने वाली, जैसे इलाचन्द्र जोशी की 'चौथे विवाह की पत्नी', पहाड़ी की 'सरोज को एक पत्र' आदि। तीसरे, कई पत्रों के उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में। इस में कभी-कभी विश्लेषण और व्याख्या भी अंत में दी जाती है, जैसे अश्क जी की 'मरीचिका' और अज्ञेय की 'सिगनेलर' में। यह तीसरी प्रणाली पहली दो से उत्तम है। लेखक की स्वतंत्रता तथा कहानी का एकान्तिक प्रभाव इसमें अधिक रहते हैं।

डायरी शैली भी पत्र-शैली से मिलती-जुलती होती है। इसमें भी निजीपन रहता है। इसके भी दो रूप हो सकते हैं—एक विश्लेषण या वर्णन से युक्त, दूसरा शुद्ध डायरी का रूप। आगे उदाहृत 'डायरी के पन्ने' पहली कोटि की है। सुदर्शन जी की 'एक नारी की डायरी', इलाचन्द्र जोशी की 'मेरी डायरी के नीरस पृष्ठ' और भगवती प्रसाद वाजपेयी की 'अन्ना' डायरी शैली के सुन्दर उदाहरण हैं। डायरी-शैली में अतीत की घटनाओं या प्रसंगों का अच्छा वर्णन रहता है।

नाटकीय शैली :—यह वास्तव में संवाद-शैली ही है। कुछ कहानियां एकांकी के ढंग पर भी लिखी गई हैं, जैसे अज्ञेय की 'वसंत', प्रेमचन्द जी की 'दो सखियां', पर इन्हें कहानी के अन्तर्गत गिनना ही भूल है। ये एकांकी ही हैं। विशुद्ध संलाप-शैली में भी बहुत कम कहानियाँ लिखी गई हैं। इनमें भी लेखक को सीमाएँ बहुत संकुचित हो जाती हैं। वह अपनी ओर से कुछ नहीं कह सकता। जैनेन्द्र की 'राजपथिक' कहानी इसी शैली में है।

मिश्रित शैली :—कुछ कहानियों में उपर्युक्त सभी या कई शैलियों का मिश्रित प्रयोग रहता है। रूप-विधान की दृष्टि से मिश्रित शैली उत्कृष्ट शैली कही जा सकती है। इसमें लेखक को विधानात्मक स्वतंत्रता खूब रहती है। उपेन्द्रनाथ अश्क की 'पिंजरा', जैनेन्द्र की 'एक रात', अज्ञेय की 'छाया' आदि उत्कृष्ट कहानियाँ मिश्रित शैली में ही हैं।

(घ) **गद्य-शैली की दृष्टि से** भी कहानियों में विविधता रहती है। ऐतिहासिक, घटना-प्रधान या कथा-प्रधान कहानियों में शुद्ध **वर्णनात्मक शैली** का प्रयोग रहता है। हिन्दी की आरंभिक कहानियां वर्णनात्मक शैली में ही लिखी गई। विश्लेषण और व्याख्या शैली की विशेष आवश्यकता नहीं होती थी। वस्तु-चित्रण और वृत्त-विवरण सब लेखक के ही आधीन रहता था। किन्तु शनैः शनैः कहानियों में जीवन और चरित्रों की व्याख्या तथा विश्लेषण होने लगा। अतः **वर्णन–विश्लेषण–शैली** का विकास हुआ। इसी मिश्रित शैली का प्रयोग प्रेमचन्द, यशपाल, प्रसाद, चतुरसेन शास्त्री आदि लेखकों ने किया है। कहानी का धरातल अधिकाधिक मनोवैज्ञानिक होने के कारण, **विश्लेषणात्मक शैली** में कहानियों की रचना होने लगी। वर्णन-प्रधान शैली के स्थान पर विश्लेषण-प्रधान शैली का प्रयोग होने लगा। अज्ञेय की 'नम्बर दस' इसी शैली का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती है। इस शैली में ही पात्रों के आन्तरिक संघर्षों, उनके क्रिया-कलापों के मनोवैज्ञानिक अथवा सामाजिक धरातल की व्याख्या और विश्लेषण किया जाता है। कुछ कहानियां **संवाद-प्रधान शैली** में लिखी जाती हैं। विश्वंभरनाथ कौशिक, पहाड़ी आदि लेखकों में संवादों की प्रधानता रहती है। बीच-बीच में वर्णन और व्याख्या-शैली भी कुछ रहती है, पर प्रमुखता संवाद-शैली की ही होती है। **भाव–प्रधान शैली** का प्रयोग भाव-प्रधान कहानियों में होता है। भावात्मक गद्य-शैली का इन में सुन्दर विकास दिखाई देता है। कल्पना के पुट से बहुत बार इस में कवित्व और अलंकरण के कारण सुन्दर **प्रवाहयुक्त कवित्वपूर्ण अलंकृत भावात्मक शैली** के भी दर्शन होते हैं, जैसे 'उत्सर्ग' कहानी में। शब्द-प्रयोग

की दृष्टि से कोई **तत्सम-बहुला शैली** का प्रयोग करता है—जैसे, चण्डी प्रासद जी हृदयेश, कोई **सरल तद्भव-बहुला शैली** अपनाता है, जैसे 'दान', 'रूपा की आजी', 'माँ' आदि कहानियों में। **हास्य-व्यंग्य-शैली** का मुख्य प्रयोग हास्य-व्यंग्य-प्रधान कहानियों में रहता है, जैसे 'पंडित जी' कहानी में। कुछ कहानियाँ **आत्म-भाषण-शैली** में भी लिखी गई हैं, पर बहुत कम।

(ङ) **रूप-प्रयोग की दृष्टि से** कहानियाँ अनेक रूपों में अनेक प्रकार से लिखी गई हैं। हमारे लेखकों ने विविध प्रयोगों की पूर्ण क्षमता दिखाई है। हिन्दी में प्रतीकात्मक कहानियाँ भी पर्याप्त लिखी गई हैं। कुछ **अन्योक्ति या पूर्ण रूपक-कथा-शैली** में लिखी जाती हैं, जैसे, इन पंक्तियों के लेखक की 'पुरंजनोपाख्यान' कहानी। कुछ आंशिक **प्रतीकात्मक-शैली** को अपनाती हैं, जैसे, इस पुस्तक की 'झूठा आम', 'पराजय' आदि कहानियाँ। इन में समासोक्ति का-सा पुट रहता है। कुछ पूर्ण समासोक्ति के ढंग पर लिखी जाती हैं।

जैसाकि पहले बताया जा चुका है, **संस्मरणात्मक** तथा **रेखा-चित्रात्मक** कहानियाँ भी आजकल खूब लिखी गई हैं, 'रूपा की आजी' संस्मरणात्मक-रेखा-चित्रात्मक कथा ही है। महादेवी के 'चीनी भाई' आदि कुछ संस्मरण भी इसी कोटि के हैं। यह आवश्यक नहीं कि सस्मरणात्मक कथा ही रेखा-चित्रात्मक हो। इस पुस्तक की 'दान' कहानी भी रेखा-चित्रात्मक कहानी है।

कुछ कहानियों में असम्बद्ध घटनाओं या प्रसंगों के रूप में कथा प्रकट की जाती है। विभिन्न व्यक्तियों या सामाजिक वर्गों से सम्बन्धित प्रसंगों की अलग-अलग झाँकियों का एक नायक या एक ही उद्देश्य में संगठन रहता है। इस पुस्तक में 'दान' कहानी इसका श्रेष्ठतम उदाहरण है। इसमें भिन्न-भिन्न शब्द-चित्रों को, जिनका पूर्वा पर सम्बन्ध नहीं है, एक ही उद्देश्य से सम्बद्ध किया गया है। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की 'काम काज' भी ऐसी ही कहानी है।

समय-विपर्यय (Time Shift) पद्धति का भी कुछ कहानियों में प्रयोग हुआ है। इसमें काल-क्रम के अनुसार क्रमिक रूप में कथा-प्रसंग और घटनाएँ प्रस्तुत नहीं की जातीं। कहीं अंत से आरंभ होता है और आरंभिक प्रसंग बाद में आते हैं, जैसे, पहाड़ी की 'मलिन छाया' कहानी में; कहीं लेखक बीच के कथा-सूत्रों को पहले पकड़ता है।

पश्चिम में कुछ कहानियाँ **चेतना-प्रवाह के रूप में** भी लिखी गई हैं। हिन्दी में इस शैली का अभाव ही है। प्रभाकर माचवे का लघु उपन्यास 'परन्तु' अवश्य इस शैली में लिखा गया है। भगवती प्रसाद वाजपेयी की कहानी 'स्वयंबर' में भी चेतना-प्रवाह का सुन्दर आभास है।

कुछ कहानियों में **स्वप्न-प्रयोग** रहता है। स्वप्न-भ्रम-शैली भी कथा की एक रोचक शैली है। अज्ञेय जी की 'चिड़ियाघर' और 'जयदोल' कहानियां इसका उत्तम उदाहरण हैं।

पिछले महायुद्ध के बाद **सूचनिका (रिपोर्ताज)** का भी प्रचलन हुआ है। योरपीय लेखकों ने पिछले महायुद्ध की बड़ी–बड़ी घटनाओं की विस्तृत सूचनाएँ, रिपोर्टें तैयार कीं। रूस और अमेरिका में इस साहित्य-विधा का खूब विकास हुआ। उर्दू में कृष्णचन्द्र की प्रसिद्ध सूचनिका 'सुबह होती है' इस शैली का सुन्दर उदाहरण है। हिन्दी में शिवदान सिंह चौहान और अमृतराय आदि एक-दो लेखकों ने ही इस ओर लेखनी चलाई है।

आजकल पत्र-पत्रिकाओं में **चित्र-कथाएँ** भी खूब प्रचलित हो रही हैं। चित्रों के माध्यम से कथा को प्रकट किया जाता है।

इनके अतिरिक्त गीति-कथा, लघु-कथा, कथा-गोष्ठी, कहानी की पैरोडी आदि और भी अनेक प्रयोग हो रहे हैं। उर्दू-फारसी जैसे हास्य-व्यंग्य-पूर्ण अत्यन्त संक्षिप्त चुटकले, लतीफ़े भी हिन्दी में कम लिखे गए हैं।

(च) **यथार्थ और आदर्श की दृष्टि से** कुछ रचनाएँ बिल्कुल यथार्थ-वाद—प्रकृतवाद—के रूप में लिखी गई हैं। इनके जन्मदाता उग्र जी हैं। इन्होंने समाज की कुरीतियों, घृणास्पद एवं लज्जाजनक बीभत्स दृश्यों को दिखा कर समाज की कटु आलोचना की है। 'पहाड़ी' की कुछ कहानियाँ भी

अरुचिकर, अस्वस्थ बीभत्सता से ओत-प्रोत हैं। आरंभ में आदर्शवादी आग्रह पर अनेक कहानियाँ लिखी गईं। प्रेमचन्द, चण्डीप्रसाद हृदयेश, ज्वालादत्त शर्मा आदि लेखकों की कई कथाएँ आदर्शवादी ही हैं। प्रस्तुत पुस्तक में 'उत्सर्ग', 'पुरंजनोपाख्यान' आदर्शवादी कहानियां ही हैं। अन्य सब आदर्शोन्मुख यथार्थवाद से ही सम्बन्ध रखती हैं। जैसेकि पहले कहा जा चुका है, आजकल स्वस्थ यथार्थवाद या आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को ही अपनाना उचित समझा जाता है।

इस प्रकार हिन्दी कहानी के विविध रूप-प्रयोगों का स्पष्टीकरण हुआ होगा। उपर्युक्त प्रायः सभी कोटियों को इस पुस्तक में दी गई कहानियों से समझा जा सकता है।

हिन्दी कहानी का विकास

संस्कृत-प्राकृत की प्राचीन कथा-निधि का हम पीछे उल्लेख कर चुके हैं। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में भी कुछ रचनाएं ऐसी अवश्य हैं, जिनमें प्राचीन कथा के कुछ अंश मिलते हैं। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है भक्ति काल का वार्ता-साहित्य। चौरासी वैष्णवन की वार्ता और दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता में हमें वैष्णव-भक्तों के कुछ प्रसंग मिलते हैं। इनमें भी पिछली रचना कुछ अधिक महत्त्व रखती है। इसमें कुछ अधिक कथा-तत्व आए हैं। फिर भी इन की अतिशय धार्मिक और साम्प्रदायिक दृष्टि इन्हें जीवन-तत्वों से शून्य ही बना देती है। खड़ी बोली में भी भारतेन्दु से पूर्व पौराणिक आख्यानों पर आधारित कुछ प्राचीन ढंग की कहानियां लिखी गईं। इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' इनमें उल्लेखनीय है। कुछ विद्वानों ने इस रचना को हिन्दी की पहली कहानी कहा है, परन्तु यह सर्वथा अवैज्ञानिक है। इसमें फारसी की दास्तान-शैली और मसनवी-पद्धति तथा संस्कृत की नीति-शैली ही पाई जाती है। हिन्दी में अरबी-फारसी की दास्तान-शैली और संस्कृत की नीति-शैली पर और भी कुछ कथाएं भारतेन्दु युग से पूर्व लिखी

गई, जैसे राजा शिवप्रसाद की 'गुलाब-चमेली का किस्सा,' 'राजा भोज का सपना,' 'नरसिंह का वृत्तान्त' आदि।

भारतेन्दु काल में यद्यपि गद्य के विभिन्न रूपों का प्रचलन हो गया था और शनैः शनैः उन का विकास भी होने लगा था, किन्तु अभी तक कहानी का कोई सुष्ठु साहित्यिक स्वरूप नहीं बन पाया था। नाटक, प्रहसन एवं उपन्यास की दिशा में जो भी प्रयास हुए, वे ऐतिहासिक दृष्टि से अवश्य ही स्तुत्य हैं। उन में साहित्य की गरिमा भी है। किन्तु इस काल में इन सभी साहित्य-रूपों का कलात्मक विकास अपने शैशव-काल में ही रहा। कहानी का विकास तो हो ही नहीं पाया। इस काल में प्रहसनों की जो प्रचुर रचना हुई, उनकी संवेदनाएं वस्तुतः कहानी की ही थीं, लेकिन उस समय आधुनिक कहानी-कला की ओर दृष्टि न जाने के कारण, संवेदना की ये इकाइयाँ कहानी में न उतर कर प्रहसनों के रूप में ही प्रकट हुई। कहानियाँ प्रायः प्राचीन आख्यायिकाओं के ढर्रे पर ही लिखी जाती थीं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 'हरिश्चन्द्र मैगेजीन', 'कवि-वचनसुधा', 'सारसुधानिधि,' 'हिन्दी प्रदीप,' 'आनन्दकादबिनी' आदि पत्रिकाओं के प्रकाशन से स्वप्न-चित्रों, व्यंग्य-चित्रों आदि साहित्य-रूपों में कहानी के कुछ तत्व अवश्य आने लगे थे। किन्तु कहानी-कला की स्वतंत्र प्रतिष्ठा इस काल में नहीं हो सकी। बा० पुरुषोत्तम दास टंडन द्वारा सम्पादित 'भाग्य का फेर' कहानी जो 'हिन्दी प्रदीप' में सन् १९०० में प्रकाशित हुई, हिन्दी कहानी के इतिहास में एक नये युग के सूत्रपात की सूचक है। इसी वर्ष काशी से 'सुदर्शन' और प्रयाग से 'सरस्वति' का प्रकाशन शुरू हुआ जिन में कहानी की शैली पर कथात्मक रचनाएँ लिखी जाने लगीं।

वस्तुतः हिन्दी की कहानी का प्रारम्भ एवं विकास अंग्रेजी तथा संस्कृत नाटकों की भावानुमोदित कहानियों और बंगाला की हिन्दी अनूदित कहानियों द्वारा ही हुआ। कहानी की यही परिपाटी आगे चल कर विकसित हुई। इसी लिये २०वीं शती का प्रथम दशाब्द कहानी का प्रयोगकाल है। इस में कहानी की विभिन्न शैलियों के दर्शन होते हैं। जैसे वर्णात्मक, भावात्मक और आत्मकथात्मक।

हिन्दी कहानी की उत्पत्ति, प्रयोग और आरंभ इन तीनों के लिए 'सरस्वती' का कार्य महत्त्वपूर्ण है। इसके भी आरंभिक दो वर्षों में कई प्रकार के प्रयोग हुए। भारतेन्दु युग से प्रचलित स्वप्न-शैली, पाश्चात्य या भारतीय नाटकों की छाया पर लिखी, यात्रा-वर्णन के रूप में, जैसे, चन्द्रलोक की यात्रा (केशव प्रसाद सिंह), आत्म-कथा-शैली, जैसे, 'दामोदर राव की आत्म कहानी' (कार्तिक प्रसाद खत्री) आदि प्रयोग हुए। हिन्दी कहानी को एक स्वरूप और क्षेत्र मिला, किन्तु शिल्प-विधि की दृष्टि से कोई मौलिक सफल कहानी प्रकट नहीं हुई। इनमें संयोगपूर्ण विचित्र असंभाव्य घटनाओं की भरमार रहती थी, चरित्र-चित्रण का अभाव था। शैली वर्णनात्मक-इतिवृत्तात्मक रही। डा० कृष्णलाल आदि ने 'इन्दुमती' (किशोरीलाल गोस्वामी) को हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी बताया है, किन्तु वह 'टेम्पेस्ट' की छाया लेकर ही निर्मित हुई है। अतः सन् १९०३ में 'सरस्वती' में प्रकाशित होने वाली आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' को ही प्रथम मौलिक कहानी कहना समीचीन प्रतीत होता है। इसके पश्चात् सन् १९१० तक 'सरस्वती' में कई कहानियाँ निकलीं, जैसे—'एक अशरफी की आत्म कहानी' (वेंकटेश नारायण), 'एक के दो-दो,' 'मेरा पुनर्जन्म' (लाला पार्वती नन्दन), 'चन्द्रहास का अद्भुत आख्यान' (पं० सूर्य नारायण दीक्षित), 'दुलाई वाली' (बंग महिला) आदि। इनमें कला की दृष्टि से अन्तिम कहानी का विशेष महत्त्व है।

कलात्मक कहानी के विकास में 'इन्दु' पत्रिका का प्रकाशन एक महत्वपूर्ण घटना है। 'इन्दु' में ही श्री जयशंकर प्रसाद जी की 'ग्राम' कहानी प्रकाशित हुई जो हिन्दी कहानी के विकास में, शिल्प-विधान की दृष्टि से युगान्तर उपस्थित करती है। प्रसाद जी की दूसरी महत्त्वपूर्ण कहानी 'रसिया बालम' उन की भावमयता एवं कल्पना से ओत-प्रोत है। हिन्दी में यह कहानी काव्यात्मक कहानी का श्रीगणेश करती है।

सन् १९१० से सन् १९१६ तक का समय हिन्दी कहानी के विकास की पहली मंज़िल है। मौलिक कलात्मक कहानियों के प्रथम दर्शन इसी

काल में होते हैं। सन् १९१५ और १९१६ में प्रकाशित पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की 'उस ने कहा था', विश्वंभरनाथ जिज्जा की, 'विदीर्ण हृदय' एवं प्रेमचन्द की 'सौत' और 'पंचपरमेश्वर' उच्चकोटि की कहानियाँ हैं और कहानी कला की कसौटी पर खरी उतरती हैं। हिन्दी कहानी कला के विकास में इन कहानियों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इन कहानियों की गूंज हिन्दी साहित्य में सर्वत्र व्याप्त है।

मुंशी प्रेमचन्द का हिन्दी के क्षेत्र में अवतरण एक क्रान्तिकारी घटना है। प्रेमचन्द जी ने टेकनीक (शिल्प विधान) की दृष्टि से हिन्दी-कहानी को विशेष रूप से प्रभावित किया। उन्होंने तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक समस्याओं को लक्षित कर कहानियां लिखीं और इस प्रकार कहानी के पथ को प्रशस्त किया। उनकी कहानियां किसी-न-किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर आधारित हैं। उनकी लगभग ३०० कहानियों में भाव-संवेदनाओं का अथाह और विस्तृत सागर उमड़ा हुआ है। आरंभिक कहानियों में आदर्श, संयोग, घटना, स्थूल चरित्र-सृष्टि रहती थी, किन्तु ज्यों-ज्यों लिखते गए कला में सूक्ष्मता आती गई। आदर्श से यथार्थ, घटना और संयोग से मनोविज्ञान तथा आन्तरिक सूक्ष्मता की ओर प्रेमचन्द बढ़ते गए। उन्होंने हिन्दी को सभी प्रकार की कहानियाँ दीं। किन्तु उद्देश्यपूर्ण सामाजिक आदर्शोन्मुख यथार्थ ही उनकी कहानियों का मुख्य आधार रहा।

प्रेमचन्द जी की कहानी कला के क्रमिक विकास के साथ-साथ श्री जयशंकर प्रसाद की कहानी-कला भी प्रौढ़ता को प्राप्त हो रही थी। उनकी कल्पना-युक्त भावपूर्ण कहानियाँ अपने ढंग की अनूठी हैं। दार्शनिकता, काव्यात्मकता, कल्पना, एक विशेष प्रकार का स्वच्छन्दतापूर्ण रोमानी वातावरण, सांस्कृतिक गौरव-गरिमा, करुणा, सौन्दर्य, उन्मुक्त प्रेम, उत्सर्ग, आनन्दवादी आदर्शात्मकता प्रसाद की कहानी कला की ऐसी विशेषताएँ हैं, जो उन्हें विश्व-कलाकार सिद्ध करती हैं। अतीत की ऐतिहासिक संवेदनाएँ अपनाकर प्रसाद जी ने कल्पना, भावुकता, कवित्व, उत्सर्गपूर्ण स्वच्छन्द प्रेम से युक्त जो कला-संस्थान स्थापित किया, उसमें आगे चलकर गोविन्द बल्लभ पंत, विनोदशंकर व्यास, राय कृष्ण

दास आदि कितने ही कहानीकारों ने अपना—अपना कलात्मक विकास दिखाया।

प्रेमचन्द और प्रसाद दोनों हिन्दी कहानी-साहित्य के अमर कलाकार हैं। दोनों ने नवीन प्रवृत्तियों और नव्यतर सवेदनाओं को कहानी के शिल्प-विधान में गूंथ कर जो अनुपम कला-कौशल का परिचय दिया है, वह हिंदी साहित्य को विश्व-साहित्य में गौरव प्रदान करता है। जीवन के प्रति दोनों का दृष्टिकोण अलग-अलग था। इसी कारण उनकी कहानियों के रचना-विधान और भाषा-शैली आदि में भेद स्पष्ट है। इन दोनों ने हिन्दी में दो पृथक्-पृथक् संस्थानों की स्थापना की। प्रेमचन्द जी की आदर्शोन्मुख यथार्थवादी सामाजिक कथा-शैली के आदर्श को सामने रखकर सुदर्शन, विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, ज्वालादत्त शर्मा, वृन्दावन लाल वर्मा आदि लेखकों ने अपनी-अपनी प्रतिभा का विकास दिखाया। श्री विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक ने प्रेमचन्द जी के यथार्थवादी दृष्टिकोण को लेकर 'ताई', 'वह प्रतिमा', 'पगली', 'पत्नी', 'काकी', 'न्याय' आदि सुन्दर कहानियाँ लिखीं। उन्होंने प्रेमचन्द जी के समान ही अपने पात्रों के सफल मनोवैज्ञानिक चित्र खींचे हैं। संवाद-प्रधान कहानियाँ लिखने में आप को विशेष सफलता मिली है।

प्रेमचन्द जी की यथार्थोन्मुख आदर्शवादी कहानियों की परम्परा को पुष्ट करने और उसे प्रौढ़ बनाने वालों में सुदर्शन मुख्य हैं। वे सफल कहानी कलाकार है। 'हार की जीत', 'कवि की स्त्री', 'सदासुख', 'एथेन्स का सत्यार्थी', 'सूरदास', 'संसार की सब से पहली कहानी' सुन्दर आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कहानियाँ हैं। अपनी कहानियों में उन्होंने कथावस्तु, चरित्र और उद्देश्य तीनों का सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया है।

चतुरसेन शास्त्री, राय कृष्णदास, चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' आदि की कहानियों में प्रसाद जी की भाव धारा का परिचय मिलता है। चतुरसेन शास्त्री की 'जीजा जी', 'खूनी', 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' आदि कहानियों में कहानी कला का आदर्श और प्रसाद-शैली का परिपालन स्पष्ट

परिलक्षित होता है। राय कृष्णदास जी की कहानियों में भी प्रसाद की कल्पना और भावुकता पाई जाती है। अतीत इतिहास और कला के धरातल से आपने 'रमणी का रहस्य', 'प्रसन्नता की प्राप्ति', 'अन्त: पुर का आरंभ', 'सम्राट का स्वत्व', 'कला और कृत्रिमता', 'माँ की आत्मा', आदि सुन्दर कहानियाँ रची हैं। चंडी प्रसाद 'हृदयेश' ने कुछ-एक गिनी-चुनी कहानियाँ ही लिखी हैं। 'साधना', 'करुणकथा', 'प्रायश्चित', 'उत्सर्ग', 'समर्पण' आदि उन की कहानियाँ काव्यात्मक वातावरण में भीगी हुई हैं। वे बरबस प्रसाद जी की याद दिला देती हैं।

प्रेमचन्द और प्रसाद जी की कहानी कला क्रमश: विकसित होकर प्रौढ़ता को प्राप्त हुई। सन् १९२७ से सन् १९३७ तक इन श्रेष्ठ कलाकारों की अन्य श्रेष्ठ कहानियाँ भी प्रकाशित हुई। प्रेमचन्द जी की इस दौरान में लिखी कहानियाँ—'मजहबी पागलपन', 'अलग्योझा', 'स्वप्न', 'कफन', आदि कहानी कला का चरम आदर्श प्रस्तुत करती हैं। प्रसाद जी ने भी इस काल में 'आकाशदीप', 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' आदि कहानी-संग्रह प्रकाशित किये। इन कहानी संग्रहों में प्रसाद जी की अन्त: विश्लेषण करने की क्षमता बहुत ही निखर उठी है।

सन् १९३० के आसपास देश की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक परिस्थितियों में परिवर्तन होने लगे। पाश्चात्य साहित्य एवं सभ्यता के प्रसार के कारण अनेक प्रकार की साहित्यिक एवं सामाजिक मान्यताएँ प्रकाश में आने लगीं। जीवन जटिल हो गया, संघर्ष बढ़ गया। मनोविज्ञान-शास्त्र की प्रगति हो जाने से कहानीकार मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व पर ज़ोर देने लगे। हिन्दी कहानी में सामाजिक चेतना भी उत्तरोत्तर व्यक्ति-स्वातंत्र्य की परिचायक हुई। व्यक्ति के आचरणों की अच्छाई-बुराई की परख परम्परागत नैतिकता के स्थान पर व्यक्ति की ही परिस्थितियों के आधार पर नवीन मूल्यों के प्रकाश में की जाने लगी। उससे कहानी की भाव-धारा अन्तर्मुखी होती गई। मनोवैज्ञानिक कहानी ही आदर्श कहानी मानी जाने लगी। श्री जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय आदि की मनोवैज्ञानिक कहानियां साहित्य-क्षेत्र में आने लगीं। इसी

प्रकार चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, 'निराला', भगवतीचरण वर्मा, सियारामशरण गुप्त, कमलाकान्त वर्मा, कमला देवी चौधरी, श्रीमती होमवती आदि लेखकों ने भी विविध प्रकार की कहानियां लिखीं।

जैनेन्द्र जी एक श्रेष्ठ कहानीकार हैं। 'खेल', 'साधु का हठ', 'हत्या', 'एक रात', 'पत्नी' आदि कहानियों द्वारा उनकी कहानी-कला का समुचित अध्ययन किया जा सकता है। जैनेन्द्र जी ने अपनी कहानियों द्वारा एक नई प्रवृत्ति का प्रतिष्ठापन किया। जैनेन्द्र जी ने पात्रों की व्यक्तिगत मानसिक अवस्थाओं का सफल मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है।

अज्ञेय तथा इलाचन्द्र जोशी मनोवैज्ञानिक कथा-धारा में प्रमुख स्थान रखते हैं। अज्ञेय जी की कहानियों में व्यक्ति-चरित्र का सुन्दर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पाया जाता है। शैली-निर्माण की मौलिकता और कला-लाघव अज्ञेय-जैसा कम ही कहानीकारों में दिखाई देता है। व्यक्ति और समाज का द्वन्द्व इनकी कहानियों में खुलकर प्रकट हुआ है। कहानीकला में अज्ञेय सर्वाधिक प्रयोगशील रहे हैं। जोशी जी की कहानियों का धरातल भी मनोविज्ञान ही है। वे फ्रायड के यौनवाद से प्रभावित हैं।

सन् १९३० के पश्चात् दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति मार्क्सवाद के प्रभाव से प्रगतिवादी कथा-प्रवृत्ति आई। इसके अग्रणी और प्रतिनिधि लेखक हैं श्री यशपाल। इसमें व्यक्ति के स्थान पर सामूहिकता को महत्व मिला। परम्परागत सामंतीय एवं पूँजीवादी भावनाओं तथा रूढ़ियों का खण्डन, वर्ग-वैषम्य, वर्ग-चेतना और वर्ग-संघर्ष, समस्याओं का आर्थिक आधार आदि इस वर्ग की कहानियों का मुख्य उपजीव्य बना। व्यंग्य के अस्त्र से समाज की यथार्थ आलोचना इनमें हुई है। नागार्जुन, मन्मथ नाथ गुप्त, अमृत राय, रांगेयराघव, हंसराज रहबर, रामवृक्ष बेणीपुरी, मोहन लाल महतो आदि अनेक लेखक इसी कोटि में आते हैं। बेचन शर्मा उग्र ने नग्न-यथार्थवादी प्रवृत्ति को जन्म दिया। पर अब वे भी स्वस्थ मार्ग पर आगए हैं।

प्रेमचन्द की आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी परम्परा को अधिक मानवतावादी और मनोवैज्ञानिक पुट देकर उपेन्द्रनाथ अश्क, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, सियाराम शरण गुप्त, भगवती चरण वर्मा, कमलादेवी चौधरी, अमृतलाल नागर, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, विष्णु प्रभाकर, होमवती देवी, शिवपूजन सहाय, धर्मवीर भारती आदि अनेकानेक कहानीकारों ने अपने-अपने ढंग पर विकसित किया है और हिन्दी कहानी को कलात्मक प्रौढ़ता पर पहुँचाया है।

प्रसाद-प्रेमचन्द के समय से ही ऐतिहासिक कहानियों की रचना आरंभ हो गई थी। इस क्षेत्र में प्रसाद की देन भी कम महत्वपूर्ण नहीं थी। वृन्दावन लाल वर्मा, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, शिवपूजन सहाय, राहुल सांकृत्यायन आदि अनेक लेखकों ने श्रेष्ठ ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी हैं।

हिन्दी में हास्य-व्यंग्य कहानियों की भी अब पर्याप्त रचना होने लगी है। श्री जी० पी० श्रीवास्तव से आरंभ होकर यह प्रवृत्ति सर्वश्री अन्नपूर्णानंद, राधाकृष्ण, कृष्णदेव प्रसाद गौड़, बेढब बनारसी, कृष्णचन्द्र, उपेन्द्र नाथ अश्क आदि में विकसित हुई है। जैसाकि पहले दिखाया जा चुका है, हिन्दी कहानीकारों ने अनेक भाव-विषय और शैलीगत प्रयोग भी किए हैं। सभी प्रकार की प्रतीकात्मक, रूपक-कथाएँ, स्वप्न-शैली, पत्र, डायरी, आत्मकथात्मक, आत्म-भाषण, संवाद-प्रधान आदि शैलियाँ प्रकट हो रही हैं। सब प्रकार की राजनीतिक, सामाजिक, राष्ट्रवादी, मानवतावादी, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक आदि संवेदनाएँ हमारे कहानीकार अपना रहे हैं। हिन्दी कहानी ने पिछले ५० वर्षों में ही सम्पूर्ण कला-विधियों को अपने में समेट लिया है। मनोवैज्ञानिकता, अनुभूति-मूलक बौद्धिकता, यथार्थवाद, मानवतावादी भाव-संवेदनाओं से पूर्ण हमारा वर्तमान कहानी-साहित्य विश्व-साहित्य में उच्च स्थान का अधिकारी है। भविष्य बड़ा ही आशापूर्ण है, अनेकानेक नवीन प्रतिभाएँ भी दिखाई दे रही हैं।

प्राचीन कहानियां

उपनिषद् की कथाएँ

(विवेचना के लिए देखिए आरम्भिक पृष्ठ १)

सच्ची उपासना : शौनक और अभिप्रतारी नामक दो ऋषि थे। वे वायु देवता के उपासक थे। एक दिन दोपहर को जबकि वे थालियों में परोसे हुए भोजन पर बैठने वाले थे, एक क्षुधार्त ब्रह्मचारी ने द्वार पर भिक्षा मांगी।

"नहीं, इस समय यहाँ भोजन नहीं।" रूखा-सा उत्तर मिला। ऋषियों के आश्रम से ऐसा उत्तर पाकर ब्रह्मचारी को बहुत आश्चर्य हुआ। अतः वह वहीं खड़ा रहा और ऋषियों से दो बात करने का विचार किया। उसने थोड़ी देर बाद ऋषियों से पूछा—"मान्यवर महोदय, क्या मैं जान सकता हूँ कि आप किस देवता के उपासक हैं?"

ऋषियों ने कहा—"वायु अर्थात् प्राण देवता के।"

ब्रह्मचारी—"तब आप को यह तो विदित ही होगा कि यह संसार प्राण को ही धारण किये हुए है और उसी में विलीन हो जाता है, अर्थात् यह प्राण प्रत्यक्ष और परोक्ष सभी में व्याप्त है।"

ऋषि बोले—"निश्चय ही हम जानते हैं, तुम नई बात नहीं कह रहे।"

ब्रह्मचारी—"यह भोजन आपने किसके लिये बनाया है?"

ऋषि—"अपने इष्टदेव के ही लिये। और भला किसके लिये होता?"

ब्रह्मचारी—"यदि प्राण सर्वव्यापी है, तो वह मुझ में भी वैसे ही है, क्योंकि मैं इस सृष्टि का ही एक भाग हूँ। वही प्राण इस भूखे शरीर में भी अवश्य निवास करता है।"

ऋषि—"तुम सच कहते हो, ब्रह्मचारी।"

ब्रह्मचारी—"तो महामना ऋषियो, मुझे भोजन देने से इन्कार करके तुम उस प्राण को—उसी अपने देवता को—भोजन नहीं दे रहे हो जो प्राण मुझ में है और जिसके लिये तुमने यह भोजन पकाया है।"

दोनों ऋषि बहुत लज्जित हुए। वे समझ गए कि सर्वव्यापी परमतत्व की सच्ची उपासना क्या है। उन्होंने उस ब्रह्मचारी को बड़े आदर से अन्दर बुलाया और बड़े प्रेम से साथ बिठा कर भोजन कराया। वे केवल अपने संकुचित प्रत्यक्ष के फेर में पड़े थे और तत्व से अनभिज्ञ थे, जो वास्तव में जानने योग्य है।

प्रश्नोत्तर रूप में छान्दोग्य उपनिषद् का यह कैसा रोचक शिक्षाप्रद संवाद है! ज्ञान की जिज्ञासा से पूर्ण एक और कथा छान्दोग्य उपनिषद् से ही दी जाती है। देव और असुर की इस कथा द्वारा छान्दोग्य उपनिषद् के ऋषि ने आत्मा के ज्ञान को खोल कर समझाया है।

देव और असुर : एक बार प्रजापति ने घोषणा की—आत्मा पाप से भंग नहीं होता। रोग-शोक, जरा-मरण से अप्रभावित रहता है। यह केवल सत्यस्वरूप है, अतः पूर्ण है। इसी की खोज करनी चाहिये। जो इसे जान लेता है उसे तीनों लोक प्राप्त हो जाते हैं, वह पूर्णकाम हो जाता है।"

देवताओं और असुरों ने जब इस घोषणा को सुना तो वे आत्मज्ञान के लिये लालायित हो उठे। देवताओं के प्रतिनिधि-स्वरूप इन्द्र और असुरों की ओर से विरोचन अपने-अपने हाथ में यज्ञ-समिधाएँ लेकर, शिष्यों की तरह, प्रजापति के पास गये और कहा—"गुरुदेव हम आपसे आत्मा का ज्ञान सुनने और प्राप्त करने आए हैं।"

प्रजापति ने उन्हें ३२ वर्ष तक वहाँ रहने को कहा। वे दोनों ब्रह्मचारियों की तरह नियम-संयमपूर्वक रहे। अवधि पूरी होने पर प्रजापति ने दोनों को पास बुला कर कहा—"यह, यह पुरुष जो आंख की पुतली में दीख रहा है, आत्मा है। यह निर्भय और अमर है। यही ब्रह्म है! जल और दर्पण में यही नज़र आता है। तुम दोनों जल और दर्पण में उसे देखो और बताओ कि तुमने क्या देखा? यदि तब भी आत्मा को न समझ सको, तो कहना।"

अगले दिन प्रजापति ने उनसे पूछा कि उन्होंने क्या अनुभव किया। दोनों ने कहा, "महाराज हमें अपना यह सब आपा नज़र आया। हमने अपने शरीर की नख-शिख छाया देखी।"

प्रजापति ने कहा—"अच्छी तरह दाढ़ी-मूंछ साफ़ कराओ, सुन्दर-सुन्दर वस्त्र-आभूषण पहनो, तब जल या दर्पण में देखो। जो अनुभव हो, बताना।" दोनों ने बताया कि हमने अपनी सजी-धजी सूरतें—अपने भव्यरूप को पानी में देखा। प्रजापति बोले—"बस यही तो निर्भय, श्रेष्ठ और अमर आत्मा है, यही ब्रह्म है।"

यह सुनकर दोनों सन्तुष्ट हुए और अपने-अपने घरों को चल दिये।

उन दोनों को जाते देख प्रजापति अपने मन में कहने लगे—सच्चे आत्मा को जाने बिना ही ये चले जा रहे हैं, निश्चय ही अज्ञानता के कारण इनका विनाश होगा।"

आत्म-सन्तुष्ट विरोचन असुरों के बीच गया और सबको यह ज्ञान सिखलाने लगा। वह इसे ही अन्तिम सत्य मान चुका था। उसने कहा—"अपने को सजाओ, अपने शरीर को बनाओ, संवारो, खिलाओ-पिलाओ। अपनी प्रशंसा करो, आत्मपूजन करो। इहलोक और परलोक सब प्राप्त होंगे।" असुरों ने शरीर को ही आत्मा मान लिया। उसे ही पुष्ट करने लगे। वे इन्द्रिय-सुख ही सब कुछ मान बैठे।

किन्तु देवताओं के प्रतिनिधि इन्द्र ने सुरलोक पहुँचते ही अपनी समझ-बूझ दौड़ाई और शीघ्र ही अनुभव किया कि जो ज्ञान उसने प्राप्त किया है, उसमें अवश्य ही त्रुटि है। उसे अनुभव हुआ कि जल या दर्पण में शरीर की सुन्दर परछाईं अमर आत्मा नहीं हो सकती। शरीर मृत्यु को प्राप्त होता है, जरा-मरण, रोग-शोक से ग्रस्त होता है, तब इसकी परछाईं अविनाशी आत्मा कैसे हो सकती है? इस असन्तोष के कारण वह वापस प्रजापति के पास पहुँचा और अपनी आशंकाएँ प्रकट कीं—"मुझे तो इस शरीर या इसकी छाया में कुछ भी सार नज़र नहीं आता। कृपया मुझे अपना पाठ फिर पढ़ाइए और भली-भांति समझाइए।"

अपने शिष्य की यथार्थ जिज्ञासा-भरी शंका से प्रजापति बहुत प्रसन्न हुए और बोले—"अच्छा, तो ३२ वर्ष और यहां रहना होगा। तब मैं इस विषय पर और प्रकाश डालूंगा।"

अवधि की समाप्ति पर प्रजापति ने इन्द्र से कहा—"स्वप्न-चेतना में जो प्रभु या स्वामी बना विचरता है, वही आत्मा है।" इन्द्र सुनकर फिर सुरलोक की ओर चल दिए। किन्तु रास्ते में सोचने-विचारने पर उन्हें फिर सन्देह हुआ—"भला स्वप्न-गत महत् आत्मा क्योंकर हो सकता है? स्वप्न मिथ्या है। जाग्रत रूप में फिर रोग-शोक का अनुभव होता है। अतः स्वप्न-अनुभूति सच्ची आत्मानुभूति कैसे हो सकती है? निश्चय ही निर्भय और निष्पाप आत्मा को जानने में भूल हुई है।"

इन्द्र फिर प्रजापति के पास लौटा और मन की शंका प्रकट की। प्रजापति ने उसे ३२ साल और वहां रहने का आदेश दिया। इस अवधि के बाद गुरु ने कहा—"गहरी नींद का जो पूर्ण प्रसन्न स्वात्म रूप अनुभव है, वही आत्मा है।"

इन्द्र को विश्वास होगया कि अब उसे ठीक आत्मज्ञान हो गया है। किन्तु सुरलोक पहुंचते-पहुंचते उसकी विचार-बुद्धि फिर संशयालु हो उठी। उसने सोचा—"स्वप्नहीन गहरी नींद में स्वात्म को निज का अनुभव ही नहीं होता, स्वचेतना उसे रहती ही नहीं। फिर वह चेतना-विहीन प्राणी, जिसे सदा-प्रकाशमय स्वात्म कहा जाता है, आत्मा कैसे माना जाय?"

इन्द्र देव फिर लौट आए और प्रजापति से अपनी शंका कही। इस बार प्रजापति ने उसे केवल ५ वर्ष तक अपने पास रखा। १०० वर्ष की अवधि में उसकी ज्ञान-पिपासा, विचार-शक्ति, सच्ची लगन आदि सब परिपक्व हो गई थीं। तब प्रजापति ने उपदेश दिया—"हे इन्द्र, तुमने अपने अचल विश्वास, निरन्तर यत्न और तीव्र अनुसन्धान से स्वयं को श्रेष्ठ सत्य जानने का सच्चा अधिकारी सिद्ध कर दिया है। यह शरीर तो काल का ग्रास बनने वाला एक नश्वर पदार्थ है। यह कायाहीन आत्मा का नश्वर आवास है। शरीर-बद्ध आत्मा पर भले-बुरे, वांछनीय-अवांछनीय सभी का प्रभाव

पड़ता प्रतीत होता है। पर, वास्तव में आत्मा शुद्ध तत्त्व है जो इन भेदों से परे है। जिस प्रकार वायु, बादल और बिजली इस निराकार आकाश में थोड़ी देर अपना रूप-आकार धारण करते हैं और फिर विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार शरीर भी कुछ समय के लिए रूप-रंग-आकार प्राप्त करते हैं और फिर लुप्त हो जाते हैं। जितने समय यह आत्मा इस प्रकार के शरीरों में रहता है, उसपर प्रतिबन्ध लगा हुआ-सा प्रतीत होता है। किन्तु इस शरीर के पिंजरे से मुक्त होते ही वह फिर अनन्त आत्मा में विलीन हो जाता है। जब आत्मा शरीर छोड़ देता है तो वह असीम लोकों में उन्मुक्त भ्रमण करता है। प्रकृति और जीव का महत्त्व आत्मा के ही कारण है। इस सृष्टि का अन्तिम और सच्चा आगार आत्मा ही है।"

इन्द्र ने सुरलोक में जाकर यह ज्ञान अन्य देवताओं को दिया और इसी ज्ञान के कारण वे देवता बने हुए हैं।

जीमूतवाहन-कथा (कथासरित्सागर)

(भूमिका के लिए देखिए आरम्भिक पृष्ठ)

पर्वतराज हिमालय पर कांचनपुर नाम का एक नगर था। वहां विद्याधरों का राजा जीमूतकेतु रहता था। उसके उद्यान में कुलपरम्परा से प्राप्त, सब मनोरथों को पूरा करने वाला, एक कल्पवृक्ष था, जिसकी कृपा से राजा को जीमूतवाहन नामक परम दानी, कृपालु महापुरुष, धर्मात्मा पुत्र की प्राप्ति हुई। पुत्र के युवावस्था प्राप्त करने पर राजा ने उसे सिंहासन पर बिठा दिया।

युवराज होने पर जीमूतवाहन ने कल्पवृक्ष के सम्बन्ध में सोचा—"हमारे पूर्वजों ने अपने क्षुद्र स्वार्थ की पूर्ति के अतिरिक्त इस वृक्ष से कोई लाभ नहीं उठाया। मैं इससे अपना मनोरथ पूरा करूँगा।" यह विचार कर उसने कल्पवृक्ष से कहा--"देव ! मेरी एक कामना पूरी करें। मैं इस समस्त संसार को दरिद्रता से मुक्त देखना चाहता हूँ; इसलिए, भद्र, जाओ, मैं तुम्हें संसार को देता हूँ।" यह कहना था कि क्षण में ही कल्पवृक्ष ने आकाश में उठकर इतनी धन-वर्षा की कि पृथ्वी पर कोई भी दरिद्र न रहा।

सब प्राणियों पर दया दिखाने के कारण जीमूतवाहन का तीनों लोकों में यश फैल गया। तब ईर्ष्या के कारण असहिष्णु हुए, उसके कुल-बन्धुओं ने जीमूतवाहन के राज्य को हथियाने के लिये युद्ध की तैयारी की। यह देखकर जीमूतवाहन ने अपने पिता को कहा—"तात, आपके शस्त्र धारण करने पर किस शत्रु की शक्ति ठहर सकती है ? किन्तु इस नाशवान् पापी शरीर के लिये बन्धुओं को मारकर कौन राज्य की इच्छा करे ? इसलिए कहीं अन्यत्र जाकर हम दोनों लोकों का सुख देने वाले धर्म का ही आचरण करें। राज्य के लोभी ये बन्धु-बान्धव आनन्द करें।" पिता ने कहा—"पुत्र, तेरे लिए ही राज्य है। यदि तू ही दया करके उसे छोड़ रहा है, तो मुझ वृद्ध को इससे क्या ?" इस प्रकार दयार्द्र होकर जीमूतवाहन राज्य को त्याग कर मलयाचल पर चला गया, वहां आश्रम बना कर रहने लगा और माता-पिता की सेवा करने लगा।

एक बार जीमूतवाहन एक मुनिपुत्र के साथ घूमता हुआ जंगल में देवि-मन्दिर देखने गया। वहाँ उसने भगवती पार्वती की आराधना के लिए आई हुई, अपनी सखियों के साथ बैठी वीणा बजाती हुई किसी सुन्दरी कन्या को देखा। देखते ही तुरन्त दिल खो बैठा। वह कन्या भी उसके प्रति आकर्षित हुई। जीमूतवाहन के पूछने पर, उसकी एक सखी ने उसका नाम और वंश बताते हुए कहा—यह मित्रावसु की बहन और सिद्धराज विश्वावसु की पुत्री मलयवती है।" सखी के पूछने पर मुनि-पुत्र ने भी जीमूतवाहन का नाम, वंश बता दिया। दूसरी सखी जीमूतवाहन का आतिथ्य-सत्कार करती हुई उसके लिए एक पुष्पमाला लाई। उसने प्रेम में भरकर उस माला को मलयवती के गले में डाल दिया। इतने में एक दासी ने आकर कहा—"राजकुमारी, तुझे माता ने बुलाया है।" यह संदेश पाकर मलयवती ने अपने प्रिय जीमूतवाहन के मुख से अपनी दृष्टि को बड़ी कठिनाई से किसी प्रकार हटाया और घर को चली। जीमूतवाहन भी उसका ही ध्यान मन में रखे अपने आश्रम में आ गया। तब से दोनों प्रेम-पाश में बन्ध गए।

सिद्धराज विश्वावसु यह जानकर बड़ा प्रसन्न हुआ कि महात्मा जीमूतवाहन यहाँ मलयाचल पर आकर रह रहा है। उसने अपने पुत्र मित्रावसु को जीमूतवाहन के पिता के पास भेजकर अपनी कन्या उसे देने का अपना आशय कहा। एक शुभ दिन को जीमूतवाहन के साथ मलयवती का विवाह कर दिया गया।

एक दिन जीमूतवाहन अपने साले मित्रावसु के साथ मलयपर्वत से भ्रमण करता हुआ समुद्र-वेला देखने गया। वहां पर एक जगह ही बहुत सी अस्थियों का ढेर देख कर उसने मित्रावसु से पूछा—"यह किन प्राणियों की अस्थियों का ढेर है?" मित्रावसु ने कहा —"पक्षिराज गरुड़ प्राचीन वैर के कारण पाताल में प्रविष्ट होकर सदा नागों को खाता था। कुछ को खाता, कुछ को कुचलता और कुछ डर के मारे अपने आप मर जाते। यह देखकर नागराज वासुकी ने सब नागों की समाप्ति की आशंका से गरुड़ को विनय-पूर्वक कहा—"पक्षिराज, मैं आपके आहार के लिए हर रोज़ एक-एक नाग को दक्षिण सागर के तट पर भेज दूंगा, आप पाताल में प्रवेश न करें। एकदम ही सब नागों का नाश करने में आपका क्या लाभ है?" स्वार्थदर्शी गरुड़ ने स्वीकार कर लिया। उसके बाद नित्यप्रति वासुकी द्वारा भेजे गये एक-एक नाग को खाने के कारण तथा खाए हुए नागों की ये अस्थियां काल-क्रम से संचित होने के कारण इतनी एकत्र पड़ी हैं।"

यह सुनकर दयानिधि जीमूतवाहन को बहुत दुःख हुआ। उसने मन में सोचा—"यह कुटिल वासुकी कैसा है, जिसने—"मुझे ही पहले खालो"—ऐसा न कहकर प्रतिदिन एक-एक नाग को शत्रु का आहार बनाया। और यह निर्दयी गरुड़ भी कैसा है, जो नित्य ऐसा पाप करता है। मैं आज ही अपने इस निस्सार शरीर से किसी नाग के प्राणों की रक्षा करूँगा।"

इतने में उन दोनों को बुलाने के लिये दूत आया। "मित्रावसु, तुम चलो। मैं पीछे आऊँगा," यह कहकर और उसे घर की ओर भेजकर जब जीमूतवाहन स्वयं अकेला घूम रहा था तो उसने दूर से एक रोदनध्वनि सुनी। वहां जाकर उसने देखा कि एक वृद्धा एक सुन्दर युवक के पास बैठी—"हा

पुत्र, शंखचूड़, मैं तुझे अब कहां देखूंगी ?"—इस प्रकार विलाप कर रही थी। जीमूतवाहन ने शीघ्र जान लिया कि यह गरुड़ का बलि नाग है। उस दयावान् महासत्त्व ने मन में कहा—"यदि इस नाशवान् देह से मैं इस दुःखी नाग को न बचाऊं तो मुझे धिक्कार है, मेरा जन्म निष्फल है।" यह विचार कर उसने वृद्धा से कहा—"माता, मत रो। मैं अपना शरीर देकर तेरे पुत्र को बचाऊँगा।" जीमूतवाहन के इतना कहने पर शंखचूड़ ने उसे कहा—"ऐ महात्मा, निश्चय ही आपने बड़ी कृपालुता प्रकट की है। मैं भी तो आपके शरीर के बदले अपने शरीर को बचाना नहीं चाहता। रत्न को खोकर पत्थर की कौन रक्षा करना चाहेगा?" इस प्रकार मना करके वह अपनी माता को कहने लगा—"माता, तुम भी लौट जाओ। और जबतक वह गरुड़ नहीं आता, तब तक मैं समुद्र के तट पर जाकर भगवान् गोकर्ण को नमस्कार करके आता हूँ।"

शंखचूड़ गोकर्ण देव को प्रणाम करने के लिये चला गया। अचानक वायु की तीव्रता से वृक्षों को हिलता देखकर जीमूतवाहन ने सोचा कि गरुड़ के आगमन का समय आगया है। वह स्वयं वध्यशिला पर चढ़ गया। शीघ्र ही अपने पंखों से आकाश को आच्छादित करता हुआ गरुड़ तेज़ी से आया। वह अपनी चोंच से जीमूतवाहन को पकड़ कर उठा ले गया और उसका सिर खाने लगा। चोंच से उखाड़ने के कारण जीमूतवाहन का शिरोरत्न खून से भर गया। गरुड़ ने उसे फेंक दिया। संयोग से वह रत्न मलयवती के आगे आ गिरा। वह देखकर और सब कुछ समझकर बहुत व्याकुल हुई। उसने अपने सास-ससुर को दिखाया। पुत्र का शिरोरत्न देखकर बूढ़े मां-बाप भी आश्चर्य और शोक से भर गए। अपनी योग-विद्या से जीमूतकेतु ने सारा वृत्तान्त जान लिया, और अपनी पत्नी और पुत्र-वधू के साथ शीघ्र ही वहां पहुँच गया जहाँ गरुड़ जीमूतवाहन को खा रहा था।

इधर जब शंखचूड़ गोकर्ण देव की वन्दना करके वापिस लौटा, उसने वध्यशिला को रुधिर से भरा देखा। 'हा, महापाप हुआ है, मैं मारा गया! निश्चय ही उस दयालु महात्मा ने मेरे कारण निज को गरुड़ की भेंट चढ़ा

दिया'—यह विचार कर वह बहुत दुःखी हुआ और लहू की धार का अनुसरण करता हुआ गरुड़-जीमूतवाहन को ढूंढने लगा।

जीमूतवाहन को हंसते-हंसते आत्मोत्सर्ग करते देखकर गरुड़ विचारने लगा—"यह कोई अपूर्व प्राणी है, जो इस प्रकार खाये जाने पर भी प्रसन्न है। यह नाग प्रतीत नहीं होता। पूछना चाहिये कि यह कौन है ?" गरुड़ को रुकते देखकर जीमूतवाहन ने ही कहा—"पक्षीराज, खाना क्यों छोड़ दिया ? अभी मेरे शरीर पर मांस और रुधिर रहता है, इसे भी लो।" यह सुनकर गरुड़ ने बहुत आश्चर्य से पूछा—"तुम नाग नहीं हो, बताओ महात्मन् तुम कौन हो ?" जीमूतवाहन ने कहा 'मैं नाग ही हूँ। यह तुम्हारा कैसा प्रश्न है ? तुम अपना काम करो।"

उन दोनों में यह बातचीत हो रही थी कि शंखचूड़ वहाँ आ पहुँचा। उसने दूर से ही पुकारा—"पक्षीराज, अनर्थ हो गया, मेरा अनर्थ हो गया ! तुम्हें भी क्या भ्रम हुआ ? नाग तो वस्तुतः मैं हूँ। क्या तुम मेरे फण और जिह्वा को नहीं देख रहे ? क्या इस देवजाति विद्याधर की सौम्य-आकृति तुम्हें दिखाई नहीं देती ?"

जीमूतवाहन के माता-पिता और पत्नी भी बहुत जल्दी इसी समय आ पहुंचे। अपने पुत्रको खूनसे लत-पथ देखकर वृद्ध माता-पिता विलाप करने लगे—"हा पुत्र, हा वत्स ! हाय गरुड़, तू ने बिना सोचे-विचारे यह क्या किया ?" गरुड़ यह सब सुनकर बहुत दुखी हुआ। वह सोचने लगा—"हा, इसकी तीनों लोकों में कीर्ति है। मोहवश मैंने इसका भक्षण कर लिया। मेरे पाप का प्रायश्चित्त मेरे अग्नि-प्रवेश से भी न होगा।" वह इस प्रकार विचार-मग्न था, कि घावों की पीड़ा से जीमूतवाहन के प्राण निकल गए। उसके माता-पिता भारी दुख से चिल्लाने लगे। शंखचूड़ आत्मभर्त्सना करता रहा और मलयवती देवी गौरी को उपालम्भ देती हुई दुख प्रकट करने लगी।

इसी समय देवी गौरी साक्षात् प्रकट हुई—"पुत्री, दुखी मत हो।" यह कह कर उसने अपने कमण्डल से जीमूतवाहन पर अमृत छिड़का। इससे जीमूतवाहन सम्पूर्ण अंगों सहित पहले से भी अधिक ज्योति पाकर उठ खड़ा

हुआ। "मैं इसे अपने ही हाथों से विद्याधरों के चक्रवर्ती राज-पद पर अभिषिक्त करूँगी"—यह कह कर देवी ने अपने कलश के जल से उसका अभिषेक किया और अन्तर्धान हो गई। आकाश से पुष्प-वृष्टि हुई, और आनन्द-ध्वनि से गगन मंडल गूँजने लगा।

तत्पश्चात् गरुड़ ने नम्रतापूर्वक जीमूतवाहन से कहा—"महाराज, मुझे आज्ञा करें। मुझ से वांछित वर मांगें।" जीमूतवाहन ने कहा—"आज से आप नाग-भक्षण छोड़ दें और पहले खाये हुए नाग भी जीवित हो जायें।" गरुड़ ने 'एवमस्तु' कहा। वे नाग सब जी उठे, और गरुड़ ने नाग-भक्षण छोड़ दिया। जीमूतवाहन भगवती गौरी की कृपा से चिरकाल तक विद्याधरों का चक्रवर्ती राजा रहा।

पंचतन्त्र, हितोपदेश की कथाएं

हितोपदेश के सुहृद्भेद प्रकरण में करकट और दमनक नाम के दो सियारों की कूटनीति की कथा है। वे अपनी उपाय-नीति से पहले अपने राजा पिंगलक (सिंह) का संजीवक नामक बैल से भय दूर करके दोनों की मित्रता करा देते हैं, फिर अपनी उपेक्षा और हानि की आशंका से दोनों में विरोध कराने का उपाय करते हैं। दमनक करकट से कहता है—"मित्र, जैसे मैंने दोनों में मित्रता बहुत शीघ्र करा दी, वैसे ही इनमें फूट भी डलवा सकता हूँ।" करकट बोला—"परन्तु इनका इतना बढ़ा हुआ स्नेह कैसे छुड़ाया जा सकता है?" दमनक नीति-वाक्य कहताहै—'**उपाय से जो सम्भव है, वह पराक्रम से भी नहीं होता।**' और तब इस नीति-कथन को पुष्ट करने के लिए एक वायस-दम्पति की कथा सुनाता है।

वायस-दम्पति की कथा

किसी वृक्ष पर कव्वों का एक जोड़ा रहता था। उनके बच्चों को उस पेड़ के कोटर में स्थित एक काला सांप खा जाता था। एक बार गर्भवती कव्वी ने कौए से कहा—"स्वामी, इस पेड़ को त्याग दें। यहाँ काले सर्प के रहते हमारी सन्तान कभी नहीं बचेगी। क्योंकि जहाँ दुष्ट स्त्री, धूर्त मित्र,

मुंह चढ़ा सेवक तथा सांप का घर हो वहाँ रहना मानो साक्षात् मृत्यु है।' कौआ बोला—"प्रिये, डरो नहीं, इस बार इसका अपराध क्षमा नहीं करूँगा।" कव्वी बोली—'बलवान् से तुम कैसे लड़ सकते हो?' कौए ने जवाब दिया—यह शंका मत करो, क्योंकि—**जिसके पास बुद्धि है, उसमें बल है। निर्बुद्धि में बल कहां?** देखो मदोन्मत्त शेर को खरगोश ने मार डाला—

सिंह-शशक कथा

मन्दराचल पर दुर्दान्त नाम का एक सिंह रहता था, जो सदा पशुओं को मारता रहता था। एक बार पशुओं ने मिलकर उससे कहा—"मृगेन्द्र, एक साथ ही बहुत से पशुओं का वध क्यों करते हो? यदि आप राजी हों, तो हम आपके आहार के लिए नित्य एक पशु को भेज दिया करें।" सिंह मान गया और उस दिन से एक निश्चित पशु को प्रतिदिन खाने लगा। एक दिन एक बूढ़े खरगोश की बारी आई। उसने विचार किया—'जीवन की आशा से, भय के कारण ही मारने वाले के सामने विनय की जाती है। जब मेरी मृत्यु निश्चित है तो फिर उसके आगे गिड़गिड़ाने से क्या लाभ? अतः धीरे-धीरे जाता हूँ।' उसके देर से पहुँचने पर क्षुधार्त शेर क्रोध से बोला—'तू देर करके क्यों आया है?' खरगोश ने बात बनाई—'महाराज, मेरा दोष नहीं है, मार्ग में आते हुए मुझे दूसरे सिंह ने बल से पकड़ लिया था। उसके आगे फिर लौट आने की शपथ लेकर स्वामी को बताने आया हूँ।' सिंह क्रोधित होकर बोला–'जल्दी चलकर उस दुरात्मा को दिखाओ, कहाँ बैठा है।'

खरगोश उसे एक गहरे कुएं पर ले गया। 'यहाँ आकर स्वामी, स्वयं देख लीजिए'—यह कहकर उस कुएं के जल में उसी सिंह का प्रतिबिम्ब दिखा दिया। तब सिंह गुस्से और गर्व से गरजता हुआ उस प्रतिबिम्ब को दूसरा शेर समझकर उसपर जा पड़ा और इस प्रकार मर गया।'

इसी से मैंने कहा था—'जिसके पास बुद्धि है,' इत्यादि।

कव्वी ने कहा—'मैंने सब सुन लिया है, इस समय जो करना है वह कहो।'

कौए ने कहा—'यहाँ पास के तालाब में एक राजपुत्र नित्य आकर नहाता है। नहाते समय, अंग से उतार कर घाट पर रखे हुए उसके सोने के हार को अपनी चोंच से पकड़ कर इस सांप के बिल में रख दो।' एक दिन कव्वी ने वही किया। फिर सोने के हार को ढूंढने वाले राजकर्मचारियों ने वहां तरुकोटर में काले सांप को देखा और मार डाला।

इसलिये मैं कहता हूँ—'उपाय से जो हो सकता है...इत्यादि।'

करकट ने कहा—'अच्छा, यह बात है तो जाओ। तुम्हारा पथ कल्याणकारी हो।' तब दमनक उन दोनों में युक्ति से भेद उत्पन्न करने के लिए चल देता है।

प्रष्टव्य

१. प्राचीन संस्कृत कथा-साहित्य का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
२. प्राचीन कहानी का स्वरूप-बोध कराते हुए आधुनिक कहानी से उसका अन्तर स्पष्ट कीजिए।
३. "उपनिषदों की कहानियां आत्मज्ञान से पूर्ण हैं"—इस उक्ति का समर्थन पठित कहानियों के आधार पर कीजिए।
४. कथासरित्सागर की जीमूतवाहन-कथा की संक्षिप्त आलोचना करते हुए जीमूतवाहन के आदर्श चरित्र पर प्रकाश डालिए।

स्वर्गीय जयशंकर प्रशाद (सन् १८८९–१९३७)

प्रसाद जी का जन्म बनारस के एक सम्पन्न परिवार में हुआ था। उन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा केवल १२ वर्ष की आयु तक ही स्कूल में पाई थी। तत्पश्चात् घर पर ही संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेज़ी, उर्दू, फ़ारसी और बंगला का अध्ययन किया। आरम्भ से ही आपकी रुचि साहित्यिक थी। १५ वर्ष की आयु में ही दुकान के रद्दी कागज़ों पर कविताएं लिख डालते थे। प्रसाद जी ने प्राचीन भारतीय धर्म-दर्शन और इतिहास का भी गहरा अध्ययन किया। उनके व्यक्तित्व में आर्यों का आनन्दवाद, बौद्धों की करुणा, दया, ममता, क्षमाशीलता तथा भारतीय संस्कृति का अनुरागपूर्ण त्याग, ब्रह्म-तेज के साथ क्षात्र-तेज आदि सभी तत्त्वों का सम्मिश्रण है।

हिन्दी साहित्य में प्रसाद जी जैसा युगान्तरकारी व्यक्तित्व और सर्वतोमुखी प्रतिभा लेकर शायद ही कोई अन्य लेखक अवतरित हुआ हो। साहित्य-कानन की काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास, निबन्ध आदि समस्त फुलवारियों को उन्होंने अपनी प्रतिभा का सौन्दर्य, सौरभ, राग-पराग, रंग-रूप प्रदान किया। काव्य में जहाँ उन्होंने छायावादी सौन्दर्य, कला, कल्पना, प्रेम के कोकिल-गुँजार से वसन्त-श्री उत्पन्न करने का प्रयत्न किया, वहाँ गद्य-कथा-साहित्य को भी अपूर्व दीप्ति प्रदान की है। साहित्य के जिस अंग को भी मां भारती के इस वरद पुत्र ने अपना पारस-संस्पर्श प्रदान किया, वही स्वर्ण-आभ हो उठा।

हिन्दी कहानी के शिल्प-विकास में प्रसाद जी की कुछ कम महत्त्वपूर्ण देन नहीं है। उन्होंने ही सर्वप्रथम अपनी 'ग्राम' कहानी (१९११) द्वारा हिन्दी में मौलिक उत्कृष्ट कहानियों की परम्परा चलाई। इस क्षेत्र में मुन्शी प्रेमचन्द से भी कुछ पूर्व अभूतपूर्व कार्य करने का गौरव उन्हें प्राप्त है। उनकी ऐतिहासिक रोमानी कहानियों में उनके व्यक्तित्व की निहिति स्पष्ट है। सांस्कृतिक चेतना, भावुकता, काव्यात्मकता, कल्पना तथा सौन्दर्य-प्रेम का

चित्रण उनकी सभी कहानियों की सामान्य विशेषता है। प्रसाद जी ने ऐतिहासिक, काल्पनिक, भाव-प्रधान, चरित्र-प्रधान, वातावरण-प्रधान आदि सभी कहानियाँ लिखी हैं। एक विशेष प्रकार का रोमानी वातावरण उनकी प्रायः सभी कहानियों में पाया जाता है। प्रसाद जी की कुछ कहानियां भाव-चित्रों के कारण गद्य-गीत-सी प्रतीत होती हैं, जैसे प्रलय, प्रतिमा, दुखिया, कलावती की शिक्षा (छाया और प्रतिध्वनि संग्रह) आदि कहानियां। इनके कथानक टूटे हुए से विश्रृंखल हैं। इनमें कई कहानियां प्रतीकात्मक हो गई हैं। 'कला' कहानी में रूपक-सृष्टि स्पष्ट है। प्रसाद जी की कुल ६६ कहानियां पाँच संग्रहों—छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आंधी और इन्द्रजाल—में सकलित हैं। भावना, कल्पना, काव्यात्मकता के अधिक पुट के कारण प्रसाद की कहानी कला प्रेमचन्द और उनके संस्थान के सुदर्शन, कौशिक आदि लेखकों से भिन्नता रखती है। भावपूर्ण कहानियों का मार्ग प्रसाद जी ने प्रशस्त किया। प्रसाद जी प्रेमचन्द के राष्ट्र और समाज के घेरे से भी आगे मानवता के उद्‌बोधक हैं। बेड़ी, घीसू, नीरा, इन्द्रजाल, सलीम आदि उनकी कुछ कहानियां घटना-रंजित भी हैं। इनमें उन्होंने कौतूहल-वर्द्धक घटनाओं की अच्छी कल्पनापूर्ण योजना की है। चरित्र-प्रधान कहानियों में दो-चार वाक्य-रेखाओं द्वारा ही वह पात्रों को सजीव बना देते हैं। प्रसाद की कहानियों का आरम्भ और अन्त भी सुन्दर ढंग से हुआ है। संवाद रूप में कहानी का आरम्भ बहुत ही कलापूर्ण है—जैसे 'आकाशदीप' कहानी में। प्रायः उनकी कहानियां चरम सीमा पर ही समाप्त हो जाती हैं, उसके बाद कुछ और कहने की प्रेमचन्द जैसी प्रवृत्ति उनमें नहीं है। प्रसाद के सभी श्रेष्ठ पात्र विशेषकर स्त्री पात्र भावुक, प्रेमी और कारुणिक हो गए हैं। उनके चरित्र प्रेम, करुणा, आदर्श, बलिदान, विद्रोह, क्षमा आदि रेखाओं से निर्मित हुए हैं। प्रायः समस्त कहानियों की स्त्रियां युवती हैं, जो अपने रूप-यौवन से पुरुष को आकर्षित करती हैं। प्रसाद के संवाद अर्थपूर्ण होते हैं। नाटकीयता उनके संवादों की विशेषता है। चुस्त, प्रवाहयुक्त, संक्षिप्त आवेगपूर्ण, प्रश्नोत्तर रूप

में संवाद कहानियों को सजीव बना देते हैं। प्रसाद की भाषा-शैली भी पूर्ण शक्तिशाली है। हिन्दी के शैली-निर्माताओं में प्रसाद का प्रमुख स्थान है। विषय-सामग्री के अनुरूप भाषा-शैली का प्रयोग प्रसाद की विशेषता है। जहां प्रेमचन्द की भाषा मुहावरेदार, सरल, तद्भव-प्रधान, चुस्त, व्यंग्यात्मक है, वहाँ प्रसाद जी की भाषा मुहावरों के स्थान पर लक्षणा-युक्त, संस्कृत-तत्सम-बहुला, कवित्वमय, प्रभाव-पूर्ण भाषा है। प्रसाद की कहानियों की मुख्य संवेदनाएँ करुणा, त्याग और उत्सर्ग हैं। भारतीय संस्कृति के पावन चित्रों को उन्होंने अतीत के गर्भ से निकाला है।

प्रस्तुत कहानी : सीमा-प्रांत के एक छोटे से ग्राम-जीवन का लेखक ने इस कथा में सजीव चित्रण किया है, जहां जाति-पांति का साम्प्रदायिक भेद-भाव भुलाकर हिन्दू और मुसलमान-परिवार प्रेमपूर्वक अपना सरल और निष्कपट जीवन बिताते थे। साम्प्रदायिक दंगों के बाद अब भी क्या इस प्रकार का जीवन वहां किसी गांव में दिखाई देगा ? साम्प्रदायिकता की लपटों से क्या कोई बचा होगा ? यद्यपि पूरा सन्देह है, तथापि इस कथा में व्यक्त सच्चा निश्छल, प्रकृत प्रेम विश्वास दिलाता है कि जिस प्रकार सलीम की साम्प्रदायिक भावना वहां विकार उत्पन्न नहीं कर सकी, वजीरियों के अत्याचार उस पवित्र ग्रामीण जीवन को विचलित नहीं कर सके, उसी प्रकार १६४७ की साम्प्रदायिक आंधी भी उस सीमा-प्रान्त के किसी ऐसे ग्राम के प्रेम-गढ़ से टकरा कर अवश्य मुड़ गई होगी। कोई भी व्यक्ति इस ऐतिहासिक सत्य की खोज कर सकता है।

उस गांव के लोग किस प्रकार सलीम के 'काफिर' शब्द के प्रयोग पर ही आश्चर्य करते हैं। एक हिन्दू नारी के देव-प्रसाद (खीर) को पठान युवक और किशोर कितने आग्रह से माँग कर खाते हैं ! "आंखों में से अनुनय, विनय, हठ, स्नेह सभी तो मांग रहे थे, फिर प्रेमकुमारी सबके लिए एक-एक ग्रास क्यों न देती ?" उनका निसर्ग-प्रेम सलीम के भेद-भाव के भाव को न सुनता है न समझता। लेखक ने स्नेह, प्रेम, साहस, वीरता, दया, क्षमा, त्याग के

उदात्त भावों की भव्य व्यंजना की है। उसने बड़ी सफलता के साथ दिखाया है कि 'मनुष्यता का एक पक्ष वह भी है जहां वर्ण, धर्म और देश को भूल कर मनुष्य मनुष्य के लिये प्यार करता है।' यह प्रसाद जी की बड़ी भारी विशेषता है। कथा-शिल्प बड़ी सफलता से गूँथा गया है। संघर्ष, विरोध, उत्सुकता सब तीव्र गति से बढ़ते हुए चरम सीमा पर समाप्त होते हैं। घटना-रंजित होते हुए भी कथा में सलीम, नन्दराम, प्रेमा और अमीर के चरित्रों पर सुन्दर प्रकाश पड़ा है। सलीम का अन्तर्द्वन्द्व तो बड़ा ही सजीव है। वस्तुतः घटना, चरित्र-चित्रण, भाव और रस, संवाद, देश-काल-वातावरण, भाषा-शैली और उद्देश्य सभी तत्त्वों का पूर्ण सफल सम्मिश्रण इस कहानी जैसा बहुत कम कहानियों में मिलेगा। संवाद अत्यन्त चुस्त, स्वाभाविक और संक्षिप्त हैं। लेखक का उद्देश्य महान् है। विस्मृत मानवता को मानवता का एक अपूर्व सन्देश दिया गया है। इस कथा में प्रसाद जी की भाषा-शैली अधिक सरल और यथार्थ है, उनकी प्राचीन ऐतिहासिक-सांस्कृतिक कहानियों जैसी संस्कृत-गर्भित नहीं है। शैली वर्णन-प्रधान है। कथा का आरम्भ वर्णन शैली में सीधे ढंग पर हुआ है—प्रेमचन्द की कहानियों की ही तरह। अन्त सन्तोषजनक तथा प्रभावपूर्ण है।

सलीम[१]

पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में एक छोटी-सी नदी के किनारे, पहाड़ियों से घिरे हुए उस छोटे से गाँव पर सन्ध्या अपनी धुँधली चादर डाल चुकी थी। प्रेमकुमारी वासुदेव के निमित्त पीपल के नीचे दीपदान करने पहुँची। आर्य-संस्कृति में अश्वत्थ की वह मर्यादा अनार्य-धर्म के प्रचार के बाद भी उस प्रान्त में बची थी, जिसमें अस्वत्थ चैत्य-वृक्ष या वासुदेव का आवास समझ कर पूजित होता था। मन्दिरों के अभाव में तो बोधिवृक्ष ही देवता की उपासना का स्थान था।[२] उसी के पास लेखराम की बहुत पुरानी परचून की दुकान

१. 'इन्द्रजाल' संग्रह से। २. ऐतिहासिक सत्य है।

और उसी से सटा हुआ छोटा-सा घर था। बूढ़ा लेखराम एक दिन जब 'रामा राम जै जै रामा' कहता हुआ इस संसार से चला गया तब से वह दुकान बन्द थी। उसका पुत्र नन्दराम सरदार सन्तसिंह के साथ घोड़ों के व्यापार के लिए यारकन्द गया था। अभी उसके आने में विलम्ब था। गांव में दस घरों की बस्ती थी, जिसमें दो चार खत्रियों के और एक घर पण्डित लेखराम मिसर का था। वहां के पठान भी शान्ति-पूर्ण व्यवसायी थे। इसीलिए वजीरियों के आक्रमण से वह गांव सदा सशंक रहता था। गुलमुहम्मद खाँ—सत्तर वर्ष का बूढ़ा—उस गांव का मुखिया—प्राय: अपनी चारपाई पर अपनी चौपाल में पड़ा हुआ काले नीले पत्थरों की चिकनी मनियों की माला अपनी लम्बी-लम्बी उँगलियों में फिराता हुआ दिखाई देता। कुछ लोग अपने-अपने ऊँट लेकर बनिज-व्यापार के लिये पास की मण्डियों में गये थे। लड़के बन्दूकें लिए पहाड़ियों के भीतर शिकार के लिये चले गये थे।

प्रेमकुमारी दीपदान और खीर की थाली वासुदेव को चढ़ाकर अभी नमस्कार कर रही थी कि नदी के उतार से अपनी पतली-दुबली काया में लड़खड़ाता हुआ, एक थका हुआ मनुष्य उसी पीपल के पास आकर बैठ गया। उसने आश्चर्य से प्रेमकुमारी को देखा। उसके मुँह से निकल पड़ा—काफिर······!

(औत्सुक्य और संघर्ष का प्रारम्भ)

बन्दूक कन्धे पर रक्खे और हाथ में एक मरा हुआ पक्षी लटकाये दूसरी ओर से एक युवक दौड़ता चला आ रहा था। पत्थरों की नुकीली चट्टानें उसके पैर को छूती ही न थीं। मुँह से सीटी बज रही थी। वह था गुलमुहम्मद का सोलह बरस का लड़का अमीरखाँ! उसने आते ही कहा—प्रेमकुमारी, तू थाली उठाकर भागी क्यों जा रही है? मुझे तो आज खीर खिलाने के लिये तूने कह रक्खा था।

'हाँ भाई अमीर! मैं अभी यहां और ठहरती; पर क्या करूँ, यह देख न कौन यहां आ गया है! इसीलिए मैं घर जा रही थी।'

अमीर ने आगन्तुक को देखा। उसे न जाने क्यों क्रोध आ गया।

उसने कड़े स्वर से पूछा—तू कौन है ?

'एक मुसलमान'—उत्तर मिला।

अमीर ने उसकी ओर से मुँह फिराकर कहा—मालूम होता है कि तू भी भूखा है। चल तुझे बाबा से कहकर कुछ खाने को दिलवा दूंगा। हाँ, इस खीर में से तो तुझे नहीं मिल सकता। चल न वहीं, जहां आग जलती दिखाई दे रही है।' फिर उसने प्रेमकुमारी से कहा—'तू मुझे क्यों नहीं देती ? वह देख सब आ जायेंगे, तब तेरी खीर मुझे थोड़ी सी ही मिलेगी।'

सीटियों के शब्द से वायु-मंडल गूंजने लगा था। नटखट अमीर का हृदय चंचल हो उठा। उसने ठुनककर कहा—तू मेरे हाथ पर ही देती जा और मैं खाता जाऊँ।

प्रेमकुमारी हँस पड़ी। उसने खीर दी। अमीर ने उसे मुँह से लगाया ही था कि नवागन्तुक मुसलमान चिल्ला उठा। अमीर ने उसकी ओर अबकी बार बड़े क्रोध से देखा। शिकारी लड़के पास आगये थे। वे सब के सब अमीर की ही तरह लम्बी-चौड़ी हड्डियों वाले स्वस्थ, गोरे और स्फूर्ति से भरे हुए थे। अमीर खीर मुँह में डालते हुए न जाने क्या कह उठा और लड़के आगन्तुक को घेर कर खड़े हो गये। उससे कुछ पूछने लगे। उधर अमीर ने अपना हाथ बढ़ाकर खीर मांगने का संकेत किया। प्रेमकुमारी हँसती जाती थी और उसे देती जाती थी। तब भी अमीर उसे तरेरते हुए अपनी आँखों से और भी देने को कह रहा था। **उसकी आँखों में से अनुनय, विनय, हठ, स्नेह सभी तो मांग रहे थे, फिर प्रेमकुमारी सबके लिए एक-एक ग्रास क्यों न देती ?**[1] नटखट अमीर एक आँख से लड़कों को, दूसरी आँख से प्रेमकुमारी को उलझाये हुए खीर गटकता जाता था। उधर वह नवागन्तुक मुसलमान अपनी टूटी-फूटी पश्तो में लड़कों से 'काफिर' का प्रसाद खाने की अमीर की धृष्टता का विरोध कर रहा था। (**यहां से विरोध बढ़ता है**)। वे आश्चर्य से उसकी बातें सुन रहे थे। एक ने चिल्ला कर कहा—अरे देखो, अमीर तो सब खीर खा गया।

---

१. **सुन्दर लाक्षणिक प्रयोग-असत्त्ववाचक का सत्त्ववाचक रूप में, अर्थात् व्यक्ति के स्थान पर अमूर्त भावों का मानवीकरण।**

सब लड़के घूमकर अब प्रेमकुमारी को घेर कर खड़े होगये। वह भी सबके उजले-उजले हाथों पर खीर देने लगी। आगन्तुक ने फिर चिल्ला कर कहा—'क्या तुम सब मुसलमान हो ?'

लड़कों ने एक स्वर से कहा—हाँ पठान।

'और उस काफिर की दी हुई······?'

'यह मेरी पड़ोसिन है !'—एक ने कहा।

'यह मेरी बहन है।'—दूसरे ने कहा।

(कैसा निश्छल स्नेह प्रकट हुआ है !)

'नन्दराम बन्दूक बहुत अच्छी चलाता है।'—तीसरे ने कहा।

'ये लोग कभी झूठ नहीं बोलते।'—चौथे ने कहा।

'हमारे गांव के लिये इन लोगों ने कई लड़ाइयां की हैं।'—पाँचवें ने कहा।

'हम लोगों को घोड़े पर चढ़ना नन्दराम ने सिखलाया है। वह बहुत अच्छा सवार है।'—छठे ने कहा।

'और नन्दराम ही तो हम लोगों को गुड़ खिलाता है।'—सातवें ने कहा।

'तुम चोर हो'—यह कहकर लड़कों ने अपने अपने हाथ की खीर खा डाली और प्रेमकुमारी हँस पड़ी। सन्ध्या उस पीपल की घनी छाया में पुञ्जीभूत हो रही थी। पक्षियों का कोलाहल शान्त होने लगा था। प्रेमकुमारी ने सब लड़कों से घर चलने के लिए कहा, अमीर ने भी नवागन्तुक से कहा—'तुझे भूख लगी हो, तो हम लोगों के साथ चल।' किन्तु वह तो अपने हृदय के विष से छटपटा रहा था। जिसके लिये वह हिजरत करके भारत से चला आया था, उस धर्म का मुसलमान-देश में भी यह अपमान ! वह उदास मुंह से उसी अन्धकार में कट्टर दुर्दान्त वजीरियों के गांवों की ओर चल पड़ा।

२

नन्दराम पूरा साढ़े छः फुट का बलिष्ठ युवक था। उसके मस्तक में केसर का टीका न लगा रहे, तो कुल्ला और सलवार में वह सोलह आने

पठान ही जँचता। छोटी-छोटी भूरी मूँछें खड़ी रहती थीं।[1] **उसके हाथ में** कोड़ा रहना आवश्यक था। उसके मुख पर संसार की **प्रसन्न आकांक्षा**[2] हँसी बनकर खेला करती। **प्रेमकुमारी उसके हृदय की प्रशान्त नीलिमा में उज्ज्वल वृहस्पति ग्रह की तरह झिलमिलाया करती थी।**[3] आज वह बड़ी प्रसन्नता में अपने घर की ओर लौट रहा था। सन्तसिंह के घोड़े अच्छे दामों में बिके थे। उसे भी पुरस्कार मिला था। वह स्वयं अच्छा घुड़सवार था। उसने अपना घोड़ा भी अधिक मूल्य पाकर बेच दिया था। रुपये पास में थे। वह एक ऊँचे ऊँट पर बैठा हुआ चला आ रहा था। उसके साथी लोग बीच की मण्डी में रुक गये थे; किन्तु काम हो जाने पर, उसे तो प्रेमकुमारी को देखने की धुन सवार थी। ऊपर सूर्य की किरणें झिलमिला रही थीं। बीहड़ पहाड़ी पथ था। कोसों तक कोई गांव नहीं था। उस निर्जनता में वह प्रसन्न होकर गाता आ रहा था।

'वह पथिक कैसे रुकेगा जिसके घर के किवाड़ खुले हैं और जिसकी प्रेममयी युवती स्त्री अपनी काली आँखों से पति की प्रतीक्षा कर रही है।'

'बादल बरसते हैं, बरसने दो। आंधी उसके पथ में बाधा डालती है। वह उड़ जायगी। धूप ? पसीना बहाकर उसे शीतल कर लेगा, वह तो घर की ओर आ रहा है। उन कोमल भुज-लताओं का स्निग्ध आलिंगन और निर्मल दुलार प्यासे को निर्झर और बर्फीली रातों की गर्मी है।'

'पथिक ! तू चल-चल देख तेरी प्रियतमा की सहज नशीली आंखें तेरी प्रतीक्षा में जागती हुई अधिक लाल हो गई हैं। उनमें आँसू की बूंद न आने पावे।'[4]

पहाड़ी प्रान्त को कम्पित करता हुआ बन्दूक का शब्द प्रतिध्वनित

---

१. पात्र का रेखाचित्र।
२. विशेषण-विपर्यय।
३. सुन्दर रूपक।
४. प्रेम भरे गद्य-गीत का आनन्द छलक रहा है।

हुआ । **(फिर उत्सुकता और संघर्ष)** । नन्दराम का सिर घूम पड़ा । गोली सर्र से कान के पास से निकल गई । एक बार उसके मुंह से निकल पड़ा—वजीरी !' वह झुक गया । गोलियां चल चुकी थीं । सब खाली गई । नन्दराम ने सिर उठाकर देखा, पश्चिम की पहाड़ी में झाड़ों के भीतर दो-तीन सिर दिखाई पड़े । बन्दूक साध कर उसने गोली चला दी ।

दोनों तरफ से गोलियां चलीं । नन्दराम की जांघ को छीलती हुई एक गोली निकल गई और सब बेकार रहीं । उधर दो वजीरियों की मृत्यु हुई । तीसरा कुछ भयभीत होकर भाग चला । तब नन्दराम ने कहा—'नन्दराम को नहीं पहचानता था ? ले तू भी कुछ लेता जा ।' उस वजीरी के भी पैर में गोली लगी । वह बैठ गया और नन्दराम अपने ऊँट पर घर की ओर चला ।

सलीम नन्दराम के गांव से धर्मोन्माद के नशे में चूर इन्हीं सहधर्मियों में आकर मिल गया था । उसके भाग्य से नन्दराम की गोली उसे नहीं लगी । वह झाड़ियों में छिप गया था । घायल वजीरी ने उससे कहा—तू परदेशी भूखा बनकर इसके साथ जाकर घर देख आ । इसी नाले से उतर जा । वह तुझे आगे मिल जायगा । सलीम उधर ही चला ।

नन्दराम अब निश्चिंत होकर धीरे-धीरे घर की ओर बढ़ रहा था । सहसा उसे कराहने का शब्द सुन पड़ा । उसने ऊँट रोककर सलीम से पूछा—'क्या है भाई ? तू कौन है ?'

सलीम ने कहा—भूखा परदेशी हूँ । चल भी नहीं सकता । एक रोटी और दो बूंद पानी !

नन्दराम ने ऊँट बैठाकर उसे अच्छी तरह देखते हुए फिर पूछा—'तुम यहां कैसे आ गये ?'

'मैं हिन्दुस्तान से हिजरत करके चला आया हूँ ।'

'ओहो ! भले आदमी, ऐसी-ऐसी बातों से भी कोई अपना घर छोड़ देता है ? अच्छा, आओ मेरे ऊँट पर बैठ जाओ ।'

(अप्रत्याशित घटना से कौतूहल बढ़ता है)

सलीम बैठ गया । दिन ढलने लगा था । नन्दराम के ऊँट के गले के

बड़े-बड़े घुँघरू उस निस्तब्ध शान्ति में सजीवता उत्पन्न करते हुए बज रहे थे। उल्लास से भरा हुआ नन्दराम उसी की ताल पर कुछ गुनगुनाता जा रहा था। उधर सलीम कुढ़कर मन-ही-मन भुनभुनाता जा रहा था; परन्तु ऊँट चुपचाप अपना पथ अतिक्रमण कर रहा था। धीरे-धीरे बढ़नेवाले अन्धकार में भी वह अपनी उसी गति से चल रहा था।

सलीम सोचता था—'न हुआ पास में एक छुरा, नहीं तो यहीं अपने साथियों का बदला चुका लेता।'(**आशंका का शमन होता है। सलीम का अन्तर्द्वन्द्व देखिए**) फिर वह अपनी मूर्खता पर झुँझलाकर विचारने लगा—'पागल सलीम! तू उसके घर का पता लगाने आया है न?' इसी उधेड़बुन में कभी वह अपने को पक्का धार्मिक, कभी सत्य में विश्वास करनेवाला, कभी शरण देनेवाले सहधर्मियों का पक्षपाती बन रहा था। सहसा ऊँट रुका और एक घर का किवाड़ खुल पड़ा। भीतर से जलते हुए दीपक के प्रकाश के साथ एक सुन्दर मुख दिखाई पड़ा। नन्दराम ऊँट बैठाकर उतर पड़ा। उसने उल्लास से कहा—प्रेमो।

प्रेमकुमारी का गला भर आया था। बिना बोले ही उसने लपककर नन्दराम के दोनों हाथ पकड़ लिये।

सलीम ने आश्चर्य से प्रेमा को देखकर चीत्कार करना चाहा; पर वह सहसा रुक गया। उधर प्यार से प्रेमा के कन्धों को हिलाते हुए नन्दराम ने उसका चौंकना देख लिया।

नन्दराम ने कहा—प्रेमा! हम दोनों के लिए रोटियाँ चाहिएँ! यह एक भूखा परदेशी है। हाँ, पहले थोड़ा-सा पानी और एक कपड़ा तो देना।

प्रेमा ने चकित होकर पूछा—'क्यों?'

'यों ही कुछ चमड़ा छिल गया है। उसे बाँध लूँ?'

'अरे तो क्या कहीं लड़ाई भी हुई है?'

'हाँ, तीन-चार वजीरी मिल गये थे।'

'और यह?'—कहकर प्रेमा ने सलीम को देखा। सलीम भय और क्रोध से सूख रहा था! घृणा से उसका मुख विवर्ण हो रहा था।

'एक हिन्दू है।'—नन्दराम ने कहा।

'नहीं मुसलमान हूँ।'—कहते हुए सलीम चिल्ला उठा।

'ओहो, हिन्दुस्तानी भाई! हम लोग हिन्दुस्तान के रहनेवालों को हिन्दू ही सा देखते हैं। तुम बुरा न मानना।'—कहते हुए नन्दराम ने उसका हाथ पकड़ लिया। वह झुँझला उठा। और प्रेमकुमारी हँस पड़ी। आज की हँसी कुछ दूसरी थी। उसकी हँसी में हृदय की प्रसन्नता साकार थी। एक दिन और प्रेमा का मुसकाना सलीम ने देखा था, तब जैसे उसमें स्नेह था। आज थी उसमें मादकता, नन्दराम के ऊपर अनुराग की वर्षा! वह और भी जल उठा। उसने कहा—काफिर, क्या यहां कोई मुसलमान नहीं है?

'है तो, पर आज तो तुमको मेरे ही यहां रहना होगा।'—दृढ़ता से नन्दराम ने कहा।

सलीम सोच रहा था घर देखकर लौट जाने की बात! परन्तु यह प्रेमा! ओह, कितनी सुन्दर! कितना प्यार भरा हृदय! इतना सुख! काफिर के पास यह विभूति! तो वह क्यों न यहीं रहे? अपने भाग्य की परीक्षा कर देखे!

(विरोध और संघर्ष तनता जाता है)

सलीम वहीं खा-पीकर एक कोठरी में सो रहा और सपने देखने लगा—उसके हाथ में रक्त से भरा हुआ छुरा है। नन्दराम मरा पड़ा है। वजीरियों का सरदार उसके ऊपर प्रसन्न है। लूट में पकड़ी हुई प्रेमा उसे मिल रही है। वजीरियों का बदला लेने में उसने पूरी सहायता की है। सलीम ने प्रेमा का हाथ पकड़ना चाहा। साथ ही प्रेमा का भरपूर थप्पड़ उसके गाल पर पड़ा। उसने तिलमिला कर आंखें खोल दीं। सूर्य की किरणें उसकी आँखों में घुसने लगीं।

बाहर अमीर चिलम भर रहा था। उसने कहा—नन्द भाई, तूने मेरे लिये पोस्तीन लाने के लिये कहा था। वह कहां है? वह उछल रहा था। उस का ऊधमी शरीर प्रसन्नता से नाच रहा था।

नन्दराम मुलायम बालोंवाली चमड़े की सदरी—जिस पर रेशमी सुनहरा काम था—लिए हुए बाहर निकला। अमीर को पहना कर उसके गालों पर चपत जड़ते हुए कहा—नटखट, ले, तू अभी छोटा ही रहा। मैंने तो समझा था कि तीन महीनों में तू बहुत बढ़ गया होगा।

वह पोस्तीन पहनकर उछलता हुआ प्रेमा के पास चला गया था। उसका नाचना देखकर वह ख़िलखिला पड़ी। गुलमुहम्मद भी आ गया था। उसने पूछा—नन्दराम, तू अच्छी तरह रहा ?

'हाँ जी ! यहीं आते हुए कुछ वजीरियों से सामना हो गया। दो को तो ठिकाने लगा दिया। थोड़ी-सी चोट मेरे पैर में भी आ गई।'

'वजीरी !'—कहकर बूढ़ा एक बार चिन्ता में पड़ गया। तब तक नन्दराम ने उसके सामने रुपये की थैली उलट दी। बूढ़ा अपने घोड़े का दाम सहेजने लगा।

प्रेमा ने कहा—बाबा ! तुमने कुछ और भी कहा था। वह तो नहीं आया !

बूढ़ा त्योरी बदल कर नन्दराम को देखने लगा। नन्दराम ने कहा—

मुझे घर में अस्तबल के लिए एक दालान बनाना है। इसलिए बालियां नहीं ला सका।

'नहीं नन्दराम ! तुझको पेशावर फिर से जाना होगा। प्रेमा के लिए बालियाँ बनवा ला। तू अपनी ही बात रखता है।'

'अच्छा चाचा ! अबकी बार जाऊँगा तो...ले ही आऊँगा।'[1]

हिजरती सलीम आश्चर्य से उनकी बातें सुन रहा था। सलीम जैसे पागल होने लगा था। **मनुष्यता का एक पक्ष वह भी है जहां वर्ण, धर्म और देश को भूलकर मनुष्य मनुष्य के लिए प्यार करता है।** उसके भीतर की कोमल भावना, शायरों की प्रेम-कल्पना, चुटकी लेने लगी ! वह प्रेमा को 'काफिर' कहता था। आज उसने चपाती खाते हुए मन-ही-मन कहा—बुते-काफ़िर !

३

सलीम घुमक्कड़ी-जीवन की लालसाओं से सन्तप्त, व्यक्तिगत आवश्यकताओं से असंतुष्ट युक्तप्रांत का मुसलमान था। कुछ-न-कुछ करते रहने का उसका

---

१. कैसा परिवार-का-सा पारस्परिक प्रेम-सम्बन्ध है !

स्वभाव था। जब वह चारों ओर से असफल हो रहा था, तभी तुर्की की सहानुभूति में हिजरत का आन्दोलन खड़ा हुआ था। सलीम भी उसी में जुट पड़ा। मुसलमानी देशों का आतिथ्य कड़वा होने का अनुभव उसे अफगानिस्तान में हुआ। वह भटकता हुआ नन्दराम के घर पहुँचा था।

मुसलिम उत्कर्ष का उबाल जब ठण्डा हो चला, तब उसके मन में एक स्वार्थपूर्ण कोमल कल्पना का उदय हुआ। वह सूफी कवियों-सा सौन्दर्योपासक बन गया। नन्दराम के घर का वह काम करता हुआ जीवन बिताने लगा। उसमें भी 'बुते-काफ़िर' को उसने अपनी संसारयात्रा का चरम लक्ष्य बना लिया।

प्रेमा उससे साधारणतः हँसती-बोलती और काम के लिये कहती। सलीम उसके लिए खिलौना था। **दो मन दो विरुद्ध दिशाओं में चलकर भी नियति से बाध्य थे, एकत्र रहने के लिए।**

अमीर ने एक दिन नन्दराम से कहा—उस पाजी सलीम को अपने यहाँ से भगा दो। क्योंकि उसके ऊपर सन्देह करने का पूरा कारण है।

नन्दराम ने हँसकर कहा—भाई अमीर! वह परदेश में बिना सहारे आया है। उसके ऊपर सबको दया करनी चाहिए।

अमीर के निष्कपट हृदय में यह बात न जँची। वह रूठ गया। तब भी नन्दराम ने सलीम को अपने यहाँ रहने दिया।

सलीम अब कभी-कभी दूर-दूर घूमने के लिए भी चला जाता। उसके हृदय में सौन्दर्य के कारण जो स्निग्धता आ गई थी, वह लालसा में परिणत होने लगी। प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। एक दिन उसे लँगड़ा वजीरी मिला। सलीम की उससे कुछ बातें हुईं। वह फिर से क र मुसलमान हो उठा। धर्म की प्रेरणा से नहीं; लालसा की ज्वाला से!

(चरम संघर्ष की सम्भावना का संकेत)

वह रात बड़ी भयानक थी। कुछ बूँदें पड़ रही थीं। सलीम अभी सशंक होकर जाग रहा था। उसकी आँखें भविष्य का दृश्य देख रही थीं। घोड़ों के पद-शब्द धीरे-धीरे उस निर्जनता को भेदकर समीप आ रहे थे।

सलीम ने किवाड़ खोलकर बाहर झाँका। अँधेरी उसके कलुष-सी फैल रही थी। वह ठठाकर हँस पड़ा।

भीतर नन्दराम और प्रेमा का स्नेहालाप बन्द हो चुका था। दोनों तन्द्रालस हो रहे थे। सहसा गोलियों की कड़कड़ाहट सुन पड़ी। सारे गांव में आतङ्क फैल गया।

'वजीरी ! वजीरी !'

उन दस घरों में जो भी कोई अस्त्र चला सकता था, बाहर निकल पड़ा। अस्सी वजीरियों का दल चारों ओर से गांव को घेरे में करके भीषण गोलियों की बौछार कर रहा था।

अमीर और नन्दराम बगल में खड़े होकर गोली चला रहे थे। कारतूसों की परतल्ली उनके कन्धों पर थी। नन्दराम और अमीर के निशाने अचूक थे। अमीर ने देखा, कि सलीम पागलों-सा घर में घुसा जा रहा है। वह भी भरी गोली चलाकर उसके पीछे नन्दराम के घर में घुसा। बीसों वजीरी मारे जा चुके थे। गाँववाले भी घायल और मृतक हो रहे थे। उधर नन्दराम की मार से वजीरियों ने मोरचा छोड़ दिया था। सब भागने की धुन में थे। सहसा घर में से चिल्लाहट सुनाई पड़ी।

नन्दराम भीतर चला गया। उसने देखा, प्रेमा के बाल खुले हैं। उसके हाथ में रक्त से रञ्जित छुरा है। एक वजीरी वहीं घायल पड़ा है। और अमीर सलीम की छाती पर चढ़ा हुआ कमर से छुरा निकाल रहा है। नन्दराम ने कहा—यह क्या है अमीर ?

'चुप रहो भाई ! इस पाजी को पहले...।'

'ठहरो अमीर ! यह हम लोगों का शरणागत है।'—कहते हुए नन्दराम ने उसका छुरा छीन लिया; किन्तु दुर्दान्त युवक पठान कटकटा कर बोला—

'इस सूअर के हाथ ! नहीं नन्दराम ! तुम हट जाओ, नहीं तो मैं तुमको ही गोली मार दूंगा। मेरी बहन, पड़ोसिन का हाथ पकड़ कर खींच रहा था। इसके हाथ......'

नन्दराम आश्चर्य से देख रहा था। अमीर ने सलीम की कलाई ककड़ी की तरह तोड़ ही दी। सलीम चिल्लाकर मूर्छित हो गया। प्रेमा ने अमीर को पकड़कर खींच लिया। उसका रणचण्डी वेश शिथिल हो गया था। सहज नारी-सुलभ दया का आविर्भाव हो रहा था। नन्दराम और अमीर बाहर आये। **(चरम सीमा)**

वज़ीरी चले गये।

× × ×

एक दिन टूटे हुए हाथ को सिर से लगाकर जब प्रेमा को सलाम करते हुए सलीम उस गांव से बिदा हो रहा था, तब प्रेमा को न जाने क्यों उस अभागे पर ममता हो आई। उसने कहा—सलीम ! तुम्हारे घर पर कोई और नहीं है, तो वहां जाकर क्या करोगे ? यहीं पड़े रहो।

सलीम रो रहा था। वह अब भी हिन्दुस्तान जाने के लिए इच्छुक नहीं था; परन्तु अमीर ने कड़ककर कहा—प्रेमा ! इसे जाने दे ! इस गाँव में ऐसे पाजियों का काम नहीं।

सलीम पेशावर में बहुत दिनों तक भीख माँगकर खाता और जीता रहा। उसके 'बुते-काफिर' वाले गीत को लोग बड़े चाव से सुनते थे।

प्रष्टव्य

१. प्रसाद जी की कहानी कला पर प्रकाश डालिए।
२. 'मनुष्यता का एक पक्ष वह भी है जहां वर्ण, धर्म और देश को भूलकर मनुष्य मनुष्य के लिए प्यार करता है—' इस उक्ति की सार्थकता 'सलीम' कहानी में प्रकट कीजिए।
३. 'सलीम' कहानी की संक्षिप्त समीक्षा कीजिए।
४. सलीम और नन्दराम के चरित्रों की तुलना कीजिये।

स्वर्गीय मुंशी प्रेमचन्द (सन् १८८०–१९३६)

आपका जन्म बनारस के पास लमही गांव में एक कायस्थ परिवार में हुआ। पिता डाकखाने में मुंशी (क्लर्क) थे। माता का इन के बाल्यकाल में ही देहान्त हो गया था। बड़े कठिन परिश्रम से—चने चबा कर, गांव से हररोज़ पैदल बनारस आकर तथा ट्यूशन करके किसी तरह मैट्रिक पास की। आपका जीवन अभावों, पीड़ाओं के विरुद्ध निरन्तर कठोर संघर्ष का जीवन रहा है। पहले एक स्कूल में अध्यापक लगे, फिर प्राइवेट बी० ए० कर लेने पर डिप्टी इन्स्पैक्टर ऑफ स्कूल नियुक्त हुए। व्यक्तिगत जीवन में अनेक पारिवारिक और सामाजिक व्यथाओं का अनुभव उन्हें हो गया था। ग्राम-जीवन का उन्होंने कोना-कोना झांक डाला था। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में अभाव-ग्रस्त ग्राम-जनता का मर्म-भेदी चीत्कार पाया जाता है। ग्राम-जीवन का इतना सफल सजीव चित्रण हिन्दी साहित्य में विरल है।

प्रेमचन्द एक उदार मानव थे। वे जीवन के गरल को हंसते-हंसते पान करने वाले सच्चे कर्मवीर थे। भारतीय जनता का इतना बड़ा हितैषी कलाकार हिन्दी साहित्य में अभी तक दूसरा कोई नहीं। वे हमारी सामाजिक एवं राष्ट्रीय जाग्रति के अग्रदूत हैं। राजनीति के क्षेत्र में जो कार्य करके गांधी जी ने अमरता प्राप्त की है, साहित्य के क्षेत्र में वही कार्य करके प्रेमचन्द जी ने वही महत्व प्राप्त किया। सन् १९२० में असहयोग आंदोलन से प्रभावित होकर, भारत माता के इस अमर पुत्र ने भी सरकारी नौकरी छोड़ दी और अन्त तक अपने रक्त के प्रति बिन्दु से निष्प्राण साहित्य-वाटिका को सींच कर पुष्पित और पल्लवित किया। वे हिन्दी के सर्वप्रथम सच्चे प्रगतिशील, युगप्रवर्तक कलाकार कहे जा सकते हैं। जिस समय हमारी कविता छायावाद के काल्पनिक लोक में विचरण कर रही थी, नाटक साहित्य प्रसाद की आदर्शवादी कला मे रंजित था, उपन्यास अपने बाल्यकाल में ही तिलस्मी और जासूसी के कौतूहल में मग्न था, उस समय प्रेमचन्द जी ने अपने उपन्यासों और कहानियों में यथार्थ

जीवन की सच्ची अभिव्यक्ति करके साहित्य को एक नई दिशा प्रदान की। वे हिन्दी में आने से पूर्व उर्दू में कथा-साहित्य की रचना करते थे। उर्दू में लिखी आपकी कहानियों का 'सोज़े-वतन' नामक संग्रह सरकार ने ज़ब्त कर लिया था। आपका असली नाम धनपतराय था, प्रेमचन्द साहित्यिक नाम था जो बाद में प्रचलित और प्रसिद्ध हो गया। आरम्भ में आप नवाबराय के नाम से लिखते थे।

प्रेमचन्द की ३०० के लगभग कहानियों से ही कहानी का वर्गीकरण समझाया जा सकता है। विषय की दृष्टि से उन्होंने ऐतिहासिक (राजा हरदौल, रानी सारंधा आदि), राष्ट्रीय भाव या राजनीति से सम्बन्धित (सत्याग्रह, तावान, विचित्र होली, होली का उपहार, अनुभव आदि), सामाजिक (समाज की अनेकानेक समस्याओं से सम्बन्धित—शांति, नरक का मार्ग, सुभागी, गुरु मंत्र, दुर्गा का मन्दिर, ठाकुर का कुँआ, मन्दिर आदि), पारिवारिक (बड़े घर की बेटी, सज्जनता का दण्ड आदि), व्यक्तिगत धरातल पर प्रेम-सम्बन्धी (मिस पद्मा, अभिलाषा, सौभाग्य के कोड़े, कैदी आदि), अनेक भाव-संवेदनाओं और विविध विषय-सामग्री से युक्त कहानियां लिखी हैं। जीवन का इतना व्यापक परिवेश (canvas) शायद ही किसी कलाकार का हो। जीवन की शायद ही कोई समस्या, कोई पक्ष अछूता रहा हो। यद्यपि शैली की दृष्टि से प्रेमचन्द ने विविध प्रयोग नहीं किए, और उनकी सभी कहानियां वर्णन-प्रधान द्रष्टा शैली में लिखी गई हैं, फिर भी उनकी कहानियों में हमें सभी शैलियों के उदाहरण मिल सकते हैं। उन्होंने घटना-प्रधान, वातावरण-प्रधान, भाव-प्रधान, उद्देश्य-प्रधान, चरित्र-चित्रण-प्रधान आदि सभी प्रकार की कहानियां लिखी हैं। उनकी आरंभिक कहानियों में घटना और उद्देश्य या आदर्श की प्रधानता रहती थी, किन्तु एक सजग कलाकार के नाते प्रेमचन्द ज्यों-ज्यों लिखते गए उनकी कलात्मक चेतना विकसित होती गई। वे आदर्श से यथार्थ की ओर बढ़ते गए, बाह्य घटनाओं के स्थान पर चारित्रिक अन्तर्प्रयाण करते गए।

प्रेमचन्द की कहानियों में कथानक का विकास सीधे ढंग से होने तथा होने वाली घटना या कथा की परिणति का पूर्वाभास हो जाने के कारण, उनमें

उत्सुकता का आवेग नहीं रहता। संकलित कहानी 'महातीर्थ' से भी यह स्पष्ट है। फिर भी उनके कथानक पर्याप्त रोचक होते हैं। आरंभिक कहानियों में चरम सीमा के बाद तथ्य-कथन की प्रवृत्ति बहुत थी, बाद में भी कुछ बनी रही। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से, प्रेमचन्द पर्याप्त सफल रहे हैं। सम्भवत: उपन्यासों में इतनी सफलता, इस दृष्टि से, उन्हें नहीं मिली है। जीवन के अनेकानेक क्षेत्रों से उन्होंने पात्र जुटाये हैं। उन्होंने सर्वप्रथम हिन्दी पाठकों का ध्यान उच्च वर्ग की ओर से हटाकर मध्य और निम्नवर्ग की ओर आकर्षित किया। उनके अधिकांश पात्र वर्गगत सामूहिक विशेषताओं से ही ओत-प्रोत होते हैं, किन्तु व्यक्तित्व की सजीवता अवश्य रहती है। प्रेमचन्द जैसा व्यापक मानव-स्वभाव का पारखी शायद ही अन्य लेखक हो। मानव तो क्या 'दो बैलों की कथा,' 'पूस की रात' आदि कहानियों में उन्होंने पशुओं के भी मूक भावों की सुन्दर व्यंजना कराई है। प्रेमचन्द के कथोपकथन पात्रानुकूलता, सरसता, सक्षिप्तता, प्रवाह, नाटकीयता, सजीवता आदि गुणों से सफल सिद्ध होते हैं। प्रेमचन्द ने रोमांस और भावुकता वाले प्रसाद-संस्थान के विपरीत कठोर सत्य के यथार्थ सामाजिक संस्थान का निर्माण किया। कौशिक, सुदर्शन आदि कितने ही लेखक इसी संस्थान में कार्य करने लगे। सुधारवादी दृष्टिकोण ने प्रेमचन्द की कहानी-कला को कहीं-कहीं ठेस पहुंचाई है। वातावरण की सजीवता प्रेमचन्द की खास विशेषता है। उनकी रचनाओं से भारत के पिछले ५० वर्षों का सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक, सांस्कृतिक अध्ययन किया जा सकता है, जो इतिहास की पुस्तकों में भी दुर्लभ है। मुहावरों लोकोक्तियों से युक्त सरल, सरस, पात्रानुकूल, सुन्दर, चुस्त, व्यंग्यात्मक, परिष्कृत भाषा के वे निर्माता थे।

प्रस्तुत कहानी : 'महातीर्थ' कहानी प्रेमचन्द की श्रेष्ठ कलात्मक कहानियों में गिनी जाती है। इसकी प्रमुख संवेदना वात्सल्य-प्रेम है। बाल-भाव तथा वात्सल्य-रस का इसमें पूर्ण परिपाक हुआ है। लेखक ने इसमें बताया है कि नि:स्वार्थ मानव-प्रेम, मानव-रक्षा सबसे बड़ा पुण्य-तीर्थ है। अपना

प्रेम-रस डालकर मुर्झाती हुई बाल-कलिका में कैलासी ने जो जीवन-संचार किया है, वह बद्रीनाथ की तीर्थ-यात्रा से भी अधिक पुण्य-फल देने वाला है। प्रेमचन्द मानव-मनोवृत्तियों के बड़े पारखी थे। इस कथा में सुखदा, कैलासी, तीर्थ-यात्रा के लिए जाते हुए यात्रियों तथा बालक रुद्र की मनोवृत्तियों का यथार्थ और सजीव चित्रण हुआ है। प्रेमचन्द की आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी कला का यह कथा भव्य उदाहरण प्रस्तुत करती है। सम्पूर्ण चित्रण यथार्थवादी है। उसमें कैलासी का चरित्र आदर्श घोल देता है। उसका विशुद्ध, निःस्वार्थ प्रेम अपने आदर्श की आभा से यथार्थ को आलोकित कर देता है। कथा की शैली वर्णन-प्रधान ही है, पर बीच-बीच में व्याख्या और विश्लेषण-शैली की भी प्रचुरता है, व्यंग्य और चित्रण शैली भी है। यह भाव और चरित्र-प्रधान कहानी है। इसमें कथांश अत्यल्प है—केवल इतना कि संदेह के कारण सुखदा कैलासी को हटा देती है और उसके चले जाने के बाद इधर बच्चा उसके अभाव में मुर्झाता जाता है, उधर वह स्वयं बच्चे के प्रेम में तड़पती है। बच्चे की शोचनीय दशा सुनकर कैलाशी बद्रीनारायण की तीर्थ-यात्रा से रुक जाती है और बच्चे के प्राणों को बचाकर महातीर्थ का पुण्य-लाभ करती है। घटनाओं का कौतूहल और वैचित्र्य भी इस में नहीं है। सारा आकर्षण भाव-संवेदना और पात्रों की मनोवृत्तियों के प्रकाशन में है। संवेदना की तीव्रता उत्तरोत्तर बढ़ती हुई चरम सीमा में टिक जाती है। चरित्र-चित्रण का प्रयास सफल है। कैलासी के आन्तरिक भावों और द्वन्द्वों को अच्छी तरह प्रकट किया गया है। चरित्र-प्रकाशन अधिकतर प्रत्यक्ष-शैली में हुआ है। संवाद भी प्रर्याप्त सफल हैं। वैसे संवाद-शैली का इसमें अपेक्षाकृत कम प्रयोग है। देश-काल-वातावरण का इसमें विशेष चित्रण नहीं है। यह मनोवृत्ति-प्रधान कथा है। प्रेमचन्द जी की भाषा की शक्ति इस कहानी में स्पष्ट दिखाई देती है। सरल, प्रवाहयुक्त, उर्दू के चलते शब्दों और मुहावरों से पूर्ण सार्थक भाषा का उत्कृष्ट रूप इसमें पाया जाता है। रूपक, उपमा आदि स्वाभाविक अलंकार तथा गले का हार होना, भरा बैठना, त्यौरी बदलना, ठोकरें खाना, गले बांधना आदि मुहावरे विशेष प्रभाव उत्पन्न करते हैं। कहानी का एक शब्द का शीर्षक भी बड़ा ही सार्थक है।

महातीर्थ

१

मुन्शी इन्द्रमणि की आमदनी कम थी और ख़र्च ज्यादा। अपने बच्चे के लिये दाई रखने का ख़र्च न उठा सकते थे, लेकिन एक तो बच्चे की सेवा-सुश्रूषा की फ़िक्र और दूसरे अपने बराबर वालों से हेठे बनकर रहने का अपमान इस ख़र्च को सहने पर मजबूर करता था। बच्चा दाई को बहुत चाहता था, **हरदम उसके गले का हार** बना रहता था, इसलिये दाई और भी जरूरी मालूम होती थी। पर शायद सबसे बड़ा कारण यह था कि वह मुरौवत के वश दाई को जवाब देने का साहस नहीं कर सकते थे। बुढ़िया उनके यहां तीन साल से नौकर थी। उसने उनके इकलौते लड़के का लालन-पालन किया था। अपना काम बड़ी मुस्तैदी और परिश्रम से करती थी। उसें निकालने का कोई बहाना नहीं था और व्यर्थ खुचड़ निकालना इन्द्रमणि जैसे भले आदमी के स्वभाव के विरुद्ध था। पर सुखदा इस सम्बन्ध में अपने पति से सहमत न थी; उसे सन्देह था कि दाई हमें लूटे लेती है। (**विरोध आरम्भ**) **जब दाई बाज़ार से लौटती तो वह दालान में छिपी रहती कि देखूँ आटा कहीं छिपाकर तो नहीं रख देती, लकड़ी तो नहीं छिपा देती। उसकी लाई हुई चीज़ों को घंटों देखती, पूछताछ करती, बार-बार पूछती—इतना ही क्यों? क्या भाव है? क्या इतना महंगा हो गया?**[1] दाई कभी तो इन सन्देहात्मक प्रश्नों का उत्तर नम्रतापूर्वक देती, किन्तु जब कभी बहूजी ज्यादा तेज हो जातीं, तो वह भी कड़ी पड़ जाती थी। शपथें खाती। सफ़ाई की शहादतें पेश करती। वाद-विवाद में घण्टों लग जाते थे। प्रायः नित्य यही दशा रहती थी, और प्रतिदिन यह नाटक दाई के अश्रुपात के साथ समाप्त होता था। दाई का इतनी सख्तियां झेलकर पड़े रहना सुखदा के सन्देह को और भी पुष्ट करता था। उसे कभी विश्वास नहीं होता था कि यह बुढ़िया केवल बच्चे के प्रेमवश पड़ी हुई है। वह बुढ़िया को इतनी बाल-प्रेमशीला नहीं समझती थी।

---

१. **मनोवृत्ति का कैसा यथार्थ चित्रण है!**

२

संयोग से एक दिन दाई को बाज़ार से लौटने में ज़रा देर हो गई। वहां दो कुंजड़िनों में देवासुर संग्राम मचा था। उनका चित्रमय हावभाव, उनका आग्नेय तर्क-वितर्क, उनके कटाक्ष और व्यंग सब अनुपम थे। विष के दो नद थे या ज्वाला के दो पर्वत, जो दोनों तरफ़ से उमड़कर आपस में टकरा गये! वाक्य का क्या प्रवाह था, कैसी विचित्र विवेचना! उनका शब्द-बाहुल्य उनकी मार्मिक विचारशीलता, उनके अलंकृत शब्द-विन्यास और उनकी उपमाओं की नवीनता पर ऐसा कौनसा कवि है, जो मुग्ध न हो जाता। उनका धैर्य, उनकी शान्ति विस्मयजनक थी। दर्शकों की एक खासी भीड़ लगी थी। वे लाज को भी लज्जित करने वाले इशारे, वे अश्लील शब्द जिनसे मलिनता के भी कान खड़े होते, सैंकड़ों रसिकजनों के मनोरंजन की सामग्री बने हुए थे।[1]

दाई भी खड़ी हो गई कि देखूँ क्या मामला है। तमाशा इतना मनोरंजक था कि इसे समय का बिल्कुल ध्यान न रहा। एकाएक जब नौ के घण्टे की आवाज़ कान में आई तो चौंक पड़ी और लपकी हुई घर की ओर चली।

सुखदा भरी बैठी थी। दाई को देखते ही त्यौरी बदलकर बोली—क्या बाज़ार में खो गई थी?

दाई विनयपूर्ण भाव से बोली—एक जान-पहचान की महरी से भेंट हो गई। वह बातें करने लगी।

सुखदा इस जवाब से और भी चिढ़कर बोली—यहां दफ्तर जाने को देर हो रही है और तुम्हें सैर-सपाटे की सूझती है।

परन्तु दाई ने इस समय दबने ही में कुशल समझी, बच्चे को गोद में लेने चली, पर सुखदा ने झिड़क कर कहा—रहने दो, तुम्हारे बिना वह व्याकुल नहीं हुआ जाता।

दाई ने इस आज्ञा को मानना आवश्यक नहीं समझा। बहूजी का क्रोध ठंडा करने के लिये इससे उपयोगी और कोई उपाय न सूझा। उसने

---

१. व्यंग्यात्मक शैली

रुद्रमणि को इशारे से अपने पास बुलाया। वह दोनों हाथ फैलाए लड़खड़ाता हुआ उसकी ओर चला। दाई ने उसे गोद में उठा लिया और दरवाज़े की तरफ़ चली। लेकिन सुखदा बाज़ की तरह झपटी और रुद्र को उसकी गोदी से छीन कर बोली—तुम्हारी यह धूर्त्तता बहुत दिनों से देख रही हूँ। यह तमाशे किसी और को दिखाओ! यहाँ जी भर गया। **(विरोध बढ़ता है)**

दाई रुद्र पर जान देती थी और समझती थी कि सुखदा इस बात को जानती है। उसकी समझ में सुखदा और उसके बीच यह ऐसा मज़बूत सम्बन्ध था, जिसे साधारण झटके तोड़ न सकते थे। यही कारण था कि सुखदा के कटु वचनों को सुनकर भी उसे यह विश्वास न होता था कि वह मुझे निकालने पर प्रस्तुत है, पर सुखदा ने यह बातें कुछ ऐसी कठोरता से कहीं और रुद्र को ऐसी निर्दयता से छीन लिया कि दाई से सह्य न हो सका। बोली—बहूजी मुझसे कोई बड़ा अपराध तो नहीं हुआ, बहुत तो पाव घण्टे की देर हुई होगी। इसी पर आप इतना बिगड़ रही हैं, तो साफ़ क्यों नहीं कह देतीं कि दूसरा दरवाज़ा देखो। नारायण ने पैदा किया है तो खाने को भी देगा। मज़दूरी का अकाल थोड़े ही है!

सुखदा ने कहा—तो यहाँ तुम्हारी परवाह ही कौन करता है। तुम्हारी-जैसी लौंडियें गली-गली ठोकरें खाती फिरती हैं?

दाई ने जवाब दिया—हाँ, नारायण आपको कुशल से रक्खे। लौंडियें और दाइयां आपको बहुत मिलेंगी। मुझसे जो कुछ अपराध हुआ हो, क्षमा कीजियेगा। मैं जाती हूँ।

सुखदा—जाकर मरदाने में अपना हिसाब साफ कर लो।

दाई—मेरी तरफ से रुद्र बाबू को मिठाइयां मंगवा दीजियेगा।

इतने में इन्द्रमणि भी बाहर से आ गये। पूछा—क्या, है क्या।

दाई ने कहा—कुछ नहीं। बहूजी ने जवाब दे दिया है, घर जाती हूँ।

इन्द्रमणि गृहस्थी के जंजाल से इस तरह बचते थे, जैसे कोई नंगे पैरवाला मनुष्य कांटों से बचे।[1] उन्हें सारे दिन एक ही जगह खड़े रहना

१. **सुन्दर उपमा व लाक्षणिक प्रयोग।**

मंजूर था पर कांटों में पैर रखने की हिम्मत न थी। खिन्न होकर बोले—बात क्या हुई ?

सुखदा ने कहा—कुछ नहीं, अपनी इच्छा। नहीं जी चाहता, नहीं रखते। किसी के हाथों बिक तो नहीं गये।

इन्द्रमणि ने झुंझलाकर कहा—तुम्हें बैठे-बैठाये एक-न-एक खुचड़ सूझती ही रहती है।

सुखदा ने तुनक कर कहा, मुझे तो इसका रोग है क्या करूँ, स्वभाव ही ऐसा है। तुम्हें यह बहुत प्यारी है तो ले जाकर गले में बाँध लो, मेरे यहां ज़रूरत नहीं।

३

दाई घर से निकली तो आँखें डबडबाई हुई थीं। हृदय रुद्रमणि के लिये तड़प रहा था। जी चाहता था कि एक बार वालक को लेकर प्यार कर लूँ; पर यह अभिलाषा लिये ही उसे घर से बाहर निकलना पड़ा।

रुद्रमणि दाई के पीछे-पीछे दरवाज़े तक आया; पर दाई ने जब दरवाज़ा बाहर से बन्द कर दिया, तो वह मचल कर ज़मीन पर लोट गया और अन्ना-अन्ना कह कर रोने लगा। सुखदा ने पुचकारा, प्यार किया, गोद में लेने की कोशिश की, मिठाई देने का लालच दिया, मेला दिखाने का वादा किया, इससे जब काम न चला तो बन्दर, सिपाही, लूलू और हौआ की धमकी दी। पर रुद्र ने वह रौद्र भाव धारण किया कि किसी तरह चुप न हुआ। यहाँ तक कि सुखदा को क्रोध आगया, बच्चे को वहीं छोड़ दिया और आकर घर के धन्धे में लग गई। रोते-रोते रुद्र का मुंह और गाल लाल हो गये, आँखें सूज गईं। निदान वह वहीं ज़मीन पर सिसकते-सिसकते सो गया।

सुखदा ने समझा था कि बच्चा थोड़ी देर में रो-धोकर चुप हो जायगा; पर रुद्र ने जागते ही अन्ना की रट लगाई। तीन बजे इन्द्रमणि दफ्तर से आये और बच्चे की यह दशा देखी तो स्त्री की तरफ़ कुपित नेत्रों से देख कर उसे गोद में उठा लिया और बहलाने लगे। जब अन्त में रुद्र को यह विश्वास हो गया कि दाई मिठाई लेने गई है तो उसे कुछ सन्तोष हुआ।

परन्तु शाम होते ही उसने फिर झींकना शुरू किया—अन्ना, मिठाई ला।

इस तरह दो तीन दिन बीत गये। रुद्र को अन्ना की रट लगाने और रोने के सिवा और कोई काम न था। **यह शांत प्रकृति कुत्ता जो उसकी गोद से एक क्षण के लिए भी न उतरता था, वह मौन व्रतधारी बिल्ली जिसे ताख पर देखकर वह खुशी से फूला न समाता था, वह पंखहीन चिड़िया जिस पर वह जान देता था, सब उसके चित्र से उतर गये**[1]। वह उनकी तरफ आँख उठाकर भी नहीं देखता। अन्ना-जैसी जीती-जागती प्यार करने वाली, गोद में लेकर घुमाने वाली, थपक-थपक कर सुलाने वाली, गा-गाकर खुश करने वाली चीज़ का स्थान इन निर्जीव चीज़ों से पूरा न हो सकता था। वह अकसर सोते-सोते चौंक पड़ता और अन्ना-अन्ना पुकार कर हाथों से इशारा करता, मानों उसे बुला रहा हो। अन्ना की खाली कोठरी में घण्टों बैठा रहता। उसे आशा होती कि अन्ना यहां आती होगी। इस कोठरी का दरवाज़ा खुलते सुनता तो "अन्ना ! अन्ना !" कह कर दौड़ता। समझता कि अन्ना आ गई। उसका भरा हुआ शरीर घुल गया, गुलाब-जैसा चेहरा सूख गया, मां और बाप उसकी मोहनी हंसी के लिए तरस कर रह जाते थे। यदि बहुत गुदगुदाने या छेड़ने से हंसता भी, तो ऐसा जान पड़ता था कि दिल से नहीं हंसता, केवल दिल रखने के लिए हँस रहा है। उसे अब दूध से प्रेम नहीं था, न मिश्री से, न मेवे से, न मीठे बिस्कुट से, न ताजी इमरतियों से। उन में मज़ा तब था जब अन्ना अपने हाथों से खिलाती थी। अब उनमें मज़ा नहीं था। **दो साल का लहलहाता हुआ सुन्दर पौधा मुर्झा गया। वह बालक जिसे गोद में उठाते ही नरमी, गरमी और भारीपन का अनुभव होता था, अब सूखकर कांटा हो गया था।** सुखदा अपने बच्चे की यह दशा देखकर भीतर-ही-भीतर कुढ़ती और अपनी मूर्खता पर पछताती। इन्द्रमणि जो शांत-प्रिय आदमी थे, अब बालक को गोद से अलग न करते थे, उसे रोज़ अपने साथ हवा खिलाने ले जाते थे। उसके लिये नित्य नये खिलौने लाते थे। पर वह मुर्झाया हुआ पौधा

१. **बाल-भाव का सुन्दर चित्रण इन दो पृष्ठों पर देखिए।**

किसी तरह भी न पनपता था। दाई उसके लिए संसार का सूर्य थी, उस स्वाभाविक गर्मी और प्रकाश से वंचित रह कर हरियाली की बहार कैसे दिखाती? दाई के बिना उसे अब चारों ओर अंधेरा और सन्नाटा दिखाई देता था। दूसरी अन्ना तीसरे ही दिन रख ली गई थी; पर रुद्र उसकी सूरत देखते ही मुँह छिपा लेता था, मानो वह कोई डाईन या चुड़ैल है।

प्रत्यक्ष रूप में दाई को न देखकर रुद्र अब उसकी कल्पना में मग्न रहता। वहाँ उसकी अन्ना चलती फिरती दिखाई देती थी। उसके लिए वही गोद थी, वही स्नेह, वही प्यारी-प्यारी बातें, वही प्यारे गाने, वही मजेदार मिठाइयाँ, वही सुहावना संसार, वही आनन्दमय जीवन। अकेले बैठ कर कल्पित अन्ना से बातें करना—अन्ना कुत्ता भूंके। अन्ना, गाय दूध देती। अन्ना, उजला-उजला घोड़ा दौड़े। सबेरा होते ही लोटा लेकर उसकी कोठरी में जाता और कहता—अन्ना, पानी। दूध का गिलास लेकर उसकी कोठरी में रख आता और कहता—अन्ना दूध पिला। अपनी चारपाई पर तकिया रखकर चादर से ढाँक देता और कहता—अन्ना सोती है। सुखदा जब खाने बैठती तो कटोरे उठा-उठाकर अन्ना की कोठरी में ले जाता और कहता, अन्ना खाना खायगी। अन्ना अब उसके लिए एक स्वर्ग की वस्तु थी, जिसके लौटने की अब उसे बिल्कुल आशा न थी। रुद्र के स्वभाव में धीरे-धीरे बालकों की चपलता और सजीवता की जगह एक निराशाजनक धैर्य, एक आनन्द-विहीन शिथिलता दिखाई देने लगी। इस तरह तीन हफ्ते गुजर गये। बरसात का मौसम था, कभी बेचैन करने वाली गर्मी, कभी हवा के ठण्डे झोंके! बुखार और जुकाम का जोर था। रुद्र की दुर्बलता इस ऋतु-परिवर्तन को बर्दाश्त न कर सकी। सुखदा उसे फलालैन का कुर्ता पहनाए रखती। उसे पानी के पास नहीं जाने देती। नंगे पैर एक कदम नहीं चलने देती; पर सर्दी लग ही गई। रुद्र को खाँसी और बुखार आने लगा।

४

प्रभात का समय था। रुद्र चारपाई पर आँखें बन्द किये पड़ा था। डाक्टरों का इलाज निष्फल हुआ। सुखदा चारपाई पर बैठी उसकी छाती में

तेल की मालिश कर रही थी और इन्द्रमणि विषाद-मूर्ति बने हुए करुणापूर्ण आंखों से बच्चे को देख रहे थे। इधर सुखदा से वह बहुत कम बोलते थे। उन्हें उससे एक तरह की चिढ़-सी हो गई थी। वह रुद्र की इस बीमारी का एक मात्र कारण उसी को समझते थे। वह उनकी दृष्टि में बहुत नीच स्वभाव की स्त्री थी। सुखदा ने डरते-डरते कहा, आज बड़े हकीम साहब को बुला लाते। शायद उनकी दवा से फ़ायदा हो।

इन्द्रमणि ने काली घटाओं की ओर देख कर रुखाई से जवाब दिया—बड़े हकीम नहीं, धन्वन्तरि भी आवें, तो भी उसे कोई फ़ायदा न होगा।

सुखदा ने कहा—तो क्या अब किसी की दवा ही न होगी ?

इन्द्रमणि—बस इसकी एक ही दवा है और वह अलभ्य है।

सुखदा—तुम्हें तो बस, वही धुन सवार है। क्या बुढ़िया आकर अमृत पिला देगी ?

इन्द्रमणि—वह तुम्हारे लिये चाहे विष हो; पर लड़के के लिए अमृत ही होगी।

सुखदा—मैं नहीं समझती कि ईश्वरेच्छा उसके आधीन है।

इन्द्रमणि—यदि नहीं समझती हो और अब तक नहीं समझी, तो रोओगी। बच्चे से हाथ धोना पड़ेगा।

सुखदा—चुप भी रहो, क्या अशुभ मुंह से निकालते हो ? यदि ऐसी ही जली-कटी सुनानी है, तो बाहर चले जाओ।

इन्द्रमणि—तो मैं जाता हूँ; पर याद रखो, यह हत्या तुम्हारी ही गर्दन पर होगी। यदि लड़के को तन्दुरुस्त देखना चाहती हो, तो उस दाई के पास जाओ, उससे विनती और प्रार्थना करो, क्षमा मांगो। तुम्हारे बच्चे की जान उसी की दया के आधीन है।

सुखदा ने कुछ उत्तर नहीं दिया। उसकी आँखों से आँसू जारी थे।

इन्द्रमणि ने पूछा—क्या मर्ज़ी है, जाऊँ उसे बुला लाऊँ ?

सुखदा—तुम क्यों जाओगे, मैं आप चली जाऊँगी।

इन्द्रमणि—नहीं, क्षमा करो। मुझे तुम्हारे ऊपर विश्वास नहीं है। न जाने तुम्हारी ज़बान से क्या निकल पड़े कि जो वह आती भी हो, तो न आवे।

सुखदा ने पति की ओर फिर तिरस्कार की दृष्टि से देखा और बोली—हाँ और क्या मुझे अपने बच्चे की बीमारी का शोक थोड़े ही है। मैंने लाज के मारे तुम से कहा नहीं, पर मेरे हृदय में यह बात बार-बार उठी है। यदि मुझे दाई के मकान का पूरा पता मालूम होता, तो मैं कभी की उसे मना लाई होती[1]। वह मुझ से कितनी ही नाराज हो, पर रुद्र से उसे प्रेम था। आज ही उसके पास जाऊँगी। तुम विनती करने को कहते हो, मैं उसके पैरों पड़ने के लिये तैयार हूँ। उसके पैरों को आँसुओं से भिगोऊँगी और जिस तरह राज़ी होगी, राज़ी करूँगी।

सुखदा ने बहुत धैर्य धर कर यह बातें कहीं, परन्तु उमड़ते हुए आँसू अब न रुक सके। इन्द्रमणि ने स्त्री की ओर सहानुभूतिपूर्वक देखा और लज्जित हो बोले—मैं तुम्हारा जाना उचित नहीं समझता, मैं खुद ही जाता हूँ।

५

कैलासी संसार में अकेली थी, किसी समय उसका परिवार गुलाब की तरह फूला हुआ था, परन्तु धीरे-धीरे उसकी सब पत्तियाँ गिर गईं। उसकी सब हरियाली नष्ट-भ्रष्ट हो गई और अब वही एक सूखी हुई टहनी उस हरे-भरे पेड़ का चिह्न रह गई थी।

परन्तु रुद्र को पाकर इस सूखी टहनी में जान पड़ गई थी। इसमें हरी-हरी पत्तियाँ निकल आई थीं। वह जीवन, जो अब तक नीरस और शुष्क था, अब सरस और सजीव हो गया था। अन्धेरे जंगल में भटके हुए पथिक को प्रकाश की झलक आने लगी थी[2]। अब उसका जीवन निरर्थक नहीं, बल्कि सार्थक हो गया था।

---

१. सुखदा का वात्सल्य-प्रेम।
२. कवित्वपूर्ण आलंकारिक शैली

कैलासी रुद्र की भोली बातों पर निछावर हो गई, वह अपना स्नेह सुखदा से छिपाती थी। इसलिए कि माँ के हृदय में द्वेष न हो। वह रुद्र के लिये माँ से छिपकर मिठाइयाँ लाती और उसे खिलाकर प्रसन्न होती। वह दिन में दो-तीन बार उसे उबटन मलती कि बच्चा खूब पुष्ट हो। वह दूसरों के सामने उसे कोई चीज़ न खिलाती कि उसे नज़र लग जायगी। सदा वह **दूसरों से बच्चे के अल्पाहार का रोना रोया करती। उसे बुरी नज़र से बचाने के लिए तावीज़ और गंडे लाती रहती। यह उसका विशुद्ध प्रेम था। उसमें स्वार्थ की गन्ध भी न थी।**[१]

इस घर से निकलकर आज कैलासी की वही दशा थी, जो थियेटर में एकाएक बिजली के लैम्पों के बुझ जाने से दर्शकों की होती है।[२] उसके सामने वही सूरत नाच रही थी। कानों में वही प्यारी-प्यारी बातें गूँज रही थीं। उसे अपना घर काटे खाता था, उस कालकोठरी में दम घुटा जाता था।

रात ज्यों-त्यों कर कटी। सुबह को वह घर में झाड़ू लगा रही थी। एकाएक बाहर से ताज़े हलुवे की आवाज़ सुनकर बड़ी फुर्ती से घर से बाहर निकल आई। **तब तक याद आ गया, आज हलुवा कौन खायगा? आज गोद में बैठकर कौन चहकेगा?** वह मधुरी तान सुनने के लिए, जो हलुआ खाते समय रुद्र की आंखों से, होठों से और शरीर के एक-एक अंग से बरसती थी—कैलासी का हृदय तड़प उठा। वह व्याकुल होकर घर से निकली कि चलूँ रुद्र को देख आऊँ, पर आधे रास्ते से लौट आई।

रुद्र कैलासी के ध्यान से एक क्षण-भर के लिए भी नहीं उतरता था। वह सोते-सोते चौंक पड़ती, जान पड़ता, रुद्र डंडे का घोड़ा दबाये चला आता है, पड़ोसिनों के पास जाती, तो रुद्र ही की चर्चा करती। रुद्र उसके दिल और ज़ान में बसा हुआ था। सुखदा के कठोरतापूर्ण कुव्यवहार का उसके हृदय में ध्यान नहीं था। वह रोज इरादा करती थी कि आज रुद्र को देखने चलूँगी। उसके लिए बाज़ार से मिठाइयाँ और खिलौने लाती। घर से चलती, पर रास्ते

१. कैलासी का वात्सल्य-प्रेम देखिए

२. सुन्दर उपमा

से लौट आती। कभी दो-चार क़दम से आगे नहीं बढ़ा जाता। कौन-सा मुँह लेकर जाऊँ? जो प्रेम को धूर्त्तता समझता हो, उसे कौन-सा मुँह दिखाऊँ? कभी सोचती, यदि रुद्र हमें न पहचाने तो? बच्चों के प्रेम का ठिकाना ही क्या? नई दाई से हिल-मिल गया होगा। यह ख्याल उसके पैरों पर जंजीर का काम कर जाता था। **(कैलासी का सुन्दर अन्तर्द्वन्द्व)**

इस तरह दो हफ्ते बीत गये। कैलासी का जी उचाट रहता, जैसे उसे कोई लम्बी यात्रा करनी हो। घर की चीज़ें जहां की तहां पड़ी रहतीं, न खाने की सुधि थी न पहनने की। रात-दिन रुद्र ही के ध्यान में डूबी रहती थी। संयोग से इन्हीं दिनों बद्रीनाथ की यात्रा का समय आ गया। महल्ले के कुछ लोग यात्रा की तैयारियाँ करने लगे। कैलासी की दशा इस समय उस पालतू चिड़िया की-सी थी, जो पिंजड़े से निकल कर फिर किसी कोने की खोज में हो। उसे विस्मृति का यह अच्छा अवसर मिल गया, यात्रा के लिए तैयार हो गई।

६

आसमान पर काली घटाएँ छाई थीं और हल्की-हल्की फुहारें पड़ रही थीं। देहली स्टेशन पर यात्रियों की भीड़ थी। कुछ गाड़ियों पर बैठे थे, कुछ अपने घर वालों से विदा हो रहे थे। चारों तरफ़ एक हलचल-सी मची थी। संसारी माया आज भी उन्हें जकड़े हुए थी। **(मनोवृत्तियों का यथार्थ प्रकाशन)** कोई स्त्री को सावधान कर रहा था कि धान कट जावे तो तालवाले खेत में मटर बो देना और बाग के पास गेहूँ। कोई अपने जवान लड़के को समझा रहा था—असामियों पर बकाया लगान की नालिश में देर न करना और दो रुपया सैंकड़ा सूद जरूर काट लेना। एक बूढ़े व्यापारी महाशय अपने मुनीम से कह रहे थे कि माल आने में देरी हो, तो खुद चले जाइयेगा, और चलतू माल लीजियेगा, नहीं तो रुपया फस जायगा। पर कोई-कोई श्रद्धालु मनुष्य भी थे जो ध्यानमग्न दिखाई देते थे। वे या तो चुपचाप आसमान की ओर निहार रहे थे, या माला फेरने में तल्लीन थे। कैलासी भी एक गाड़ी में बैठी सोच

रही थी—इन भले आदमियों को अब भी संसार की चिन्ता नहीं छोड़ती। वही बनिज-व्यापार, वही लेन-देन की चर्चा। रुद्र इस समय यहां होता, तो बहुत रोता, मेरी गोद से कभी भी न उतरता। लौट कर उसे अवश्य देखने जाऊंगी। हे ईश्वर! किसी तरह गाड़ी चले। गर्मी के मारे जी व्याकुल हो रहा है। इतनी घटा उमड़ी हुई है, किन्तु बरसने का नाम नहीं लेती। मालूम नहीं, यह रेल वाले क्यों देर कर रहे हैं। झूठमूठ इधर-उधर दौड़ते-फिरते हैं। यह नहीं कि झटपट गाड़ी खोलदें। यात्रियों की जान-में-जान आए।[1] **(चरम सीमा की ओर उन्मुख)** एकाएक उसने इन्द्रमणि को बाइसिकिल लिए प्लेटफार्म पर आते देखा। उनका चेहरा उतरा हुआ था और कपड़े पसीने से तर थे। वह गाड़ियों में झाँकने लगे। कैलासी केवल यह जिताने के लिये कि मैं भी यात्रा करने जा रही हूँ, गाड़ी से बाहर निकल आई। इन्द्रमणि उसे देखते ही लपककर करीब आ गये और बोले—क्यों कैलासी, तुम भी यात्रा को चलीं?

कैलासी ने सगर्व दीनता से उत्तर दिया—हां, यहां क्या करूं? ज़िन्दगी का कोई ठिकाना नहीं, मालूम नहीं कब आँखें बन्द हो जायँ। परमात्मा के यहाँ मुँह दिखाने का भी तो कोई उपाय होना चाहिये। रुद्र बाबू अच्छी तरह हैं?

इन्द्रमणि—अब जा रही हो। रुद्र का हाल पूछकर क्या करोगी? उसे आशीर्वाद देती रहना।

कैलासी की छाती धड़कने लगी। घबरा कर बोली—उनका जी अच्छा नहीं है क्या?

इन्द्रमणि—वह तो उसी दिन से बीमार है, जिस दिन तुम वहाँ से निकलीं। दो हफ्ते तक तो उसने अन्ना-अन्ना की रट लगाई। अब एक हफ्ते से खाँसी और बुख़ार में पड़ा है। सारी दवाइयां करके हार गया, कुछ फ़ायदा नहीं हुआ। मैंने सोचा था कि चलकर तुम्हारी अनुनय-विनय करके लिवा आऊँगा। क्या जाने तुम्हें देखकर उसकी तबीयत संभल जाय; पर तुम्हारे घर गया, तो मालूम हुआ कि तुम यात्रा करने जा रही हो। अब किस मुँह से चलने को कहूँ। तुम्हारे साथ सलूक ही कौन-सा अच्छा किया, जो इतना

---

१. **कैलासी का मनोविश्लेषण**

साहस करूँ। फिर पुण्य-कार्य में विघ्न डालने का भी डर है। जाओ, उसका ईश्वर मालिक है। आयु शेष है तो बच ही जाएगा। अन्यथा ईश्वरीय गति में किसी का क्या वश !

कैलासी की आंखों के सामने अंधेरा छा गया। सामने की चीज़ें तैरती हुई मालूम होने लगीं। हृदय भावी अशुभ की आशंका से दहल गया। हृदय से निकल पड़ा—हे ईश्वर, मेरे रुद्र का बाल-बांका न हो। प्रेम से गला भर आया। विचार किया कि मैं कैसी कठोर-हृदया हूं। प्यारा बच्चा रो-रोकर हलकान हो गया और मैं उसे देखने तक नहीं गई। सुखदा का स्वभाव अच्छा नहीं न सही; किन्तु रुद्र ने मेरा क्या बिगाड़ा था कि मैंने मां का बदला बेटे से लिया ! ईश्वर मेरा अपराध क्षमा करें। प्यारा रुद्र मेरे लिए हुड़क रहा है। (इस खयाल से कैलासी का कलेजा मसोस उठा था और आंखों में आंसू बह निकले थे) मुझे क्या मालूम था कि उसे मुझसे इतना प्रेम है। नहीं मालूम बच्चे की क्या दशा है। भयातुर हो बोली—दूध तो पीते हैं न ?

इन्द्रमणि—तुम दूध पीने को कहती हो, उसने तो दो दिन से आँखें तक नहीं खोलीं।

कैलासी—हे मेरे परमात्मा ! अरे ओ कुली ! कुली ! बेटा, आकर मेरा सामान गाड़ी से उतार दे। अब मुझे तीर्थ जाना नहीं सूझता। हां बेटा, जल्दी कर; बाबू जी, देखो कोई इक्का हो तो ठीक कर लो।

इक्का रवाना हुआ। सामने सड़क पर बग्घियां खड़ी थीं। घोड़ा धीरे-धीरे चल रहा था। कैलासी बार-बार झुंझलाती थी और इक्केवान से कहती थी—बेटा ! जल्दी कर, मैं तुझे कुछ ज्यादा दे दूंगी। रास्ते में मुसाफ़िरों की भीड़ को देखकर उसे क्रोध आता था। उसका जी चाहता था कि घोड़े के पर लग जाते; लेकिन इन्द्रमणि का मकान करीब आ गया, तो कैलासी का हृदय उछलने लगा, बार-बार हृदय से रुद्र के लिये शुभ आशीर्वाद निकलने लगा—ईश्वर करे सब कुशल मंगल हो। इक्का इन्द्रमणि की गली की ओर मुड़ा। अकस्मात् कैलासी के कान में रोने की ध्वनि पड़ी। **कलेजा मुँह को आ गया। (आशंका और उत्सुकता)** सिर में चक्कर आ गया। मालूम

हुआ नदी में डूबी जाती हूं। जी चाहा कि इक्के पर से कूद पड़े, पर थोड़ी ही देर में मालूम हुआ कि कोई स्त्री मैके से विदा हो रही है, सन्तोष हुआ। अन्त में इन्द्रमणि का मकान आ पहुंचा। कैलासी ने डरते-डरते दरवाज़े की तरफ ताका, **जैसे कोई घर से भागा हुआ अनाथ लड़का शाम को भूखा-प्यासा घर आये और दरवाज़े की ओर सटकी हुई आंखों से देखे कि कोई बैठा तो नहीं है।**[1] दरवाज़े पर सन्नाटा छाया हुआ था। महाराज बैठा सुरती मल रहा था। कैलासी को ज़रा ढारस हुआ। घर में पैठी, तो देखा कि नई दाई पुलटिस पका रही है। हृदय में बल-संचार हुआ। सुखदा के कमरे में गई, तो उसका हृदय गर्मी के मध्याह्नकाल के सदृश कांप रहा था। सुखदा रुद्र को गोद में लिये दरवाज़े की ओर एकटक ताक रही थी। वह शोक और करुणा की मूर्त्ति बनी हुई थी।

कैलासी ने सुखदा से कुछ नहीं पूछा। रुद्र को उसकी गोद से ले लिया और उसकी तरफ सजल नयनों से देख कर कहा—बेटा रुद्र! आंखें खोलो।

(चरम सीमा—तीव्रतम स्थिति)

रुद्र ने आंखें खोलीं। क्षण-भर दाई को चुपचाप देखता रहा और तब एकाएक दाई के गले से लिपट कर बोला—अन्ना आई! अन्ना आई!!

रुद्र का पीला, मुर्झाया हुआ चेहरा खिल उठा, जैसे बुझते हुए दीपक में तेल पड़ जाय। ऐसा मालूम हुआ मानो यह कुछ बढ़ गया हो।

एक सप्ताह बीत गया। प्रातःकाल का समय था। रुद्र आंगन में खेल रहा था। इन्द्रमणि ने बाहर से आकर उसे गोद में उठा लिया और प्यार से बोले—तुम्हारी अन्ना को मार कर भगा दें?

रुद्र ने मुंह बनाकर कहा—नहीं, रोयेगी।

कैलासी बोली—क्यों बेटा, तुमने तो मुझे बद्रीनाथ नहीं जाने दिया। मेरी यात्रा का पुण्य-फल कौन देगा।

---

१. जीवन की अनुभूतियों से पूर्ण उपमाएं प्रेम चन्द की विशेषता।

इन्द्रमणि ने मुस्कराकर कहा—तुम्हें उससे कहीं अधिक पुण्य मिल गया। यह तीर्थ—

महातीर्थ है !

प्रष्टव्य

१. सिद्ध कीजिए कि 'महातीर्थ' कहानी में बाल-भाव और वात्सल्य-प्रेम की पराकाष्ठा है।

२. प्रेमचन्द की कहानी कला पर 'महातीर्थ' कहानी के आधार पर प्रकाश डालिए।

३. 'यह तीर्थ महातीर्थ है'—इन शब्दों में किस महातीर्थ की ओर संकेत है। लेखक का उद्देश्य स्पष्ट कीजिए।

४. "कैलासी और सुखदा दोनों में मातृत्व है, पर उनके अपने-अपने चरित्र और स्वभाव के अनुरूप ही उसकी अभिव्यक्ति हुई है।" इस कथन पर प्रकाश डालते हुए दोनों की तुलना कीजिए।

स्वर्गीय विश्वंभर नाथ शर्मा कौशिक (सन् १८९१–१९४५)

अम्बाला छावनी (पंजाब) को कौशिक जी की जन्मभूमि होने का गौरव प्राप्त है। चार साल की अवस्था में ही आप दत्तक होकर कानपुर चले गए थे और जीवन भर वहीं रहे। वैसे तो आपने मैट्रिक तक ही शिक्षा पाई थी, किन्तु उर्दू, हिन्दी, संस्कृत और फारसी का उनका ज्ञान पर्याप्त बढ़ा-चढ़ा था। साहित्य, संगीत, चित्रकला आदि में आप की बड़ी रुचि थी। रंग-मच का भी उन्हें व्यावहारिक ज्ञान था। पहले आप रागिब नाम से, प्रेमचन्द की ही तरह, उर्दू में लिखते थे। 'मनोरंजन' नामक मासिक पत्र का भी कुछ दिनों तक बड़ी योग्यता से सम्पादन किया।

हिन्दी कथा-साहित्य में आपका विशेष महत्व है। 'मां' और 'भिखारिनी' नामक आपके दो उपन्यास बहुत प्रसिद्ध हैं। 'चांद' में प्रकाशित आपकी 'दुबे जी की चिट्ठियां' हास्य रस की सुन्दर कृतियां है। विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा ने आपकी समस्त कहानियों को—पेरिस की नर्तकी, कल्लोल, बन्ध्या, खोटा-बेटा, जीत में हार, प्रतिशोघ और ईश्वरीय दण्ड नामक ७ संग्रहों में प्रकाशित किया है।

सन् १९१२ में कौशिक जी की 'रक्षा बंधन' नामक पहली कहानी 'सरस्वती' में निकली। इसके बाद वे बराबर कहानियाँ लिखते गए। कला की दृष्टि से कौशिक जी प्रेमचन्द संस्थान के कथाकार ठहरते हैं। सामाजिकता, सोद्देश्यता, निम्नवर्ग तथा ग्राम जीवन का चित्रण, वर्णनात्मक शैली की प्रधानता, भाषा की सरलता, कल्पना और भावुकता की अपेक्षा वास्तविकता, और यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति आदि ऐसी विशेषताएं हैं जो प्रेमचन्द से साम्य रखती हैं। आपकी अधिकांश कहानियां घटना-प्रधान हैं। किन्तु 'ताई', 'वह प्रतिमा' आदि चरित्र-प्रधान कहानियां भी श्रेष्ठ कला की परिचायक हैं। कुछ प्रारंभिक घटना-प्रधान कहानियों में सुधार की प्रवृत्ति ने कला को ठेस पहुँचाई है। आपकी कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता है कथोपकथन। अधिकांश

कहानियां संवाद-प्रधान शैली में हैं। आरम्भ भी अधिकतर संलाप-ढंग पर हुआ है। संवाद बहुत सरल, संक्षिप्त, स्वाभाविक और पात्रानुकूल हैं। इनके कारण कहानियों में नाटकीयता का गुण आ गया है। चरित्र-चित्रण और कथा-विकास में कथोपकथन का ही बड़ा हाथ रहता है। कौशिक जी की भाषा-शैली प्रेमचन्द और सुदर्शन से सादृश्य रखती है। सरलता और व्यावहारिकता ही उसकी बड़ी शक्ति है।

'मनुष्यता का दण्ड' कहानी कौशिक जी की श्रेष्ठतम कहानी है। यह उस आधुनिक कहानी कला का सर्वाङ्ग सुन्दर उदाहरण है जिसका लेखक थोड़े से समय में, थोड़े स्थान पर बहुत बड़ी बात कहने वाला चित्र उपस्थित कर देता है। कहानी में नाटकीयता का गुण सबसे बड़ी विशेषता है। नाटकीय त्रिसामंजस्य का विधान बड़ा ही अनूठा है। कहानी संध्या के समय से प्रारम्भ होती है और अगली प्रातः समाप्त हो जाती है। यह समय का सामंजस्य है, इसी प्रकार स्थल भी केवल दो ही हैं—पाल का घर और सड़क। यह स्थल-सामंजस्य का श्रेष्ठ उदाहरण है। कार्य के सामंजस्य की दृष्टि से तो कहानी को नदी की सीधी धारा कहा जा सकता है, जिसमें कहीं मोड़-तोड़ नहीं। इस कहानी में फ्रेडरिक मानो मूर्त्तिमान कौतुक है, जो आश्चर्य जगाता हुआ आता है और अपने आश्चर्यपूर्ण चरित्र द्वारा मानवता के महान् सत्य का उद्घाटन करता हुआ, आश्चर्य-चकित करता हुआ, चला जाता है। कथा-शिल्प की दृष्टि से यह कहानी अत्यन्त सफल है। लेखक ने केवल एक मानवीय संवेदना को बड़ी स्वाभाविक रीति से चरम पर पहुँचाया है। आरम्भिक प्रस्तावना तथा अन्त में चरम सीमा के बाद कब्र खोदने का इतिवृत्तात्मक वर्णन अपेक्षाकृत कम होता तो अच्छा था। कहानी मानवतावादी विषय को अपनाती है। इसमें लेखक ने बताया है कि मानव-मानव में कोई भेद नहीं। सब देशों और सब जातियों में मानव समान होते हैं, उन्हें ठुकराने की नहीं, अपनाने की आवश्यकता है। युद्ध की विभीषिका के प्रति सैनिक फ्रेडरिक की घृणा और साथ ही कर्त्तव्य-भावना के कारण फिर अपनी टुकड़ी में मिलने के

लिये जाना सैनिक जीवन का यथार्थ विरोधाभास है । लेखक ने मानव-नाशा युद्धों के प्रति अपनी घृणात्मक प्रतिक्रिया प्रकट की है । हमारे कुछ लीडर और डिक्टेटर मानवता के सूत्र को खण्ड-खण्ड करने के लिये युद्ध रचा करते हैं । विश्व-शान्ति और मानवता की रक्षा का महान् सन्देश कहानी से मिलता है । इस प्रकार कहानी प्रगतिशील होती हुई भी अपने लक्ष्य में आदर्श की ओर बढ़ी है । फ्रेडरिक का आत्मोत्सर्ग कितना महान् है ! कथा का आरम्भ सीधा परिचयात्मक और स्वाभाविक है तथा अन्त सन्तोषजनक ।

यद्यपि यह कथा चरित्र-प्रधान नहीं है, परिस्थिति और घटना-प्रधान ही कही जायगी, क्योंकि इसमें युद्ध की परिस्थिति में संयोगवश जर्मन-सैनिक के आगमन और बलिदान की मुख्य घटना घटी है, किन्तु तो भी फ्रेडरिक; पाल, स्टेला और पोला की मनोवृत्ति पर संक्षिप्त किन्तु सजीव प्रकाश पड़ा है । स्टेला पुरानी पीढ़ी की स्त्री है । उसकी दृष्टि अधिकतर अपने परिवार तक ही सीमित है । अतः वह फ्रेडरिक के प्रति अनुदार है । पोला तरुणी है, देश-भक्ति की उग्र भावनाओं से ओत-प्रोत है । पाल बुद्धिमान्, विवेकशील प्राणी है । वह उदार मानव है । आयु और स्वभाव के अनुसार तीनों की भिन्न-भिन्न मनोदशा का अच्छा चित्रण हुआ है । फ्रेडरिक का चरित्र बड़े आश्चर्य-वर्द्धक ढंग से प्रकट हुआ है । वह कर्त्तव्य-निष्ठ सच्चा मानव है । हर हिटलर द्वारा रचे गये युद्ध में वह कोई सार-तत्त्व नहीं देखता । युद्ध के प्रति उसकी घृणा व्यंजित हुई है । वह विनोद-प्रिय प्राणी है । पात्रों का चरित्र-चित्रण नाटकीय शैली (कथोपकथन और क्रिया-कलाप द्वारा) में ही हुआ है ।

कथोपकथन बड़े ही स्वाभाविक, संक्षिप्त और नाटकीय हैं । कथा का सारा विकास, नाटक की तरह, इन्हीं के द्वारा हुआ है । कहानी संवाद-प्रधान नाटकीय शैली में लिखी गई है । देश-काल वातावरण का निर्वाह भी सफलता से हुआ है । संध्या में घना 'कुहरा', जमी हुई 'बर्फ' और 'चर्बी का दीपक स्थानीय रंग लाते हैं । प्रथम महा-युद्ध की परिस्थितियाँ भी सजीव हैं । कौशिक जी की भाषा-शैली अत्यन्त सरल और स्वाभाविक होती है । कोई भी तो कठिन शब्द पाठक को नहीं टकरता । अलंकार, लाक्षणिक प्रयोग आदि से

रहित होते हुए भी अपनी भावाभिव्यक्ति में भाषा पूर्ण समर्थ है। उसकी सरलता ही उसकी बड़ी शक्ति है। कहानी का शीर्षक बड़ा मार्मिक है। वह फ्रेडरिक के वीरतापूर्ण बलिदान को अमरता प्रदान करता है। जर्मन अफ़सर ने फ्रेडरिक से बार-बार पूछा—"तुम्हें किसी को कोई सन्देश देना है?" फ्रेडरिक कुछ क्षण तक सोचकर बोला—"हाँ मेरी माता से कह देना कि फ्रेडरिक को उसकी मनुष्यता के लिये मृत्युदण्ड दिया गया।" यही कथा की प्रमुख संवेदना है, यही उसका लक्ष्य है, यहीं चरम सीमा। अतः शीर्षक बड़ा सार्थक एवं कलात्मक है।

मनुष्यता का दण्ड

मास्को से लगभग २०० मील पश्चिम की ओर वियाज्मा के निकट जंगल में घने वृक्षों के मध्य एक बड़ी-सी झोंपड़ी बनी थी। इस झोंपड़ी में एक छोटा-सा रूसी परिवार रहता था। इस परिवार में केवल तीन प्राणी थे। एक प्रौढ़ वयस्क पुरुष, जिसकी वयस ४५ वर्ष के लगभग थी। शरीर का हृष्ट-पुष्ट तथा बलिष्ठ, उसकी पत्नी जो लगभग उसकी समवयस्क ही थी और इनकी एक कन्या जिसकी वयस २० वर्ष के लगभग होगी। ये दोनों स्त्रियां भी खूब तन्दुरुस्त थीं। पुरुष का नाम पाल लारेंज्की, स्त्री का नाम स्टेला तथा कन्या का नाम पोला था।

दिसम्बर की संध्या थी। अस्तासन्न सूर्य की सुनहरी किरणें आकाश में फैले हुए कुहरे को भेदन करने का विफल प्रयत्न कर रही थीं। झोंपड़ी में केवल ३ कमरे थे। एक बैठने-उठने के काम आता था। एक स्त्रियों के सोने के लिये, दूसरे में पाल का बिस्तर था। झोंपड़ी के पिछवाड़े एक 'शेड' था जो भोजन पकाने तथा खाद्य-सामग्री रखने के काम आता था।

पाल अपनी पत्नी तथा कन्या सहित अंगीठी के सामने बैठा हुआ था। झोंपड़ी में अंधेरा हो गया था। अतः स्टेला अपनी कन्या से बोली—"पोला, चिराग जला ले, उफ़! आज बड़ी सर्दी है— बाहर बर्फ गिरने लगी होगी!"

पोला ने चर्बी का दीपक जलाया और झोंपड़ी का द्वार खोलकर बाहर की ओर झांका; तत्पश्चात् द्वार बन्द करके कहा—"बड़ा कुहरा है, कुछ दिखाई नहीं पड़ता !"

यह कह कर वह पुनः अपनी कुर्सी पर आ बैठी।

स्टेला जम्हुआई लेते हुए बोली—"न जाने इस प्रलयकारी युद्ध से कब छुटकारा मिलेगा।"

पाल अपना पाइप मुंह से निकालकर बोला—"इतने ही दिनों में घबरा गई ? अभी तो असली युद्ध आरम्भ भी नहीं हुआ।"

"एक तो हम लोग ऐसी जगह हैं जहां हफ्तों कुछ समाचार ही नहीं मिलता—इससे जी और ऊबता है।"

"लेकिन साथ ही हम लोग सुरक्षित भी हैं।"

पोला बोल उठी—"मेरा चित्त तो चाहता है कि मैं मास्को चली जाऊँ। वहां युद्ध के काम में कुछ सहायता करूं।"

"तो क्या तू समझती है कि यहां हम लोग बेकार ही पड़े हैं ? हम लोग यहाँ रहकर जो कर रहे हैं वह भी युद्ध की सहायता ही है।"

"हां, परन्तु जीवन बड़ा निरुत्तेजक है। कोई हलचल नहीं, कोई गरमा-गरमी नहीं। मौसम भी ठंडा और हमारा जीवन भी ठंडा।"

"कुछ भी हो—हमें अपना कर्त्तव्य-पालन करना चाहिए।"

पाल ने गम्भीरता-पूर्वक कहा और पाइप मुंह में लगाकर विचार-मग्न हो गया। तीनों मौन बैठे हुए थे। तीनों की विचार-धारा अलग-अलग थी। पोला मास्को का कल्पित चित्र खींच कर उसमें विचरण कर रही थी और पाल सोच रहा था रूस और उसके भविष्य की बाबत।

(उपर्युक्त लम्बे प्रस्तावना-भाग के बाद अब प्रथम 'कौतुक' के साथ कहानी का प्रारम्भ होता है।)

सहसा द्वार-खटखटाने का शब्द हुआ। पाल चौंक पड़ा। उसने पाइप मुंह से निकाल कर द्वार की ओर कान लगाया। कुछ क्षण पश्चात् फिर वही शब्द !

स्टेला बोली—"इस समय कौन आया ?"

पोला उठती हुई बोली—"देखूं ?"

परन्तु पाल ने हाथ उठाकर कहा—"ठहरो !"

पोला खड़ी रही। फिर वही शब्द, परन्तु इस बार कुछ जोर से !

पाल उठ खड़ा हुआ। उसने खूंटी पर लटकी हुई पेटी में से अपने पिस्तौल को निकालकर हाथ में ले लिया। तत्पश्चात् द्वार के निकट पहुँचा। द्वार के पास ही एक छोटी खिड़की थी। खिड़की को खोलकर बाहर झांकते हुए पूछा—

"कौन ?"

"एक आपद्ग्रस्त मनुष्य ! कृपा करके जल्दी द्वार खोल दो !"

"पर तुम हो कौन ?"

"इस समय मैं केवल एक मनुष्य हूँ और मनुष्यता के नाते आपसे प्रार्थना करता हूँ कि मुझे शरण दीजिए; मुझे मौत के मुख से बचा लीजिए।"

"तुम तो जर्मन मालूम होते हो।"

(उत्सुकता और संघर्ष का एक और झोंका आया। वार्तालाप उत्तरोत्तर कहानी के कथानक के केन्द्र की ओर बढ़ रहा है। स्टेला की घृणा और पाल का सतर्क विवेक ध्यान देने योग्य है)

"इसके पहले मैं कुछ भी था, परन्तु इस समय केवल एक मनुष्य हूँ और आपका दयापात्र, आपका शरणागत।"

"तुम्हारे पास कोई अस्त्र है ?"

"हां, परन्तु मैं उन्हें फेंक देता हूँ। यह लीजिए—यह बन्दूक गई और यह पिस्तौल। बस, अब मेरे पास कुछ नहीं है।"

पाल ने बन्दूक और पिस्तौल फेंके जाने का शब्द सुना।

स्टेला बोल उठी—"यदि जर्मन है तो मरने दो द्वार मत खोलना।"

पाल ने पत्नी को कोई उत्तर न दिया। वह द्वार खोलने लगा।

स्टेला चिल्लाई—"पाल क्या करते हो ? जर्मन दगाबाज पर विश्वास करते हो।"

"वह इस समय जर्मन नहीं है—केवल एक मनुष्य है।"

यह कहते हुए पाल ने द्वार खोला—आगन्तुक झटपट भीतर आ गया। पाल ने द्वार बन्द कर लिया। जर्मन सर्दी के मारे कांप रहा था। पाल ने अंगीठी के निकट कुर्सी रख दी और जर्मन से कहा—"आओ बैठो !"

जर्मन लड़खड़ाता हुआ कुर्सी पर आ बैठा। स्टेला घृणा से मुंह बना कर अपनी कुर्सी छोड़ कर उठ खड़ी हुई और पोला को संकेत करके साथ लिये दूसरे कमरे में चली गई।

जर्मन स्थिर दृष्टि से अंगीठी की अग्नि को देख रहा था। दस मिनट तक दोनों मौन बैठे रहे। पाल अपना पाइप मुंह में दाबे, जर्मन के मुख को ध्यानपूर्वक देखरहा था।

उफ ! किस बला की सर्दी है। लोग कहते हैं कि नरक में आग ही आग है। यदि नरक में इतनी सर्दी हो तो भी मुझे आश्चर्य न होगा। यह सर्दी आग से कम जान-लेवा नहीं है।"

"इस समय कहां से आ रहे हो ?" पाल ने पूछा।

"मैं ? मैं मौत के मुंह से बचकर आ रहा हूँ। दोपहर की लड़ाई में हमारी बटालियन के प्राय: सब आदमी या तो मारे गये या पकड़ लिये गये। मैं किसी प्रकार भाग निकला। सोचा था अपने पिछले मोरचे पर चला जाऊंगा। पर आज इस कदर कुहरा रहा कि मैं रास्ता न देख सका और भटककर इधर आगया। उफ़ ! यदि आप न मिलते तो रात में यहीं कहीं सर्दी से ऐंठ जाता।"

कुछ गर्मी आजाने पर जर्मन ने पहले अपने चमड़े के दस्ताने उतार डाले तत्पश्चात् रोंयेदार चमड़े का बड़ा कोट भी उतार दिया। कोट उतार वह इधर-उधर देखने लगा। पाल ने उसका तात्पर्य समझकर एक ओर संकेत किया। वहां दीवार पर किसी पशु का सिर लगा हुआ था—जिसके दो बड़े

बड़े सींग थे। जर्मन ने उठ कर एक सींग पर अपना कोट टांगा और पुनः अपने स्थान पर आकर कहा—

"क्या मैं अपने आश्रय-दाता का नाम पूछ सकता हूं ?"

"पाल लारेंज्की।" पाल ने गम्भीरता-पूर्वक उत्तर दिया। जर्मन ने अपने कोट की जेब से पाइप निकाला और एक रबड़ की थैली। रबड़ की थैली में से तम्बाकू निकाल कर पाइप में भरते हुए वह बोला—"मेरा नाम फ्रेडरिक है।"

अँगीठी की आग से एक पतली लकड़ी के द्वारा पाइप सुलगाकर उसने पूछा—"आप क्या यहाँ अकेले ही रहते हैं ?"

"हां, हर फ्रेडरिक।"

"क्यों ? क्षमा कीजियेगा—मुझे ऐसा प्रश्न नहीं करना चाहिए, परन्तु उत्सुकतावश···।"

"यह युद्ध-काल है हर फ्रेडरिक।" पाल ने गम्भीरता-पूर्वक उत्तर दिया। फ्रेडरिक बच्चों की भांति हँसता हुआ बोला—

(जर्मन सैनिक का असंगत प्रश्न और उस पर बच्चों जैसी हँसी गम्भीर पाल के हृदय में ही नहीं, पाठकों के हृदय में भी 'औत्सुक्य' बढ़ा रही है। उत्सुकता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है)

"ठीक बात है।" फिर मुंह बनाकर बोला—"युद्ध बड़ी बुरी चीज़ है। युद्ध में मनुष्य मनुष्य नहीं रहता।"

पाल ने कोई उत्तर नहीं दिया। कुछ क्षण तक दोनों मौन रहे। पाल ने अपने पाइप की राख झाड़ते हुए कहा—"हम लोगों के भोजन का समय हो गया; आप भी खा लीजिये।"

"वाह वा ! मुझे भूख भी जोर की लगी है। बिस्कुट और सूखी रोटी खाते-खाते नाक में दम आ गया।"

पाल ने पुकारा—"स्टेला !"

स्टेला कमरे के द्वार पर आकर बोली—"क्या है ?"

"खाना लाओ, यह हमारे मेहमान भी खायेंगे।"

फ्रेडरिक हंसता हुआ बोला—"मैं बहुत भूखा हूं बहन, इसका ध्यान रखना।"

(जर्मन के कथन और प्रकट रूप से सशंक स्टेला को भी अपना आत्मीय बनाने की चेष्टा '**औत्सुक्य**' को अपनी सीमा पर पहुंचा रही है।)

स्टेला फ्रेडरिक को सशंक नेत्रों से देखती हुई चली गई।

(२)

भोजन से निवृत्त होकर उठते हुए फ्रेडरिक बोला—"ओफ़ ओह! बाद मुद्दत के स्वादिष्ट भोजन मिला। आप विश्वास कीजिए कामरेड पाल, युद्ध-क्षेत्र में केवल पेट भरा जाता है। जिसे भोजन कहते हैं उसकी तो वहां गंध भी नहीं होती। अब तो युद्ध बन्द हो जाता तो अच्छा था।"

दोनों पुनः अंगीठी के पास बैठे और दोनों ने अपने-अपने पाइप सुलगाये। पाल बोला—"बिना रूस पर विजय प्राप्त किये हुए आप लोग यह युद्ध कैसे समाप्त कर देंगे?"

"कामरेड पाल, मुझे तो आशा नहीं है कि हम लोग कभी रूस पर विजय प्राप्त कर सकेंगे। रूसियों के हृदय में देश-प्रेम है, देश के लिए प्राण देने की भावना है और सबसे बड़ी बात यह है कि रूसी युद्ध-कला जानते हैं।"

फ्रेडरिक ने यह बात इतने भोलेपन के साथ कही कि पाल को उसमें खुशामद नहीं वरन् शुद्ध हृदयता दिखाई पड़ी।

पाल बोला—"परन्तु क्या तुम्हारा भगवान् हिटलर भी ऐसा ही सोचता है?"

"क्या जाने! परन्तु यदि अभी नहीं सोचता तो उसे आगे चलकर सोचना पड़ेगा। भाई मेरा विचार तो ऐसा ही है—परन्तु होगा क्या, यह कौन जाने। क्यों कामरेड, भविष्य की बात कौन बता सकता है?"

"आप लोगों से क्या कहा जाता है?"

"बस यही कि लड़े जाओ, विजय निकट है। हर हिटलर के तो हमें

कभी-कभी दूर से ही दर्शन हो जाते हैं। हमें तो अपने निकट के अफसर से ही काम रहता है। केवल उसकी आज्ञा-पालन करना ही हमारा धर्म है—जैसा कि प्रत्येक सैनिक का हुआ करता है।"

"हर हिटलर के लिए जर्मनी का बच्चा-बच्चा अपने प्राण देने के लिए सदैव तैयार रहता है—क्यों न ?"

"हां, यह बात ठीक है। हम लोगों के अन्दर यही भावना भरी जाती है कि हिटलर की आज्ञा-पालन करने में ही हमारे लिए सब कुछ है। परन्तु कामरेड पाल ! मनुष्य तो मनुष्य ही रहेगा—पशु नहीं हो सकता। मनुष्य के पास मस्तिष्क है, बुद्धि है, हृदय है, इनसे तो यह कुछ न कुछ काम अवश्य ही लेगा—नहीं लेगा ?"

"लेना तो चाहिए, परन्तु जहां तक मैंने सुना है और देखा है जर्मन सैनिक पशुवत् व्यवहार करते हैं।"

"देखिये कामरेड पाल, **युद्ध में जो कुछ होता है उसका उत्तरदायित्व सैनिक पर नहीं वरन् सैनिकों का संचालन करने वाले अफसरों पर होता है।** इस पर आप यह प्रश्न कर सकते हैं कि क्या तुम लोगों के अफसर पशु हैं ? मैं कहूंगा नहीं। वे पशु नहीं हैं। केवल युद्धांध हो गये हैं। मैं आपसे इस समय ऐसी बातें कर रहा हूं वह केवल इसलिए कि मैं इस समय युद्ध-भावना-शून्य हो गया हूं। अन्यथा जब मैं युद्ध-भावना से पूर्ण होता हूं तो मेरा हृदय भी दया-शून्य हो जाता है। युद्ध चीज ही ऐसी है ?

भोजन के साथ ली हुई शराब ने पाल की गम्भीरता को कम कर दिया था। वह बोला—"बेशक ! हर फ्रेडरिक ! युद्ध बहुत बुरी बला है, परन्तु इस युद्ध का सारा उत्तरदायित्व तुम्हारे विधाता हिटलर पर है।"

"मैं राजनीति की पहेलियाँ नहीं हल कर सकता; इसलिए मैं यह नहीं कह सकता कि इसका उत्तरदायित्व किस पर है—हाँ, इतना जानता हूं कि रूस पर पहल हम लोगों ने ही की है और शायद युद्ध बन्द करने में भी पहल हमारी ही ओर से होगी।"

अन्तिम वाक्य फ्रेडरिक ने दांत निकाल कर ऐसे मसखरेपन के साथ कहा कि पाल भी मुसकराने लगा। पाल बोला—"जर्मन होने के नाते आपके विचार बड़े स्वतंत्र हैं।"

'सो तो इस बात को मेरे साथी सैनिक भी जानते हैं। मैं बात साफ ही कहता हूँ। बड़ी हंसी होती रहती है। कुछ लोग बुरा भी मानते हैं पर मुझे इसकी परवा नहीं। हां, अफसरों के सामने तो मैं अपने विचार प्रकट नहीं करता। हमारे अफसर बड़े बेढब होते हैं। अपने प्रतिकूल वे एक शब्द भी नहीं सुनना चाहते।"

पाल फ्रेडरिक के कोट की बांह पर का चिन्ह देखकर बोला—"आप तो सार्जेण्ट मालूम होते हैं।"

"हां, मैं सार्जेण्ट हूं कामरेड।"

सहसा फ्रेडरिक की आंखें निद्रा-भार से बन्द होने लगीं। यह देख कर पाल बोला—"आपको नींद आ रही है—सोना चाहिए।"

"मैं बहुत थका हुआ हूं कामरेड!" फ्रेडरिक ने आंखें खोल कर कहा।

पाल उठकर भीतर वाले कमरे में चला गया। स्टेला लेटी हुई थी, पोला अपने बिस्तर पर बैठी हुई विचार-मग्न थी।

स्टेला पाल को देखते ही बोली—"क्या यह भेड़िया रात में यहीं रहेगा?"

(पाल के लिए कौतुक का भले ही उतार हो, पर 'स्टेला' और 'पोला' की शंका ही जागृत है। पाठकों का 'औत्सुक्य' अपना अस्तित्व जमाये है। कथोपकथन कितना नपा-तुला, मार्मिक लाक्षणिक (सांकेतिक) है। पात्रों के चरित्र का विकास तो आप देख रहे हैं।)

"और नहीं तो कहां जायगा?"

"भेड़िये को घर में रखोगे?"

"इस समय वह भेड़िया नहीं रहा, इस समय वह केवल एक मनुष्य है।"

"जर्मन और मनुष्य ?"

"क्या तुम मुझे इतना बेवकूफ समझती हो स्टेला कि मैं आदमी और भेड़िये की पहिचान भी नहीं कर सकता ?"

स्टेला मौन हो गई । पाल ने कहा—"मैं यह कहने आया हूं कि इस कमरे का द्वार भीतर से बन्द कर लेना । और यह पिस्तौल धरा है । अब तो तुम्हें इतमीनान रहेगा ?"

"और बाहर कमरे में जो हमारी बन्दूकें, पिस्तौल और कारतूस की पेटी हैं—वे सब क्या वहीं रहेंगे ?"

पोला बोल उठी—"खाली एक पिस्तौल से क्या होगा—सब अस्त्र तो बाहर वाले कमरे में हैं और उसी कमरे के पास वह सोवेगा ।"

"मैं भी तो वहीं रहूंगा ।"

"तो क्या तुम रात भर पहरा दोगे ?"

"इतनी दूर तक सोचने की आवश्यकता नहीं है । अच्छा मैं जाता हूं ।"

यह कहकर पाल शीघ्रतापूर्वक बाहर आगया । उसने देखा, फ्रेडरिक बैठा ऊंघ रहा था । उसने जाकर अपने बिस्तर के बगल में ही फ्रेडरिक का बिस्तर लगा दिया और तत्पश्चात् फ्रेडरिक से कहा—"आपका बिस्तर तैयार है, फ्रेडरिक !"

फ्रेडरिक चौंककर उठ खड़ा हुआ ।

प्रातःकाल सबसे पहले पाल जागा । उसने देखा कि फ्रेडरिक गहरी निद्रा में है । उसने उठकर अंगीठी की आग को और तेज किया और स्त्रियों के कमरे के द्वार पर जाकर उसे खटखटाया । पोला ने द्वार खोला । पाल अन्दर गया । स्टेला अपने बिस्तर पर बैठी हुई थी । पाल उससे बोला—"स्टेला, कॉफी बना लो, शायद हमारा मेहमान नाश्ता करके जाना चाहे ।"

"तो क्या उसे जाने दोगे ?"

"हां क्यों ? यहीं रखने का विचार है ? कल तो उसको रात में ही निकालने के लिए तैयार थी ।"

"मेरा मतलब यह है कि उसे गिरफ्तार करके अपने फौजी अधिकारियों को सौंप दो। यहां से जाकर कहीं वह हमारे स्थान का पता...।"

"फिर वही अविश्वास ! विश्वास करना सीखो स्टेला, जर्मन भी आखिर मनुष्य ही है।"

"इसी मनुष्यता का परिचय दे रहे हैं।"

"अरे तो सभी एक से थोड़े ही हैं। इतनों में से कुछ तो ऐसे निकलेंगे जिनमें अब भी कुछ मनुष्यता बाकी होगी। और मेरे ख्याल से उन्हीं थोड़े आदमियों में से यह भी एक है। खैर ! उस पर नहीं तो मुझ पर विश्वास करो। मैंने धूप में बाल सफेद नहीं किये हैं। जल्दी नाश्ता तैयार करो।"

पाल पुनः बाहर आगया और अपना पाइप सुलगाकर अंगीठी के पास बैठ गया।

थोड़ी देर में फ्रेडरिक ने करवट ली। पाल ने पुकारा—

(पहले वाला 'कौत्सुक्य' और 'कौतुक' पाल के सोकर उठने से ही शान्त हो गया है परन्तु और आशंका उत्पन्न होती है)।

"हर फ्रेडरिक ! सवेरा हो गया।" फ्रेडरिक ने मुंह पर से कम्बल हटाकर पहले इधर-उधर देखा तत्पश्चात् 'ओ' कह उठ बैठा। आंखें मलता हुआ वह बोला—"ओह ! खूब सोया।"

"थके हुए जो थे।" पाल ने मुस्कराकर कहा।

फ्रेडरिक अपने जूते चढ़ाते हुए बोला—"बहुत थका था।" फ्रेडरिक भी पाल के पास आ बैठा। थोड़ी देर में नाश्ता तैयार हो गया। दोनों ने नाश्ता किया। इसके पश्चात दोनों पुनः अंगीठी के पास बैठ कर बातें करने लगे।

(३)

एक घंटा और व्यतीत हो जाने पर पाल ने फ्रेडरिक से पूछा—"अब आपके क्या इरादे हैं ?"

(अब वह 'औत्सुक्य' नये रूप में जागा परन्तु उसकी गति तीव्र नहीं

मंथर है। 'संघर्ष' भी कहीं-कहीं झांकता है। पाल की उदारता उस के विवेक के अनुकूल ही है।)

"जैसी तुम्हारी आज्ञा हो।"

"क्या मतलब ?"

"इस समय कायदे से मैं तुम्हारा कैदी हूं।"

"खैर, उस बात को छोड़ो ! मैंने कैदी की हैसियत से तुम्हें यहां नहीं रखा; बल्कि एक मनुष्य की हैसियत से एक मनुष्य को आश्रय दिया है।"

"तो यदि आप आज्ञा दें तो मैं अपने पिछले मोरचे पर चला जाऊं।"

"जैसी तुम्हारी इच्छा।"

"यदि यह बात है तो मैं आपका बहुत ही कृतज्ञ हूं। आपने एक सच्चे मनुष्य जैसा व्यवहार किया है।"

"और मुझे आशा है तुम भी वैसा ही करोगे।" पाल ने कहा।

"निस्सन्देह ! प्राण भी चले जाएँ तब भी उसके विपरीत नहीं करूंगा।"

"तो आप जा सकते हैं। परन्तु आपके अस्त्र जो आपने बाहर फेंक दिये थे अब बर्फ में दब गये होंगे।"

"कोई चिन्ता नहीं, ऐसे ही चला जाऊंगा। यदि केवल एक पिस्तौल होता तो काफी था।"

"एक पिस्तौल ! खैर एक पिस्तौल मैं आपको दे दूंगा।"

"बस काफी है और थोड़ी दूर तक रास्ता...?"

"यह भी बता दूंगा। और कुछ ?"

"बस !"

कुछ देर में फ्रेडरिक चलने के लिए तैयार हो गया। पाल ने उसे एक भरा हुआ पिस्तौल दिया और थोड़ा खाने को। फ्रेडरिक बोला—"यह क्या ?"

"कुछ खाने को है—शाम तक वहां पहुँच पाओगे।"

"धन्यवाद ! आप बड़े दयालु हैं। अच्छा !"

"चलो मैं तुम्हें रास्ता बता दूं।"

पाल ने अपनी बन्दूक ले ली और जाने के लिये तैयार हो गया। चलते समय फ्रेडरिक स्टेला से बोला—"बहन, क्षमा करना ! मेरे कारण तुम्हें कुछ असुविधा हुई।"

स्टेला मुस्कराकर बोली—"नहीं, असुविधा की क्या बात थी।"

पाल और फ्रेडरिक दोनों चले। लगभग डेढ़ घंटा चलने के बाद मुख्य सड़क दिखाई पड़ी। फ्रेडरिक बोला—"बस, अब आप लौट जाइये, मैं चला जाऊंगा।" ये दोनों थोड़ी दूर आगे बढ़े होंगे कि सामने से जर्मन मोटर-फौज का एक दस्ता आता दिखाई पड़ा। फ्रेडरिक जल्दी से बोला—"कामरेड पाल', आप जल्दी निकल जाइये—छिपते हुए जाइयेगा।"

("औत्सुक्य" की गति तीव्र हुई। संघर्ष के आवेगपूर्ण क्षण भी प्रस्तुत हुए)

पाल शीघ्रता-पूर्वक वृक्षों की आड़ लेकर लौट पड़ा। फ्रेडरिक आगे बढ़ा। दस मिनट में फौज का दस्ता उसके करीब आकर रुक गया। उसमें से आठ-दस सैनिक बन्दूकें लिये हुए उतरे। उनके साथ में एक अफसर भी था। अफसर के हाथ में दूरबीन थी। अफसर ने पूछा—"तुम्हारा क्या नाम है ?"

"फ्रेडरिक !"

"किस बटालियन के हो ?"

फ्रेडरिक ने नाम बताया। अफसर ने उसका नम्बर पूछा; वह भी फ्रेडरिक ने बता दिया।

"तुम्हारे साथ दूसरा कौन आदमी था ?"

('कौतुक' का फिर तीव्रता से प्रवेश।)

"कोई तो नहीं।"

"था कैसे नहीं, मैंने स्वयं दूरबीन से देखा। एक रूसी बन्दूक लिये हुए था।"

फ्रेडरिक मौन रहा।

अफसर साथ के सैनिकों से बोला—"देखो, उसे तलाश करो, अभी दूर न गया होगा।"

दस सैनिकों की एक टुकड़ी अपनी बन्दूकें संभालकर दौड़ पड़ी। अफसर फ्रेडरिक से बोला—"तुम्हें गिरफ्तार किया जाता है।......।"

('कौतुक' की पूर्णता। फिर 'औत्सुक्य' बढ़ा और कहानी चरम-सीमा—तीव्रतम स्थिति की ओर लपकी।)

यह कहकर उसने पास खड़े हुए सैनिकों से संकेत किया। उन्होंने आगे बढ़कर उसे हिरासत में कर लिया। एक ने उसका पिस्तौल ले लिया, देखकर सैनिक बोला—"यह तो रूसी पिस्तौल है।"

अफसर चौंककर बोला—"देखूं!"

पिस्तौल हाथ में लेकर अफसर बोला—"यह तो निस्सन्देह रूसी है। तुमने इसे कहाँ पाया?"

फ्रेडरिक बोला—"एक रूसी लाश से ले लिया था।"

अफसर ने पिस्तौल की मेगजीन खोलकर देखी। तत्पश्चात् कहा—"बिल्कुल भरा हुआ। एक भी फायर नहीं किया गया। हूँ! मेरा खयाल ठीक निकला। उसका यह प्रमाण है। ठीक बताओ, तुम्हारे साथ कौन था?"

फ्रेडरिक बोला—"यदि आप ठीक जानना चाहते हैं तो वह वह था, जिसने मुझे मृत्यु के मुख से बचाया—जिसने मुझ पर विश्वास करके मुझे अपने घर में आश्रय दिया। **वह एक मनुष्य था और उसने मुझे मनुष्य समझ कर मेरे साथ मनुष्यता का व्यवहार किया।**"

"ओह! मैं व्याख्यान नहीं सुनना चाहता। वह कौन है, उसका घर कहां है?" अफसर ने कड़ककर कहा।

फ्रेडरिक मौन रहा।

"जल्दी बोलो!"

फ्रेडरिक निरुत्तर था।

"नहीं बताओगे?"

"कदापि नहीं।" फ्रेडरिक ने दृढ़तापूर्वक कहा।

"तब तो यह खुली बगावत है।"

इसी समय सैनिकों की टुकड़ी लौट आई। उसमें से एक ने अफसर को सेल्यूट करके कहा—"वह तो नहीं मिला। आगे घना जंगल है, उसमें छिप गया होगा।"

"और वह हम लोगों को देख गया है।" अफसर ने पैर पटककर क्रोध से दांत पीसते हुए कहा। "फ्रेडरिक! तुम्हें दो मिनट का समय दिया जाता है। उसके बाद...एक सैनिक होने के नाते तुम स्वयं जानते हो।"

दो मिनट व्यतीत हो गये। अफसर सैनिकों से कड़ककर बोला—"फायरिंग स्क्वाड—पांच आदमी!"

पांच सैनिक अलग निकलकर एक कतार में खड़े हो गये। अफसर फ्रेडरिक से बोला—"फ्रेडरिक! तुम्हें फ्युहरर तथा नात्सी सरकार के विरुद्ध बगावत करने के अपराध में मृत्युदण्ड दिया जाता है। तुम्हें कुछ कहना है?"

फ्रेडरिक दृढ़तापूर्वक बोला—"मुझे कुछ नहीं कहना है।" अफसर ने सैनिकों को संकेत किया। दो सैनिकों ने आगे बढ़कर फ्रेडरिक का ऊपरी कोट उतार लिया। पत्पश्चात् उसके दोनों हाथ पीछे बांध दिये। असफर ने पुनः फ्रेडरिक से पूछा—"तुम्हें किसी को कोई संदेश देना है?"

फ्रेडरिक कुछ क्षण तक सोचकर बोला—"हां, मेरी माता से कह देना कि फ्रेडरिक को उसकी मनुष्यता के लिए मृत्युदण्ड दिया गया।"

अफसर दांत पीसकर बोला—"इसकी आंखों पर पट्टी बांधो।" एक सैनिक ने रूमाल फ्रेडरिक की आँखों पर बाँध दिया।

अफसर ने कहा—"ले जाओ! ५० कदम..."

दो सैनिक फ्रेडरिक को ५० कदम की दूरी पर ले गये और उसे फायरिंग स्क्वाड की ओर मुंह करके खड़ा कर दिया और स्वयं उससे कुछ हटकर खड़े हो गये। अफसर बोला—"तैयार!"

पांचो सैनिकों ने अपनी-अपनी बन्दूकें सीधी करके फ्रेडरिक की ओर निशाना साधा। अफसर बोला—"एक-दो-तीन!" पाँचों बन्दूकें एक साथ

छूटीं और फ्रेडरिक की लाश भूमि पर लोटने लगी। "इसे यहीं सड़क से थोड़ा हटकर दफन कर दो।" कहकर अफसर अपने हाथों को झाड़ता हुआ मोटर की ओर बढ़ा !

(कहानी की चरम-सीमा। तीव्रतम स्थिति)

चार सैनिकों ने फ्रेडरिक को उठाया। दो सैनिक एक पीछे वाली मोटर से दो फावड़े निकाल लाये और सड़क से हटकर वृक्षों के एक झुरमुट के नीचे फ्रेडरिक दफन कर दिया गया।

पाल पास ही छिपा हुआ था। उसने यह सब अपनी आंखों से देखा। जब फौज की टुकड़ी वहां से चली गई तब वह फ्रेडरिक की कब्र की तरफ आया। कुछ क्षण तक मौन रहा। इसके उपरान्त उसने एक मुट्ठी बर्फ उठा कर कब्र पर छोड़ते हुए कहा—"कामरेड फ्रेडरिक, तुमने साबित कर दिया कि तुम मनुष्य थे।"

प्रष्टव्य

१. "'मनुष्यता का दण्ड' आधुनिक कहानी का सर्वांग-सुन्दर रूप प्रस्तुत करती है।" इस कथन की तर्कपूर्ण समीक्षा कीजिए।
२. 'मनुष्यता का दण्ड' कहानी में लेखक का उद्देश्य स्पष्ट कीजिये।
३. 'मनुष्यता का दण्ड' कहानी के शीर्षक की सार्थकता सिद्ध कीजिये।

श्री राय कृष्णदास (जन्म सन् १९०२ ई० काशी में)

आप काशी के रहने वाले हैं। आपका सम्बन्ध काशी के प्रसिद्ध साहित्यकार भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से हैं। आपके पिता राय प्रह्लाद भारतेन्दु जी के फुफेरे भाई थे। साहित्यकारों और कलामर्मज्ञों के परिवार में उत्पन्न होने के कारण आप की रुचि भी बाल्यकाल से साहित्य और कला में रही है। आपके पिता भी बड़े विद्या-व्यसनी और कला-प्रेमी थे। आपकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध घर पर हुआ। आपने संस्कृत, अंग्रेजी और हिन्दी का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। आप ललित कलाओं के बड़े प्रेमी और मर्मज्ञ हैं। भारतीय चित्रकला और मूर्तिकला के आप विशेषज्ञ हैं। काशी का कला-भवन आप के कला-प्रेम का ज्वलंत उदाहरण है। आपने काशी नगरी प्रचारिणी सभा को अपना यह प्राचीन चित्रों का संग्रहालय देकर एक आदर्श प्रस्तुत किया है। पुरातत्त्व में भी आपकी अच्छी गति है।

बाल्य काल से लिखने में आपकी रुचि रही है। साहित्य के विविध अंगों की आपने अद्भुत सेवा की है। हिन्दी में गद्य-काव्य के निर्माता होने के कारण इस क्षेत्र में तो आपका सर्वोपरि महत्त्व है। आप हिन्दी के उच्च कोटि के भावुक साहित्यकार हैं। गद्य-काव्य, कविता, कहानी, तथा निबंध के क्षेत्र में आपकी मौलिक देन चिर-स्मरणीय है।

आप उच्च कोटि के कहानीकार हैं। प्रसाद जी की भाव-प्रधान कथा-शैली का विकास राय कृष्णदास जी में दिखाई देता है। आपकी कहानियों में शुद्ध साहित्यिकता, कवित्व और दार्शनिकता का पुट रहता है। प्रायः प्रेम और कला के विषय को ही अपनाते हैं। गद्य-गीतों की ही तरह आपकी कहानियों में भी समर्थ भाषा-शैली पाई जाती है। कल्पना और भावना की प्रधानता आपकी प्रायः सब कहानियों में रहती है। आपने कुछ ऐतिहासिक कहानियाँ भी लिखी हैं। कहीं-कहीं दार्शनिक पुट कुछ कथाओं को दुरुह-सा बना देता हैं। प्रतीकात्मकता भी आपकी कहानियों में कहीं-कहीं पाई जाती है। 'बीज

की बात' नामक कहानी हिन्दी की सुन्दर प्रतीकात्मक कहानी है। प्राकृतिक दृश्यों और वर्णनों की चित्रोपमता भी आपकी विशेषता है। एक संक्षिप्त-सी भाव-संवेदना, जीवन या कला-सत्य को आप अपनी भावना का रंग देकर कहानी के रूप में प्रकट कर देते हैं। भाव और भाषा की दृष्टि से आप प्रसाद, गोविन्द बल्लभ पंत, विनोद शंकर व्यास आदि लेखकों की कोटि में आते हैं। 'गहूला', 'नर राक्षस', 'भय का भूत', 'कला और कृत्रिमता', अंतःपुर का आरंभ, सम्राट् का स्वत्व आदि आपकी श्रेष्ठ कहानियां हैं। आपकी मुख्य रचनाएं ये हैं—

गद्य-काव्य—साधना, छायापथ, प्रवाल, संलाप

गल्प-संग्रह—अनाख्या, सुधांशु, आँखों की थाह, नई कहानियाँ

कविता-संग्रह—भावुक, ब्रजराज

'कला और कृत्रिमता' की समीक्षा:—प्रस्तुत कहानी राय कृष्णदास जी की श्रेष्ठ कहानी है। इसमें लेखक ने साहित्य-कला-सम्बन्धी एक बड़े तथ्य को स्पष्ट किया है। साहित्य और कला की थीम पर कहानी लिखना इनकी ही विशेषता है। इस कथा में बताया गया है कि कला की वास्तविक साधना वही है जो 'स्वांतः सुखाय' हो। कला का सच्चा निर्माण कलाकार के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की तन्मयता से ही होता है। फरमाइश के रूप में निर्मित कला में कृत्रिमता का आजाना निश्चित है। अपने आश्रयदाताओं की इच्छा और प्रसन्नता के लिये जो प्रशस्ति काव्य हमारे चारण या रीति-काल के अनेक कवियों द्वारा प्रणीत हुआ, वह कला की उच्च साधना किसी प्रकार नहीं माना जा सकता। 'सम्राट् ने एक महल बनाने की **आज्ञा दी**—अपने वैभव के अनुरूप, अपूर्व सुख और सुखमा की सीमा।' आज्ञा पर भला श्रेष्ठतम कला का निर्माण कभी सम्भव हुआ है ? स्थपति की कल्पना ने राजा की फरमाइश पर एक सुन्दर नक्शा बनाया। राजा प्रसन्न हुआ और उसके आधार पर प्रासाद बनवाने लगा। स्थपति अपने भाग्य को सरहाने लगा। परन्तु सच्चा कला-साधक नीहार असन्तुष्ट था। उसकी स्वतन्त्र कल्पना दूसरा ही कोमल स्वप्न देखने लगी। तन्मयतापूर्ण साधना का रंग जमाकर कलाकार बैठ गया।

"उसकी कामना के प्राबल्य ने चेतन-अचेतन का भेद मिटा दिया था—तभी न वह पत्थर में जान डाल सकता था।" सम्राट् ने भी कलाकार की तन्मय-साधना को तन्मय होकर देखा। उसका पूर्व "स्वप्न विकीर्ण हो गया, जैसे गुलाब की पंखड़ियाँ अलग-अलग होकर उड़-पुड़ जाती हैं।" उसकी कला पर सम्राट् भी 'वाह' कर उठा। कलाकार की निरुद्देश्य साधना सफल हो गई। कलाकार के अद्वितीय निर्माण को सबने सराहा। रहस्य प्रकट करता हुआ कलाकार राजा को कहता है—"यह कल्पना 'स्वान्तस्सुखाय' से उपजी है, और वह 'हुकुम पाई' उपजाई गई है।"कलाकार नीहार के चरित्र की उदारता, विनम्रता, एकान्त साधना, तन्मयता कितनी स्पृहणीय है! कितनी उच्च है!! कहानी सोद्देश्य होते हुए भी भावना से पूर्ण है। अपनी संक्षिप्तता, एकध्येयता तथा सोद्देश्यता में यह कहानी उच्च कोटि की साहित्यिक रचना है। "केवल बाहरी आकर्षण होना ही कला नहीं।" कला में अधिक अलंकरण भा उसे कृत्रिम बना देता है। राजा के कथन से इस तथ्य पर भी प्रकाश पड़ता है। चरित्र-चित्रण के लिये यह रचना नहीं हुई है। यह कथा उद्देश्य-प्रधान कलात्मक कथा का श्रेष्ठ उदाहरण है। फिर भी महास्थपति और नीहार की मनोवृत्तियों पर अच्छा प्रकाश पड़ा है। नीहार का चरित्र तो मूर्तिमान् कला है। संवाद भी सार्थक हैं। कथांश इसमें बहुत कम है—नहीं के बराबर है। इसीलिये घटनाओं की उत्सुकता और कौतूहल इसमें नहीं है। कथा की सोद्देश्यता, यद्यपि, कला-अनुराग की संवेदना में आवेष्टित होकर प्रकट हुई है, तो भी यदि इसमें कथांश और भाव-संवेदन कुछ और होता, तो अच्छा था। लेखक की भाषा-शैली समर्थ है। 'कलई खुलना', 'निगाहदारी ऊंघ रही थी' आदि मुहावरे और लाक्षणिक प्रयोग भी दो-चार पाये जाते हैं। उपमादि अलंकार भी कहीं-कहीं हैं। भाषा सरल है। कथा वर्णन-प्रधान शैली में लिखी गई है। बीच-बीच में भावना का भी पुट है। वातावरण की इसमें आवश्यकता ही न थी। कथा का आरम्भ और अन्त सफल है। उद्देश्य के अनुसार ही उसका शीर्षक रखा गया है।

कला और कृत्रिमता

सम्राट् ने एक महल बनाने की आज्ञा दी—अपने वैभव के अनुरूप, अपूर्व सुख और सुखमा की सीमा।

देश-भर के बड़े-बड़े स्थपतियों का दिमाग़ उसी का नक्शा तैयार करने में भिड़ गया। नक्शा तैयार हुआ। उसे देखकर सम्राट् फड़क उठे; उनके गर्व को बड़ी मधुर गुदगुदी हुई। जिस समय उस महल की तैयारी का चित्र उनके मनोनेत्र के सामने खड़ा हुआ, संसार के बड़े से बड़े प्रासादनिर्माता नरेन्द्र—आर्य्यावर्त्त, मिस्र, काबुल, चीन, पारस, ग्रीस, रोम आदि के,—तुच्छ मालूम हुए, क्योंकि उन्होंने भव्यता और चारुता का जो प्रदर्शन किया था वह इसके आगे कुछ भी न था।

जिन मदों से सम्राट् मत्त हो रहे थे आज उनमें एक और बढ़ा।

जिस भाग्यवान स्थपति की कल्पना ने इस भवन की उद्भावना की थी उसके तो पैर ही जमीन पर न पड़ते थे। सातवें आसमान की उड़ान में उसे अपनी इस कृति के सिवा अन्य कोई वस्तु दीख ही नहीं पड़ती थी।

अस्तु।

संसार-भर की एक-से-एक मूल्यवान और दुर्लभ सामग्रियाँ एकत्र की गईं और वह प्रासाद बनने लगा। लाखों वास्तुकार, लाखों शिल्पी काम करने लगे।

नीहार भी उन्हीं में से था। संगतराशों की एक टोली का वह मुखिया था और उसके काम से उसके प्रधान सदैव सन्तुष्ट रहते थे। किन्तु वह अपने काम से सन्तुष्ट न था। उसमें कल्पना थी। जो नक्शे उसे पत्थरों में तराशने को दिये जाते उनमें हेर-फेर और घटाव-बढ़ाव की जो भी आवश्यकता सुरुचि को अभीष्ट होती, उसे तुरन्त भास जाती। परन्तु उसका कर्त्तव्य था केवल आज्ञापालन, अत: यह आज्ञापालन वह अपनी उमंग को कुचल-कुचल कर किया करता। पत्थर गढ़ते समय टाँकी से उड़ा हुआ छींटा उसकी आँखों में उतना न कसकता जितना उन नक्शों की कुघरता।

इतना ही नहीं, उस सारे महल की कल्पना ही उसे वास्तु के मूल पुरुष, मय असुर की गठरी सी मालूम होती और उस स्थान पर पहुँचते ही उसे ऊजड़ भयावनेपन, और बदनुमापन की ऐसी प्रतीति होती कि वह सिहर उठता, मन में कहता—अच्छा ढड्ढा खड़ा किया जा रहा है, क्या ढकोसला है !

और, उसकी कल्पना एक दूसरा ही कोमल स्वप्न देखने लगती।

धीरे-धीरे यह चर्चा महाराज के कानों तक पहुँची कि नीहार अपने घर में एक महल बना रहा है—एक छोटा-सा नमूना। लोग राजप्रासाद के और इसके सौन्दर्य की तुलना करने लगे हैं कि वह इसके आगे कुछ भी नहीं; इसकी चारुता और कौशल अपूर्व है। नगर भर में इसकी चर्चा थी।

(उत्सुकता और संघर्ष का आरम्भ)

अधीश्वर की भावना को चोट लगी। जिस मूर्ति की वह उपासना कर रहे थे उस पर जैसे किसी ने आघात किया हो। परन्तु वे ज्वलन प्रकृति के न थे, उनके हृदय में उसे देखने की इच्छा जाग उठी।

उनके हृदय में कला का जो राजस प्रेम था, वह उन्हें प्रेरित करने लगा। क्योंकि उनसे कहा गया था कि जिस समय वह काम करने लगता है, मग्न हो जाता है, कहाँ क्या हो रहा है, इसकी खबर ही नहीं रह जाती। इसके चारों ओर देखने वालों की भीड़ लगी रहती है। किन्तु, इससे क्या ! वह ज्यों का त्यों अपने विनोद में लगा रहता है। वे इस तल्लीनता को देखने के लिये उत्सुक हो उठे—अपने को रोक न सके।

एक दिन वे चुपचाप नीहार के यहां पहुँचे। दर्शक-समूह सम्राट् को देखकर खड़बड़ाया; किन्तु उनके एक इंगित से सब जहाँ के तहाँ शान्त हो गए। चुपचाप सम्मान-पूर्वक उन्हें रास्ता दे दिया।

कलावन्त की उस तन्मयता, उस लगन, उस समाधि के देखने में मनुष्य स्वयं तमाशा बन जाता था। महाराज भी वैसे ही रह गए। **जिस प्रकार अचेतन यंत्र, चेतन बनकर काम करने लगता है, उसी प्रकार यह चेतन, अचेतन यंत्र होकर, अपनी धुन में लगा हुआ था। उसकी कामना के प्राबल्य**

ने चेतन-अचेतन का भेद मिटा दिया था—तभी न वह पत्थर में जान डाल सकता था।[1]

सम्राट् का स्वप्न विकीर्ण हो गया, जैसे गुलाब की पंखड़ियाँ अलग-अलग होकर उड़-पुड़ जाती हैं।[2] जिस प्रकार शुक्ति में रजत का भ्रम उसी समय तक रहता है जब तक वास्तविक सामने नहीं आ जाता, उसी प्रकार प्रासाद के सम्बन्ध में वे जिस कला-आभास से अभिभूत हो उठे थे, यह प्रकृति कला दीख पड़ते ही, वह जाने कहाँ विलीन हो गया।

विजृम्भा की मूर्ति बने सम्राट् उसे देख रहे थे कि नीहार क्षण के लिए किसी कारण अपनी उस निद्रा से जागृत हुआ। उसकी दृष्टि उन पर पड़ी—

उस समय उसके हृदय में बड़ा हर्ष हुआ। उसने अपने इस निरुद्देश्य निर्माण का फल-सा पा लिया और वह सम्राट् के चरणों में भक्ति भाव से नत हुआ।

सम्राट् ने उसे उठा कर अपने उन्मुक्त हृदय से लगा लिया। कह उठे—वाह! यहाँ तो पत्थर एक स्निग्ध-हृदय से एकतानता करके मोम बन गया है। नीहार! तू धन्य है। निस्सन्देह किसी शाप-वश पृथ्वी पर आया है, तभी तो यह वैजयन्त प्रासाद यहाँ निर्मित हुआ है।

'नरेन्द्र! आप ही यह रहस्य जानें'—विनीत शिल्पी ने अपनी लघुता व्यक्त करके कहा।

'तो अब इसका निर्माण इसके रूप-सरूप के अनुसार होने दो—वह राजभवन न बन कर यही बनेगा।'

'जो आज्ञा'—कह कर वह पुनः नत हुआ।

महाराज ने महास्थपति को बुलाने की आज्ञा दी।

हरकारे दौड़े और बात कहते वह महाराज के सामने उपस्थित किया

---

१. कलाकार की साधना की तन्मयता का कैसा सुन्दर वर्णन है।

२. सुन्दर उपमाएँ।

गया। नीहार की कृति पर उसकी निगाह पड़ी, साथ ही मुँह विचक गया। महाराज ने उस ओर इशारा करके कहा—देखो !

महास्थपति नम्र होकर देखने लगा, किन्तु चेहरे पर की शिकन ज्यों की त्यों कायम रही।

(विरोध बढ़ता है)

सम्राट् ने पूछा—क्यों, कैसा है ?

'कैसे कहूँ ?'

'क्यों, संकोच क्या है ?'

'यह देव को पसन्द आ चुका है।'

'तो उससे क्या हुआ'—सम्राट् ने साहस बंधाते हुए कहा—तुम अपनी स्पष्ट राय दो।

'एक खिलवाड़ है !' नाक सिकोड़ कर उसने कहा—

'तभी तो इतना आकर्षक है !'

'किन्तु निरर्थक तो है, स्वामी !'

'नहीं। रहस्यमय कह सकते हो। निरर्थक तो कोई वस्तु नहीं। जिसे हम नहीं समझ पाते, उसे निरर्थक कह बैठते हैं।'

'हाँ भगवन् ! किन्तु यदि वही रहस्य दुरूह हो जाता है तो व्यर्थ अवश्य हो जाता है—चाहे निरर्थक न हो।'

'किन्तु यहाँ तो उसका गूढ़ हो जाना आवश्यक था। वहीं तो कला है !'

सेवक की समझ में यह न आया !'

'सुनो ! केवल सौन्दर्य्य की अभिव्यक्ति तो इसके निर्म्माता का उद्देश्य हुई नहीं। उसे तो एक वास्तु निवास-स्थान की रचना करनी थी, किसी सम्राट् की पद-मर्यादा के अनुरूप। अतएव ऐसे भवन के लिए जितने अलंकार की अपेक्षा थी उस की इसमें तनिक भी कसर नहीं। किन्तु वहीं तक बस। उससे एक रेखा भी अधिक नहीं, क्योंकि घर तो घर, चाहे कुटी हो वा राज-महल, उसका प्रधान उपयोग तो यही है न कि उसमें जीवन बसेरा ले—पक्षी अपना नीड़ भी तो इसी सिद्धान्त पर बनाता है, वह मृग-मरीचिका की तड़क-

भड़क वाला पिंजरा नहीं बनाता जो जीवन को बंदी करके ग्रस लेता है। तुम्हारे और उसके कौशल में भी यही अन्तर है। **केवल बाहरी आकर्षण होना ही कला नहीं। उसका रूप प्रसंग के अनुकूल होना ही उसकी चारुता है।'**

'नाथ, अपने नन्हेपन के कारण यह ऐसा जान पड़ता है।' नम्रता दिखाते हुए उसने सीख दी।

'अजी, यह न कहो! विशालता तो ऐसी वस्तु है कि वह बहुतेरे दोषों को दाब लेती है। यही नमूना जब पूरे पैमाने पर बनेगा तो और खिल उठेगा। तो भी'—उन्होंने हंसकर कहा—'यदि तुम्हारे जान, यह अपने नन्हेपन के कारण ही इतना रुचिर है तो मंगाओ अपना महल वाला, वह नन्हा नमूना। दोनों की सामने रखकर तुलना हो जाय।'

महास्थपति से इसका कोई उत्तर न बना, क्योंकि अब वह जान गया था कि महाराज में जो **निगाहदारी ऊंघ रही थी,** उसे कला की इस प्रकृत वस्तु ने पूर्णतः जगा दिया है, अतः वे मेरी आलोचना के पोलेपन को भली-भांति समझ रहे हैं। इस कथोपकथन के बीच-बीच में वह महाराज की निगाह बचाकर क्षुब्ध दृष्टि से नीहार को भी देखता जाता था। किन्तु अब उस की वह दृष्टि नीहार पर नहीं पड़ रही थी—अब नत होकर पृथ्वी से करुणा की याचना कर रही थी।

यह दशा देखकर नीहार से न रहा गया—महाराज से उसने कुछ निवेदन करने की आज्ञा ली।

उसने बड़ी शिष्टता से कहा—देव वे आचार्य हैं, मैं उनकी चरण-धूलि के समान भी नहीं। उनकी और मेरी कृति की तुलना न्याय नहीं है—**मल्लयुद्ध में बराबर के जोड़े छोड़े जाते हैं।**

'परन्तु यह तो प्रतिभा की तुलना है जो अपने विकास से छोटे को भी बड़े के बराबर बैठा देती है।' महाराज ने गम्भीर होकर कहा, और महास्थपति को देखने लगे।

'किन्तु'—नीहार दृढ़ता से बोला—'इस प्रसंग में तो एक और सूक्ष्म

विचार है, तथा वही इसका मूल कारण है। यदि श्रीमान् उसे सुन लेंगे तो यही आदेश देंगे कि इन दोनों रचनाओं की तुलना उचित नहीं।'

'वह क्या ?' महाराज ने उत्सुकता से पूछा।

'यही कि'—कलावन्त के मुंह पर मुसकान थी, किन्तु इस प्रसंग से नहीं, वही जो उस पर सहज खेला करती थी—'यह कल्पना 'स्वान्तस्सुखाय' से उपजी है, और वह 'हुकम पाई' उपजाई गई है। देव कोई फ़र्माइश मुझे भी दें तो मेरी कलई आप ही खुल जाय !'

(चरम स्थिति, विरोध का शमन होता है)

'बस, बस अपने महास्थपति को तो तुमने परास्त किया ही था, अपने महाराज को भी हरा दिया !' प्रसन्नता से गद्‌गद् सम्राट् ने कहा।

उसके लिए, उसकी आंखों में स्नेह झलक रहा था और महास्थपति की दृष्टि में आसीस—केवल आसीस ही नहीं वन्दना भी उमड़ी पड़ती थी।

प्रष्टव्य

१. 'कला और कृत्रिमता' कहानी में कला-साहित्य सम्बन्धी जिस तथ्य का प्रतिपादन किया गया है, उसे स्पष्ट कीजिए।
२. 'कला और कृत्रिमता' कहानी की संक्षिप्त आलोचना कीजिए।

श्री ऋषभचरण जैन (जन्म सन् १६११)

आपका जन्म सन् १६११ में दिल्ली के एक सम्पन्न जैन परिवार में हुआ। आप दिल्ली के ही रहने वाले हैं। बड़े ही विनोद-प्रिय और उत्साही हैं। १६ साल की अवस्था में ही आप की पहली रचना 'मास्टर साहब' सन् १६२७ में प्रकाशित हुई। आरंभ से ही लिखने की ओर आपकी रूचि थी। 'साहित्य मण्डल' नाम से आपने एक प्रकाशन-संस्था भी चलाई थी। आपके कई उपन्यास इसी द्वारा प्रकाशित हुए। 'सचित्रदरबार' और 'चित्रपट' के सम्पादन द्वारा आपने पत्रकारिता के क्षेत्र में भी अपनी कुशलता का परिचय दिया।

आरंभ में आपने प्रेमचन्द जी की आदर्शोन्मुखी कला को ही अपनाया था। 'भाई' नामक उपन्यास से यह स्पष्ट है। किन्तु बाद में आप समाज के नग्न यथार्थ को, उग्रजी की ही तरह, प्रदर्शित करने लगे। आपने दर्जनों उपन्यास और कहानियों की रचना की है। सामाजिक कुरीतियों का आपने अत्यन्त यथार्थता के साथ चित्रण किया है। समाज के बीभत्स से बीभत्स दृश्यों को निस्संकोच प्रकट किया है। इसी स्पष्टवादिता के कारण आपकी रचनाओं पर नग्न-यथार्थवाद का दोष लगाया जाता है। भाई', कैदी, तपोभूमि, वेश्या-पुत्र, भाग्य, कंठहार (अनूदित), गदर, रहस्यमयी, सत्याग्रह, हिज हाईनेस, षड्यन्त्रकारी आदि आपकी औपन्यासिक कृतियां हैं।

'दान' कहानी की समीक्षा : प्रस्तुत कहानी श्री ऋषभचरण जैन की सर्वश्रेष्ठ कहानी है। हिन्दी की श्रेष्ठतम कहानियों में इसकी गणना की जा सकती है। लेखक ने इसमें समाज पर भारी व्यंग्य किया है। समाज के विविध वर्गों की यथार्थ मनोवृत्ति के सजीव शब्द-चित्र इसमें प्रस्तुत किए गए हैं। मानव-जीवन के अध्ययन में लेखक की गहरी पैठ का इससे परिचय मिलता है। पात्रों के रेखा-चित्र भी उनकी प्रकृति, संस्कार और वर्ग के अनुसार बड़े सजीव हैं। भिखारी की मनोवृत्ति का यथार्थ चित्र देखते ही बनता है। "रमजू एक भिखारी का नाम है। फटी-सी, सर्व-परिचित गूदड़ी ओढ़े सड़क के किनारे बैठा है। हाथ

पैर कांप रहे हैं, या कंपाए जा रहे हैं। शरीर जगह-जगह से ज़ख्मी हो गया है। मुंह पर घोर दीनता का भाव है। नीचे का होठ फैल गया है। दांत निकले पड़ते हैं।

"चन्दूलाल सामने से निकला, तो रमजू ओठ फैलाकर, दांत निकाल कर चिल्ला उठा—"बाबा, एक पैसा !...तेरे बच्चों की खैर...!"......।

"कंपकंपी क्षण-भर को रुक गई, ओठ सिकुड़ गए, दांत भीतर चले गए। पैसा उठा कर माथे से लगाया, और कृतज्ञ कण्ठ से रमजू ने कहा—"दाता तेरा भला करेगा।"

रामचन्द को आते देखते ही—"रमजू का भाव झट बदल गया। ओठ फैल गए, दांत निकल आए, शरीर कांपने लगा, और स्वर में वही कातरता फूट निकली। हाथ फैलाकर चीख पड़ा—"बाबा, एक पैसा !...तेरे बच्चों की खैर...!" रामचन्द के कुछ न देने पर भी अभ्यासवश उसने धीरे से कहा—"दाता तेरा भला करेगा।" कैसा सजीव चित्रण है !

लेखक ने इस श्रेष्ठ रचना में भिन्न-भिन्न वर्ग के लोगों की दानशीलता पर प्रकाश डाला है। गरीब भिखारी को चिल्लाता देखकर एक मामूली २०) का नौकर चन्दूलाल तो पसीज जाता है और आर्त स्वर या बच्चों की खैर की शुभ कामना उसके पैर बांध देती है। वह जेब का एक मात्र पैसा, जिसको वह अपनी लड़की के लिए दालसेंव ले जाना चाहता था, गरीब भिखारी की ओर फेंक देता है। किन्तु अनाजमण्डी का दलाल, चन्दन-टीका-धारी, कृष्ण का नाम रटने वाला रामचन्द्र उधर देखकर भी नहीं देखता। इस दीन-भिखारी को भला वह क्यों कुछ देने लगा ? उस भिखारी के पास न तो उस धर्म-भीरु को डराने की युक्ति है, न पण्डे-पुरोहित वाला, अनुष्ठान के बहाने उसके लाभ का चकमा देकर, रुपये ऐंठने का गुण है। रामचन्द तो अनिष्ट की आशंका से या इष्ट के लाभ से ही कुछ दान कर सकता है। एक जटाधारी संन्यासी की घुड़की और लाल पीली आंखें देखकर वह सहम जाता है। ये संन्यासी भी ऐसे लोगों की रगों को खूब जानते हैं। वह बड़े रोब से अपनी इच्छा पूरी करवा लेता है। उसका पैर पटक कर, आंखें निकाल कर यह कहना था—"नहीं

देता ? अच्छा ले जाता हूं, याद रख, तेरा सर्वनाश हो जायगा ?"—कि रामचन्द कांप उठता है और उस भिखारी को एक पैसा न देने वाला वह सवा रुपये का मोह त्याग देता है।

लेखक ने बड़ी ही कुशलता से समाज के लोगों की दानशीलता पर व्यंग किया है। अब समाज के शिक्षित वर्ग के एक व्यक्ति आते हैं बाबू ज्योतिप्रसाद—बूट-पैंट धारी। रमजू की टेर सुनकर वे अपनी तर्क-बुद्धि से उसे धमकाते हैं—"भीख क्यों मांगता है ? मक्कारी करके यहां अपाहिज बना बैठा है, हाथ-पांव चला, और कमाकर खा। तुम लोगों ने इस मुल्क की हालत बहुत खराब कर रखी है।" बाबू ज्योतिप्रसाद का उस जटाधारी संन्यासी से टकराव होता है। अब देखिए लेखक की गहरी पैंठ। रामचन्द को डराकर रुपये ऐंठने वाला संन्यासी यहां कैसा असमर्थ और भीगी बिल्ली बन जाता है। बाबू जी उसपर और भी बुरी तरह सवार हो जाते हैं। सन्यासी की मनोवृत्ति का प्रकाशन देखिए। "संन्यासी ने तीव्र नेत्रों से ज्योतिप्रसाद पर दृष्टिपात किया, पर त्यौरी चढ़ी देखी, तो दृष्टि की तीव्रता का लोप हो गया। पास आकर नर्मी से बोला—"बाबू...!" बाबू जी उस ढोंगी की रग-रग पहचानते हैं। कड़ककर कहा—"क्या है बे ?"

"संन्यासी की घिग्घी बंध गई। लड़खड़ाती जीभ से बोला—"बाबू, भूखा हूं।" ज्योतिप्रसाद चिल्ला उठे—"भूखा है तो.... क्या मुझे खाएगा ? जाकर कूएं में डूब मर !" संन्यासी अपना-सा मुंह लेकर रह गया।

पर ये शिक्षित बाबू जी भी दान देते हैं—विवश होकर, अपनी मर्यादा रखने के लिए। रामचन्द धर्म-भीरु थे, तो ये समाज-भीरु हैं। अब अनाथाश्रम के एक डेपुटेशन का शब्द-चित्र देखिए। बाबू ज्योतिप्रसाद की बैठक में तीन-चार खद्दर-धारी सज्जन उनकी प्रतीक्षा में बैठे हंसी-दिल्लगी कर रहे थे। "ज्योतिप्रसाद पहुंचे कि सबका भाव बदल गया ; जैसे सूरज के आगे बादल आ गया,...।" ज्योतिप्रसाद के मुंह की मलिनता, विवशता और संकट की स्थिति तथा 'डेपुटेशन' वालों की वार्तालाप पढ़ते ही बनती है। आखिर, समाज-सुधार के नाम पर समाज-भीरु ज्योतिप्रसाद कलेजे पर पत्थर रखकर २५ रु०

'डॉनेशनबुक' में लिख ही तो देते हैं। अब अन्तिम चित्र देखिए, रायसाहब हकूमतराय का। ये न चन्दूलाल की तरह दयावाले हैं, न रामचन्द की तरह धर्म-भीरु, न ज्योति प्रसाद के समान समाज-भीरु। ये हैं सरकार-भीरु। स्वप्न देखते हैं रायबहादुरी के। आप बेचारे रमजू की तो, उसके आग्रह करने और पांव में पड़ जाने पर, लात और पत्थर से खबर लेते हैं, जटाधारी संन्यासी भी देखता रह जाता है, और अनाथाश्रम वाला 'डेपुटेशन' भी इनसे मुंह की खाता है। ये तो वहीं दान देंगे, जहां देने से इन्हें 'रायबहादुरी के स्टेशन का टिकट' मिलने की संभावना हो। कमिश्नर साहब की चिट्ठी में सूचना थी—'वायसराय ने बादशाह के अच्छे होने की खुशी में 'थैंक्सगिविंग-फंड' खोला है'—बस इसे ही बांछित टिकट समझकर वे एक हज़ार रुपये के चैक की व्यवस्था कर डालते हैं। इस प्रकार लेखक ने भिन्न-भिन्न वर्ग के व्यक्तियों की मनोवृत्तियों का सजीव चित्रण करने में अद्भुत सफलता प्राप्त की है। आजकल दान कैसे दिया जाता है, इस पर सुन्दर, मीठा व्यंग किया गया है। दया, धर्म के नाम पर दान देने का युग यह नहीं है, सब अपने-अपने स्वार्थ के लिए दान-चंदा देते हैं। जीवन एक ढकोसला बन गया है। गरीब को कोई नहीं पूछता, पैसे वाले से सब घबराते हैं।

चित्रण-शैली, वर्णन-शैली, व्यंग्य-शैली और संवाद-शैली का बड़ा ही सफल प्रयोग इस कथा में हुआ है। पात्रों के रेखा-चित्र और शब्द-चित्र-निर्माण में चित्रण-शक्ति तथा 'रायबहादुरी के स्टेशन का टिकट,' 'क्षत्रिय के अपभ्रंश खत्री' आदि प्रयोगों में व्यंग्य-शक्ति अपूर्व दिखाई देती है। यह कथा एक नवीन अनूठी शैली में लिखी गई है। लेखक ने चार-पांच स्वतंत्र शब्द-चित्रों को एक ही उद्देश्य से सम्बद्ध करके प्रकट किया है अतः कथा का संगठन केवल उद्देश्य की एकता पर हुआ है। इस शैली में अधिक कथाएं नहीं मिलतीं। श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने इस शैली में कई कहानियाँ लिखी हैं। उनकी 'कामकाज' कहानी भी इस शैली का श्रेष्ठ उदाहरण है। उसमें भी तीन अलग-अलग शब्द-चित्रों को एक उद्देश्य से सम्बद्ध करके प्रकट किया गया है। विषय की दृष्टि से 'दान' कथा सामाजिक, मनोवृत्ति-प्रधान कहानी है। केवल

एक ही प्रसंग से लेखक ने पात्रों की मनोवृत्तियों पर सजीव प्रकाश डालकर उनके चरित्रों की रेखाएं स्पष्ट कर दिखाई हैं। दो चार उल्टी-सीधी रेखाओं से ही पात्रों का बाह्य व्यक्तित्व तथा आन्तरिक चरित्र सजीव कर देने में लेखक ने अपनी कला-कुशलता का परिचय दिया है। संवाद-शैली भी सार्थक, अत्यन्त उपयुक्त, रोचक, सजीव, संक्षिप्त, नाटकीय और पात्रानुकूल हैं। पात्रानुकूल सजीवता उसकी बड़ी विशेषता है। लेखक ने भाषा-शैली का प्रयोग भी पात्रानुकूल किया है। डेपुटेशन के लोगों की भाषा उर्दू-नुमा है। भाषा की अभिव्यंजना शक्ति द्रष्टव्य है। सुन्दर, सार्थक मुहावरे और लाक्षणिक प्रयोग, सुन्दर उपमाएं-उत्प्रेक्षाएं, व्यंग्योत्पादक शब्दों का प्रयोग, सरलता आदि भाषा-शैली के सशक्त प्रसाधन हैं। कथा का आरम्भ शब्द-चित्र के रूप में हुआ है, और अंत तो बड़ा ही मार्मिक है। 'दान' शीर्षक कहानी के समस्त व्यंग्य और उद्देश्य को प्रकट करता है। कुल मिलाकर कहानी अत्यन्त सफल कलापूर्ण कहानी है।

दान

चंदूलाल, रामचन्द, ज्योतिप्रसाद और हुकूमतराय चार आदमियों के नाम हैं।

चन्दूलाल एक घड़ी की दूकान में बीस रुपये का नौकर है। स्त्री है, एक बच्ची है। गुजर-बसर मुश्किल से होती है। कोट बरसों में बदलता है, जूता टुकड़े-टुकड़े हो जाता है, टोपी का खर्च बचाने के लिए नंगे-सिर नौकरी पर जाता है। रामचन्द, साधारण गृहस्थ हैं। जाति के वैश्य हैं। कृष्ण के सच्चे भक्त हैं। गीता का नियमित पाठ करते और माथे पर चन्दन पोत कर घर से बाहर निकलते हैं अनाज की मंडी में दलाली करते हैं। कृष्ण की कृपा से खासी प्राप्ति हो जाती है। घर के लोग खुशहाल हैं। ज्योतिप्रसाद, किसी अर्द्ध-सरकारी दफ्तर में हेड क्लर्क हैं! वेतन तीन सौ रुपया है। कपड़े रेशमी पहनते हैं। टोपी फेल्ट लगाते हैं। 'अबदुल्ला' का सिगरेट पीते हैं। अक्सर इंटर में और कभी-कभी सेकिंड क्लास में सफर करते और बीसों रुपया अपने

और बच्चों के स्वास्थ्य की खोज में डाक्टर-वैद्यों को अर्पण करते हैं। हुकूमतराय, **मोटी तोंद-वाले, क्षत्रिय के अपभ्रंश खत्री हैं। छज्जेदार पगड़ी लगाते हैं।**[1] मक्खनज़ीन का कोट या रफ़ल का अंगरखा पहनते हैं। दोनों हाथों की उंगलियों में कई-कई अंगूठियां भरे रहते हैं। चूड़ीदार पायजामा पहनते हैं, रेशमी कमरबंद हमेशा लटकता दिखाई देता है, और सलीम-शाही जूते या पंप-शू धारण करते हैं। अक्सर मोज़ों का इस्तेमाल भी होता है, आंखों में सुर्मा और मुंह में पान चौबीस घंटे रमा रहता है। रायसाहब की पदवी प्राप्त कर चुके हैं, और '...साहब' की जगह '...बहादुर' बनने की मन में बड़ी लालसा है।[2]

एक दिन ये चारों आदमी शहर के भिन्न-भिन्न भागों से अपने-अपने घर की तरफ चले।

(२)

रमजू एक भिखारी का नाम है। फटी-सी, सर्व-परिचित गूदड़ी ओढ़ सड़क के किनारे बैठा है। हाथ-पैर कांप रहे हैं, या कंपाए जा रहे हैं। शरीर जगह-जगह से ज़ख्मी हो गया है। मुंह पर घोर दीनता का भाव है। नीचे का होठ फैल गया है। दांत निकले पड़ते हैं।

चन्दूलाल सामने से निकला, तो रमजू ओठ फैलाकर, दांत निकालकर चिल्ला उठा—"बाबा, एक पैसा!...तेरे बच्चों की खैर...!"

इस आर्त स्वर ने या इस शुभ कामना ने चन्दूलाल के पैर बांध दिए। जेब में एक ही पैसा था। सोचा था, लड़की के लिए दाल-सेव लेते चलेंगे। अब वह इरादा बदल गया, और पैसा जेब में न रह सका। उसने जेब में हाथ डाला, और पैसा रमजू की तरफ फेंक दिया।

कंपकंपी क्षण-भर को रुक गई, ओठ सिकुड़ गए, दांत भीतर चले गए। पैसा उठाकर माथे से लगाया गया, और कृतज्ञ कण्ठ से रमजू ने कहा—"दाता तेरा भला करेगा।"

---

१. व्यंग्यमय शब्द-चित्र
२. हुकूमतराय का कैसा सजीव रेखा-चित्र है!

चन्दूलाल आगे बढ़ गया।

'छन्न' से आवाज हुई, और इस पैसे ने रमजू की थैली में पहुंचकर अपने जाति-भाइयों से मिलने की सूचना दी।

(३)

यह आवाज़ विलीन हुई थी कि रामचन्द आ पहुंचे। **माथे पर अब तक चन्दन पुता हुआ था। मुँह से कृष्ण का नाम निकल रहा था, और मन अनाज की मण्डी में घूम रहा था।**[1]

रमजू का भाव झट बदल गया। ओठ फैल गए, दांत निकल आए, शरीर कांपने लगा, और स्वर में वही कातरता फूट निकली। हाथ फैलाकर चीख़ पड़ा—"बाबा, एक पैसा !...तेरे बच्चों की खैर......!"[2]

रामचन्द को कृष्ण-नाम और अनाज की मंडी के चिंतन में कोई व्याघात न हुआ, और वह बिना उधर देखे आगे बढ़ गया।

रमजू ने सतृष्ण नेत्रों से देखा, और धीरे से कहा—"दाता तेरा भला करेगा।"

यह वाक्य अभ्यास-वश मुँह से निकल गया था, या सचमुच उसकी ऐसी इच्छा थी, इसे हम नहीं जानते।

रामचन्द थोड़ी दूर आगे बढ़ा था कि किसी ने रोक दिया। नज़र उठाकर देखा, तो एक जटाधारी संन्यासी ! रामचन्द ने अवाक् होकर उन्हें ताका, और फिर दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम किया।

संन्यासी कर्कश स्वर में बोला—"बोल, साधू की इच्छा पूरी करेगा ?"

रामचन्द सहमकर बोला—"कहिए क्या है महाराज ?"

संन्यासी ने इधर-उधर देखा। सड़क पर कोई न था। फिर वैसे ही कर्कश स्वर में बोला—"तेरे मुँह में कृष्ण का नाम है। संन्यासी की इच्छा तू ही पूरी कर ! तेरा कल्याण होगा।"

---

१. **व्यंग्य शैली**

२. **भिखारी की मनोवृत्ति का कैसा यथार्थ चित्रण है।**

रामचन्द हाथ जोड़कर बोला—"कहिए न महाराज ?"

"संन्यासी के भंडारे के लिए तुरन्त सवा रुपया दे।" संन्यासी ने आँखें निकालकर कहा—"तेरी जेब में है, देख, अभी निकाल; कल्याण होगा।"

रामचन्द क्षण-भर को ठिठका, तो संन्यासी ने ज़मीन पर पैर पटककर कहा—"नहीं देता ? अच्छा ले, जाता हूँ, याद रख, तेरा सर्वनाश हो जायगा ?"

रामचन्द एड़ी से चोटी तक लरज़ जाता है, और सवा रुपये का मोह त्याग देता है।

सवा रुपया लेकर संन्यासी लाल आँखें किये आगे बढ़ता है।

(४)

रमजू अपनी टेर शुरू करता है—"बाबा, एक पैसा !···तेरे बच्चों की खैर···!"

अब ज्योतिप्रसाद आये। फ़ेल्ट तिरछी हो गई है। रेशमी कोट के बटन खुल गये हैं। कमीज़ झकझक कर रही है। पतलून की 'क्रीज़' कुछ बिगड़ गई है। बूट अभी-अभी रूमाल से साफ़ किये गए हैं। सिगरेट से धुआँ निकल रहा है।

रमजू की टेर कान में पड़ती है, तो थम जाते हैं। क्षण-भर विचित्र दृष्टि से इस दीन भिखारी की तरफ़ ताकते रहते हैं, फिर कहते हैं—"अरे, तू क्यों भीख माँगता है ?"

रमजू उसी तरह दाँत निकालकर कहता है—"बाबा पेट···!"

"पेट !···पेट किसके नहीं है ?—हमारे भी तो है। हम भीख नहीं माँगते ! तू जो मक्कारी करके यहाँ अपाहिज बना बैठा है, इससे क्या फ़ायदा ? अरे, उठकर हाथ-पांव चला, और कमाकर खा, यह तो परले सिरे का कमीनापन है ! समझा ? तुम लोगों ने इस मुल्क की हालत बहुत खराब कर रक्खी है !"

रमजू मुँह बाए सब सुनता रहा कि अन्त में कुछ मिलेगा। पर जब

लेक्चर और विरक्ति-पूर्ण दृष्टि के अतिरिक्त कुछ न मिला, और बाबू साहब चल दिये, तो उसकी निराशा का ठिकाना न रहा। तब भी उसके मुँह से निकला—"दाता तेरा भला करेगा !"

ज्योतिप्रसाद आगे बढ़े। सामने से वही जटाजूट धारी संन्यासी आ रहा था। पुष्ट शरीर, चेहरा खिला हुआ, गेरुआ वसन, और लाल-लाल आँखें ! देखते ही ज्योतिप्रसाद की त्यौरी चढ़ गई। आप-ही-आप बोले—"एक यह और आया पाजी !"

संन्यासी ने तीव्र नेत्रों से ज्योतिप्रसाद पर दृष्टिपात किया, पर त्यौरी चढ़ी देखी, तो दृष्टि की तीव्रता का लोप हो गया। पास आ कर नर्मी से बोला—"बाबू…… !"

ज्योतिप्रसाद ने कड़ककर कहा—"क्या है बे ?"

संन्यासी की घिग्घी बंध गई। लड़खड़ाती जीभ से बोला—"बाबू भूखा हूँ।"

ज्योतिप्रसाद चिल्ला उठे—"भूखा है, तो क्या मुझे खायेगा ?—जाकर कुँए में डूब मर !"

और वह आगे बढ़ गए। संन्यासी भी अपना-सा मुंह लिए चल दिया।

ज्योतिप्रसाद चले। अपने इस निरर्थक क्रोध पर मन कुछ विषण्ण हो गया। संन्यासी की स्थिति पर कुछ दया भी आई, और उसी वक्त भिखारियों के पक्ष में उनके मस्तिष्क ने कई मौलिक युक्तियों की सृष्टि कर डाली।

घर पहुँचते-पहुँचते वह क्रोध भी, विषण्णता भी और वे युक्तियां भी, सब कुछ लुप्त हो चुका था।

बैठक में तीन-चार सज्जन उपस्थित थे। सबके शरीर पर खद्दर के वस्त्र और चेहरों पर नई तरह के भाव थे। सब बैठक में बैठे आपस में हँसी-दिल्लगी कर रहे थे। ज्योतिप्रसाद पहुँचे कि सब का भाव बदल गया; जैसे

सूरज के आगे बादल आ गया, और खिली धूप की जगह पलक मारते छाया हो गई ।[1]

थोड़ा-बहुत परिचय तो सभी से था, पर जगन्नाथ घनिष्ठ थे । हंसकर बोले—'जनाब की इन्तिज़ारी में दरे-दौलत पर हाज़िर हैं !"

ज्योतिप्रसाद आसीन होकर बोले—"कहिए, क्या हुक्म है ?"

जगन्नाथ दांत निकाल कर बोले—"इस महीने की तनख्वाह छीनने आए हैं ।"

ज्योतिप्रसाद सहमकर बोले—"क्या ?"

"हां जी बाबू बिहारीलाल, अब बोलो न ।"—जगन्नाथ ने अपने निकटस्थ साथी से कहा ।

बिहारीलाल ने गाँधी-कैप सरका कर कई बार मुँह का भाव बदला, फिर ऊपर का ओठ नाक की नोंक से छुआया, और कुछ बहियां, रसीद-बुकें और कुछ हैंड-बिल खद्दर के बस्ते से निकालकर मेज पर पटक दिए ।

एक हैंड-बिल ज्योतिप्रसाद के हाथ में दे दिया गया ।

शीर्षक था—"भयङ्कर आघात !" फिर छोटी सुर्खी में था—"हिन्दू धर्म ख़तरे में !" इसके नीचे और छोटे टाइप में छपा था—"लाखों अनाथों की रक्षा का आयोजन—हिंदुओं से अपील ।"

देवनागरी का निम्न-लिखित पद्य देकर बात शुरू की गई थी—

"हिन्दू जाती आज जाती है रसातल को सुनो ;
लाखों बच्चे भ्रष्ट होते, उनकी कहानी को सुनो ।"

फिर उस लम्बे हैंड-बिल में बहुत-सी बातें लिखी हुई थी । उपर्युक्त पद्य का माधुर्य्य लूट कर और हैंड-बिल के घोर अशुद्ध वक्तव्य को समाप्त करके, ज्योतिप्रसाद बोले—"स्कीम तो अच्छी है !"

जितनी देर में हैंड-बिल ख़त्म हुआ, सबकी नज़र उनके चेहरे पर जमी रही । अब यह बात सुनकर जैसे सब के सब पानी का छींटा खाकर

---

१. सुन्दर उपमान-योजना

जाग उठे,[1] और हर्षित हो कर एक साथ बोले—"जी, यह तो आशा ही थी आपसे……।"

ज्योतिप्रसाद ने कोशिश करके मुंह की मलिनता छिपाई और कहा—"आप लोगों का साहस प्रशंसनीय है।"

बिहारीलाल बोले—"अजी देखिए, आज लाखों की तादाद में अनाथ बच्चे विधर्मी हो रहे हैं।…… । (ज्योतिप्रसाद ने अतिशयोक्ति पर ध्यान न दिया, और मुंह की मलिनता छिपाने के लिए सिर हिलाकर समर्थन किया।) ईसाई और मुसलमान इन बच्चों की खोज में मुंह बाए फिरते हैं, और अन्त में उन्हीं की मदद से हमारे पवित्र धर्म पर कुठाराघात करते हैं। अगर हमारे पूर्वज इस बात का ख़याल रखते, तो आज भारत में विधर्मियों की इतनी संख्या कभी न होती। (मलिनता का भाव छिपाने में कुछ-कुछ सफल हुए हैं, इसलिए ज्योतिप्रसाद बराबर समर्थन-सूचक सिर हिलाए जा रहे हैं।) आज हमारे अनाथ बच्चों की जैसी दुर्दशा हो रही है, उसे देखकर किस हिन्दू की छाती फट न जाएगी? किसका हृदय हाहाकार न कर उठेगा? किसका…"

बिहारीलाल ने कब अपनी स्पीच समाप्त की, ज्योतिप्रसाद को इसका होश नहीं। जैसे रेल ठहरने पर नींद खुल जाती है, वैसे ही बिहारीलाल की स्पीच का प्रवाह रुकने पर उन्हें होश आ गया।[2] जगन्नाथ हंसते हुए कह रहे थे—"कहिए, कुछ समझे?"

ज्योतिप्रसाद सिटपिटाकर बोले—"जी हां, ठीक है—बड़ी अच्छी बात है!"

बिहारीलाल ने 'डॉनेशन-बुक' खोलकर उनके आगे रख दी, पेंसिल हाथ में थमा दी, और खुद रसीद-बुक लेकर फ़ाउंटेनपेन खोलने लगे।

ज्योतिप्रसाद बोले—"क्या हुक्म है?"

बिहारीलाल ने गिड़गिड़ाकर कहा—"अजी वाह, मैं क्या हुक्म चलाऊँगा, मैं तो आपका सेवक हूँ!"

---

१. सुन्दर उत्प्रेक्षा २. सुन्दर उपमा।

जगन्नाथ ने हँसकर बेतकल्लुफ़ी से कहा—"आपके पास 'अपील' करने से हमारा उद्देश्य यह है कि कम-से-कम आपकी एक महीने की तनख्वाह हड़प कर जायँ।"

ज्योतिप्रसाद के मुख पर जैसा संकट का भाव उदित हुआ, उसे देखकर आपको दया आती और अनाथाश्रम के 'डेपुटेशन' पर हँसी छूटती।

ज्योतिप्रसाद ने पन्ने पलटकर 'डॉनेशन-बुक' का निरीक्षण किया, फिर थोड़ी देर सोचते रहे, और फिर **कलेजे पर पत्थर रखकर**······लिख दिया।

जगन्नाथ ने खूब हाथ-पैर मारे, पर पचीस रुपए से एक कोड़ी ज्यादा न लिखी गई।

(५)

दो वार खाली जा चुके थे, इसलिए रमजू ने टेर के स्वर में वृद्धि की—"बाबा, एक पैसा···! तेरे बच्चों की ख़ैर!"

रायसाहब हुकूमतराय आते नज़र पड़े। छज्जेदार पगड़ी की बहार देखने योग्य थी। रफ़ल का अंगरखा उड़कर भागा जाता था। चूड़ीदार पायजामा ख़ूब कसा हुआ था। सलीमशाही जूते और मोज़े अलग फबन दिखा रहे थे।

रमजू ने इरादा कर लिया कि दोनों **बैरंग दाताओं**[1] की कसर इस एक से निकालूंगा। दूर से देखा, और चिल्लाने लगा—"बाबा तेरे बच्चों की ख़ैर...कुछ देना···!"

इस बार टेर में परिवर्तन कर दिया, क्योंकि एक पैसे से ज्यादा की आशा और अभिलाषा थी।

हुकूमतराय एक-एक कदम रखते आगे बढ़े। माथे की शिकन से मालूम होता था कि किसी गहरी चिन्ता में हैं। ऐसा जान पड़ता था कि किसी ने उन्हें छेड़ा, तो **बरस ही पड़ेंगे**। पर रमजू को इतनी अक़्ल होती, तो भीख क्यों मांगता? उसे तो बस एक पैसे से ज्यादा की धुन थी। उनका एक-एक कदम पड़ता था, और उस के दिल पर जैस चोट पड़ती थी। हर एक कदम पर या हर एक चोट पर आवाज़ भी तेज़ होती जाती थी।

---

१. **शब्दगत हास्य**

सामने आने में तीन क़दम की देर थी। रमजू गला फाड़कर चिल्लाया, "बाबा, तेरे बच्चों की खैर···!"

दो क़दम रह गए। रमजू आगे सरक गया। आवाज़ फिर निकली, "बाबा, तेरे बच्चों···।"

एक ही कदम रह गया था। रमजू की आंखें निकल आईं। पूरा ज़ोर लगा कर बोला—"बाबा, तेरे···।"

हुकूमतराय ठीक सामने आ गये। उड़ती नज़र से एक बार चीखते हुए भिखारी को देखा। विचार शृङ्खला में बुरी तरह बाधा डालने वाले इस नाचीज़ पर क्रोध तो बहुत आया, पर पी गए।

वह पिया हुआ क्रोध मानो अभागे भिखारी ने बाहर उगलवा लिया। क्या किया? जब हुकूमतराय ने आगे क़दम रक्खा, तो आवेग में भरकर उसने उसका पैर पकड़ लिया। मुँह से बोला—"बाबा, तेरे···!"

हुकूमतराय गिरते-गिरते बचे। वह पिया हुआ क्रोध वापस आ गया, और सारा शरीर आवेश के कारण एकबारगी झनझना उठा। उस नाचीज़ की इतनी हिम्मत! पहले तो उस क़ीमती विचार-वाटिका का सत्यानाश कर दिया, फिर···फिर ऐसे अपमान के साथ संबोधन करता है। और पाजी की यह हिम्मत कि पैर पकड़ लिया···।

यह सब विचार भयानक वेग के साथ पलक मारते दिमाग में घूम गए। हुकूमतराय की आंखों से चिनगारियां छूटने लगीं। आँखें निकालकर और दांत पीसकर उन्होंने पीठ फेरी। रमजू आशा और भयपूर्ण नेत्रों से देख रहा था। पर उनका तो विवेक नष्ट हो चुका था, उसके कातर भाव को लक्ष्य करने लायक भावुकता उनमें कहां से आती? शरीर में जैसे ज्वाला भर गई! उन्होंने पूरे वेग से एक लात रमजू पर चलाई, और पास से एक पत्थर का टुकड़ा उठाकर उस के सिर पर दे मारा।

रमजू की पहली चीख़ हवा में विलीन हो गई! फिर वह दहाड़ मारकर रो उठा। सिर से खून की मोरी-सी बह निकली। लात की चोट भी पूरी बैठी थी।

हाथ-पैर का काम खत्म हुआ, तो मुंह का शुरू हुआ। गन्दी-से-गन्दी गालियों की बौछार-सी होने लगी।

रमजू घाव और मार की पीड़ा से चीखता था, रोता था और 'हाय-हाय' करता था। आस-पास इतनी भीड़ इकट्ठी हो गई थी, पर कोई माई का लाल उसका पक्ष लेकर हुकूमतराय से जवाब तलब करने वाला न था। जो लोग रायसाहब के परिचित थे, वे उनसे प्रश्न कर रहे थे, उन्हें शांत कर रहे थे, और उनके क्रोध का अतिरंजित कारण जानकर असहाय रमजू पर रोष प्रदर्शन कर रहे थे।

जब ज़्यादा भीड़ इकट्ठी होती देखी, और क्रोध का खासा स्खलन हो चुका, तो रायसाहब आगे बढ़े।

बिलखते हुए रमजू की तरफ़ किसी का ध्यान न था। सब-के-सब आश्चर्य की मूर्ति बने, सहमे-से आतंक-पूर्ण रायसाहब को निहार रहे थे। रामचन्द से सवा रुपया ऐंठने वाला और ज्योतिप्रसाद की झिड़की खाने वाला संन्यासी भी चुपचाप भीड़ में खड़ा था।

घर थोड़ी दूर रह गया था। किसी ने आवाज़ दी 'रायसाहब···!'

रायसाहब ने पीछे फिरकर देखा—अनाथाश्रम का डेपुटेशन ! आवाज़ देने वाला जगन्नाथ था। रायसाहब से भी उसका साधारण परिचय था। उसी बल के आधार पर उसने आवाज़ दी थी।

रायसाहब थम गए। डेपुटेशन के लोग गर्दन झुकाए, खद्दर के कुरतों की सीवन को टटोलते हुए आगे बढ़े। एक के हाथ में हैंड-बिल थे, दूसरे ने रसीद बुकें ले रक्खी थीं, तीसरे के पास थैली और डोनेशनबुक थी। जगन्नाथ ख़ाली हाथ था।

रङ्ग-ढंग देखकर रायसाहब ने बहुत कुछ अनुमान कर लिया। गुस्सा अभी पुरी तरह शांत नहीं हुआ था। यह नए हमले की तैयारी देखी, तो त्यौरी में बल पड़ गए। फिर भी थमे रहे।

डेपुटेशन पास आया। सब ने हाथ जोड़कर अभिवादन किया। माथे की त्यौरी नष्ट किये बिना ही रायसाहब ने सिर हिलाकर अभिवादन का

उत्तर दिया। डेपुटेशन कुछ शंकित हुआ।

जगन्नाथ ने कहा—"कहिए, आपका मिज़ाज तो अच्छा है?"

रायसाहब कुढ़कर बोले—"जी हां, आप इधर कहाँ चले?"

जगन्नाथ ने देखा, रंग बेढंग है! नरमी की नदी में डूबकर बोला—"आपही के दौलतख़ाने पर क़दम-बोसी के लिए हाज़िर होने वाला था।"

रायसाहब तब भी बे-तकल्लुफ़ी पर न आए। बुड़ककर बोले—"मेरे······? क्यों, मुझ से क्या काम था?"

जगन्नाथ बोला—"आप तशरीफ़ ले चलिए, वहीं चलकर बताऊंगा।"

रायसाहब अनखाकर बोले—"आप कहते चलिए, घर पर तो मुझे मरने की भी फ़ुर्सत नहीं रहती।"

जगन्नाथ ने इस अपमान को कतई न-बरदाश्त कर कहा—"अच्छा, तो बात यह है······।"

उसने बिहारीलाल की तरफ़ देखा। एक हैंड-बिल राय-साहब की तरफ़ बढ़ा दिया गया।

हैंड-बिल उन्होंने न लिया। मोटी सुर्ख़ी पर दूर से ही नजर डालकर बोले—"क्या है यह? ज़बानी फ़र्माइए, मुख़्तसिर[1]······।"

जगन्नाथ ने बिहारी लाल की तरफ देखा, और कहा—'जी, लीजिए, आपसे परिचय करा दूं। आपका नाम······।"

रायसाहब टोककर बोले—"मतलब की बात कहिए न, मुझे देर हो रही है!"

बिहारीलाल के मुंह पर हवाइयां उड़ने लगीं।

जगन्नाथ बोला—"जी, एक अनाथाश्रम की स्कीम है। आप जानते हैं, आजकल लाखों बालक···।"

रायसाहब जल उठे। पहले कोई कड़ा उत्तर देना चाहते थे, फिर जगन्नाथ का मुंह देखकर रह गए। बोले—"क्या चंदे के लिए आए हैं...?"

"जी, आपकी सम्मति भी लेनी थी! और चंदा तो आप-ही जैसे······।"

---

१. संक्षेप में

"आप फिर किसी वक़्त मिलें। जो मुनासिब सलाह मैं दे सकता हूं, दूंगा !" कहकर रायसाहब एकदम चल दिए। डेपुटेशन भी वापस फिरा।

अब बिहारीलाल ने **गम्भीरता की चादर उतार फेंकी**, और हंसकर कहा—"......है बड़ा घाघ !"

अब सब का रूप अकस्मात् बदल गया, और पांच मिनट बाद दूसरे शिकार की खोज होने लगी।

उधर रायसाहब हुकूमतराय घर पहुंचे। ख़ूब ठाठ का घर था। घर क्या महल समझो। देखते ही नौकर-चाकर दौड़ पड़े। जूता उतारते हुए एक नौकर ने कहा—"सरकार, कमिश्नर साहब का चपरासी आया था।"

"क्यों ?"—कहकर रायसाहब एक साथ उछल पड़े।

"एक चिट्ठी दे गया है; दफ्तर में रक्खी है !"

रायसाहब नंगे-पांव उधर दौड़े। चिट्ठी खोलना दुश्वार हो गया। ख़ूबसूरत लिफ़ाफे में मोटे काग़ज़ पर छपा हुआ एक सर्कुलरनुमा पत्र था। नीचे चीफ़-कमिश्नर के हस्ताक्षर थे।

था क्या ? वायसराय ने बादशाह के अच्छे होने की खुशी में 'थैंक्स-गिविंग-फंड' खोला है। उसी की सूचना इस चिट्ठी द्वारा रायसाहब हुकूमतराय को दी गई है।

इस छपी हुई चिट्ठी को **रायबहादुरी के स्टेशन का टिकट**[1] समझकर रायसाहब उसी वक़्त एक हज़ार रुपए का चेक 'थैंक्स-गिविंग-फंड' में भेजने की व्यवस्था करने लगे।

प्रष्टव्य

१. 'दान' कहानी में लेखक के उद्देश्य पर विस्तृत प्रकाश डालिए।
२. "'दान' कहानी में लेखक ने समाज के विभिन्न वर्गों की भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियों का बड़ा सफल, सजीव चित्रण किया है"—सिद्ध कीजिए।
३. 'दान' कहानी की कला-शिल्प पर प्रकाश डालिए।

---

१. सुन्दर व्यंग्य-शैली

पं० गोविन्दबल्लभ पंत

नाम की समानता के कारण हिन्दी के अनेक पाठक प्रसिद्ध साहित्यकार पं० गोविन्दबल्लभ पंत को गृह-मन्त्री पं० गोविन्दवल्लभ पंत ही समझ बैठते हैं। पर हमारे साहित्यकार पंत जी तो राजनीति की राजधानी से कोसों दूर बैठे, ३०–३५ साल से अनवरत साहित्य-साधना कर रहे हैं। आपका जन्म सन् १८९९ में अल्मोड़ा में हुआ था। आरंभ से अध्ययन-अध्यापन और लेखन में आपकी रुचि थी। प्रेमचन्द की ही तरह आपका जीवन भी कठिन साधना का जीवन रहा है। आप एक सफल अध्यापक हैं।

जयशंकर प्रसाद की तरह आप भी सर्वतोमुखी प्रतिभा के मालिक हैं। हिन्दी नाटक साहित्य को आपकी महत्वपूर्ण देन है। नाटककार के अतिरिक्त आप कुशल उपन्यासकार, कहानीकार और कवि हैं। प्रसाद जी की कल्पना, भावुकता, ऐतिहासिकता, अतीत-प्रेम, कवित्व आदि की प्रवृत्ति आप में भी दिखाई देती है। छायावादी कल्पना, प्रेम और सौन्दर्य की झलक आपकी सब रचनाओं में रहती है। आप हिन्दी के भावुक कलाकार हैं। आपने सर्वप्रथम सन् १९२३ में 'कंजूस खोपड़ी' नाम का एक हास्यपूर्ण नाटक लिखा था। उसके बाद वरमाला, अंगूर की बेटी, राजमुकुट, अन्तःपुर का छिद्र, सुहाग-बिन्दी, ययाति आदि कई उत्कृष्ट सामाजिक-ऐतिहासिक नाटकों की आपने रचना की। तारिका, जूनिया, अनुरागिनी, एक सूत्र, नूरजहां, मदारी, अमिताभ, प्रतिमा, मुक्ति के बंधन, प्रगति की राह आदि एक दर्जन के लगभग सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास भी आपने लिखे हैं। आपकी कहानियों की संख्या थोड़ी है, किन्तु जितनी लिखी हैं, हैं सब छोटी-छोटी श्रेष्ठ कलात्मक। मिलन मुहूर्त्त, झूठा आम, तैमूर लंग, सब से बड़ा रत्न आदि इनकी सर्वश्रेष्ठ कहानियां हैं। मिलन मुहूर्त्त और तैमूर लंग आदि कहानियों की संवेदना ऐतिहासिक है। कल्पना, भावुकता-प्रदर्शन और काव्यमय

वातावरण तथा शैली आपकी कहानियों की सामान्य विशेषता है। आपकी कहानियों का विषय अधिकतर प्रेम ही रहता है।

'झूठा आम' कहानी पंत जी की श्रेष्ठ लघुतम कथा है। इस छोटी-सी कहानी में लेखक ने प्रेम की भाव-संवेदना को अत्यन्त भावुकता, कल्पना और काव्यत्व के साथ प्रकट किया है। आत्म कथा के रूप में यह भाव (प्रेम) प्रधान कहानी है। भावुकता-प्रदर्शन तथा कवित्वमय शैली के कारण इस में सर्वत्र काव्यमय वातावरण की सुन्दर सृष्टि हुई है। अपनी अत्यंत संक्षिप्त भाव-संवेदना के ही कारण यह गद्य-काव्य के अत्यन्त निकट प्रतीत होती है। यह कहानी लघुतम भाव-प्रधान कथा का श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करती है। समस्त कथा में छायावादी कल्पना और भावुकता ने प्लेटोनिक (Platonic) रोमानी वातावरण उपस्थित कर दिया है। कथा का आरंभ भी काव्यमय है और अंत भी। कथानक एक आकस्मिक घटना पर आधारित है। कहानी में प्रतीकात्मकता भी आ गई है। माया और कहानी का 'मैं' दोनों अव्यक्त रूप से सच्चे प्रेम-आकर्षण से बंधे हैं। एक दिन आम चूसते-चूसते अचानक आम की गुठली फिसल कर नीचे की मंजिल में गिरती है, जहां 'मैं' की रसोई थी। गुठली को संभालने में, झुकने के कारण, माया भी नीचे गिर पड़ती है। उसकी जीवन-लीला समाप्त हो जाती है। 'मैं' आह कर रह जाता है। उसके लिए गुठली माया के सच्चे प्रेम का प्रतीक बन जाती है। माया भी कह जाती है—गुठली झूठी नहीं थी', अर्थात् उसका प्रेम झूठा नहीं था। इस संकेत को पाकर 'मैं' उस सच्चे प्रेम के बीज को बो देता है। वह शुद्ध, निश्छल, सच्चा प्रेम पुष्पित और पल्लवित होता है। उस 'घने प्रेम-तरु' की शीतल छाया में श्रांत और तापतप्त बटोही कुछ देर विश्राम लेते हैं। पक्षी उस पर घोंसला बना कर आनन्द-क्रीड़ा करते हैं। उस सच्चे प्रेम-तरु के सच्चे प्रेम-फल (आम) को खाकर सब आनन्दित होते हैं। 'मैं' भी इस आदर्श (Platonic) प्रेम-लोक में, 'कोलाहल की अवनि छोड़कर', संतोष-लाभ करता है। हर साल् प्रेम की देवी माया आम्र मंजरियों की आड़ से झांक

कर 'मैं' को दर्शन देती है। अपनी लजीली मुस्कान प्रकट करती है। 'मैं' पूछ बैठता है—'क्यों माया, इतनी लज्जा क्यों ?' वह कहती है—'अब मेरा विवाह हो गया।' किसका विवाह, किसके साथ ? कैसा विवाह ? प्रकृति का विवाह, पुरुष के साथ। आध्यात्मिक विवाह। तभी तो उस प्रेम कला का विकास इस सृष्टि में हुआ—"यह लीला जिसकी विकस चली
वह मूल शक्ति थी प्रेम कला" (कामायनी)

इस प्रकार इस कथा में प्रतीकात्मकता, दार्शनिकता और भावुकता का सुन्दर त्रिवेणी-संगम है। इसमें संवादों का अभाव है। आरंभ में हमने कहानी के तत्वों पर प्रकाश डालते हुए बताया था कि उपन्यास के विपरीत कहानी में संवाद-तत्व अनिवार्य नहीं होता। कथोपकथन के बिना भी कथा-सृजन हो सकता है। इस कथा से पाठकों को यह तथ्य स्पष्ट हो गया होगा। इसमें चरित्र-चित्रण का भी प्रयास नहीं है। प्रतीकात्मकता और दार्शनिकता के कारण चरित्र-चित्रण का अभाव-सा ही रह गया है। कथा की विशेषता एकमात्र उसकी भाव-प्रधानता में है। शुद्ध प्रेम-भाव का प्रकाशन ही लेखक का उद्देश्य है। अपनी प्रभाव-एकता में कहानी सफल है। लेखक की अलंकृत चमत्कार पूर्ण कवित्वमय भाषा बहुत ही अनूठी है। प्रत्येक पंक्ति में अभिव्यंजना की विलक्षणता है। कथा का शीर्षक भी सार्थक है। 'झूठे आम' की वह गुठली झूठी न थी। माया के सच्चे प्रेम की प्रतीक जो थी !

जूठा आम

माया केवल हंस देती थी। मेरे प्रश्नों का मुझे सदा यही उत्तर मिलता था। जब वह मेरे सामने से चली जाती थी, तब **मैं उसके हास्य में अपने अर्थ को टटोलता था। भ्रांत भिखारी भी उस दिन में, जो उसके लिए रात के समान है, क्या इसी तरह अपना पथ खोजता होगा ?**[1]

मैं एक भग्न कुटीर में रहता था। सामने ही उसकी सुविशाल अट्टालिका थी। उस प्रासाद की सर्वोच्च मंज़िल के बरामदे में चिकें पड़ी हुई

१. भाव-प्रधान अलंकृत शैली

थीं। शायद माया अपने दो हाथों से कभी-कभी एकाध तीलियां तोड़ दिया करती थी। चिक का एक कोना खुल गया था। उसी कोने से, उसी की लापरवाही से एक दिन मैंने उसे देख लिया! वह एक दिन वहां पर फिर आई, मैंने फिर देखा। मैं उसे पहचान गया, वह मुझे पहचान गई।

(भावपूर्ण उत्सुकता का उदय)

इसके बाद वह वहां नित्य कुछ देर के लिये आती थी। मैं बड़ी देर तक प्रतीक्षा करता था। प्रतीक्षा कभी विफल न गई।

मैंने जितनी बार उसके स्वर्गीय रूप के दर्शन किए, उतनी ही बार उसमें कुछ-न-कुछ नवीनता अवश्य पाई। उसका विश्वमोहन हास्य मुझे **अपने नाम की तरह** खूब अच्छी तरह याद है, किन्तु मुझे याद क्या, मालूम भी नहीं, उसका कंठ कितना करुण और कोमल था।

मैं उसकी वाणी को सुनने के लिए बड़ा ही उत्सुक था, किन्तु वह पाषाण—नहीं, नहीं, सुवर्ण की प्रतिमा कभी बोली ही नहीं। मैंने बड़े-बड़े उपाय किए; पर **उसके अधरों से मुस्कान निकली, शब्द नहीं निकले; चित्र देखा, संगीत नहीं सुना; भाव मिला, अर्थ नहीं पाया; मेरे नेत्र कृतकृत्य** हुए, **कान अतृप्त ही** रहे।[1] कभी-कभी मेरे कर्णद्वय मुझसे कानाफूसी कर कहने लगते—'तू बहरा तो नहीं है?'

२

जो भी हो, लोग कहते हैं—जीवन की सबसे प्रिय वस्तु, सबसे मनोहर घटना अच्छी तरह याद रहती है; पर मुझे वह भयानक संध्या अभी की तरह खूब याद है।

(उत्सुकता तीव्र होती है)

आह! वह ग्रीष्म की संध्या थी।[1] तापतप्त भूमि पर पानी छिड़क कर मैं भोजन बना रहा था। **अचानक सूर्योदय हुआ, (विरोधाभास और**

---

1. भाव-प्रधान शैली का अनूठा रूप।

रूपकातिशयोक्ति) चिक के पास मुझे माया दिखाई दी। वह आम चूस रही थी। आम मधुर था, **उससे हजार गुना माधुर्य माया की मुस्कान में था। होठों में ऐसी माधुरी रखकर भी माया न जाने क्यों आम चूस रही थी।**[1]

माया ने आम चूस-चूसकर उसके छिलके दूर फेंक दिए। वह जानती थी, यदि उसके जूठे आम का एक भी छिलका मेरी रसोई में गिर जाय तो वह अपवित्र हो जायगी। मैं समझता था, यदि उसका एक भी जूठा छिलका मेरी रसोई में गिर जाय तो वह पवित्र हो जायगी।

माया गुठली चूस रही थी। अचानक! गुठली उसके मुंह से फिसल गई। माया को एकाएक यह ध्यान हुआ कि वह गुठली मेरी रसोई में गिरेगी। वह उसको सम्हालने को बढ़ी। गुठली गिरी, उसी के साथ माया भी। माया की असावधानी से गुठली गिरी और विश्व की असावधानी से माया। **संसार! क्या माया अब तेरे किसी काम की न थी। उस कलिका का अभी विकास भी कहां हुआ था, मूढ़!**[2]

गुठली और माया मेरे समीप कठोर भूमि पर गिर पड़े। मेरे ऊपर वज्र गिर पड़ा। मैंने देखा, माया मूर्च्छित हो गई थी।

क्षण-भर में ही उसके माता-पिता वहां पर दौड़े आए। पंखा करने पर माया ने आंखें खोलीं, सबके प्राण में प्राण आए। माया ने अधर खोले, मुझे जीवन मिला, अधरों में कंपन हुआ, माया ने कहा—'गुठली जूठी नहीं थी।' इसके बाद माया ने होंठ बंद कर लिए, आंखें बन्द कर लीं। फिर माया कुछ न बोली। उसके वह स्वर अंतिम हुए। माया सदा के लिए चली गई।

चारों ओर से 'गुठली जूठी नहीं थी' यही प्रतिध्वनित हो रहा था। जड़-जीव एक-एक कर मुझसे कहने लगे—'गुठली जूठी नहीं है।' सारा संसार एक स्वर से कहने लगा—'गुठली जूठी नहीं है।'

---

१. **काव्यमय भाषा।**

२. **भाव-पूर्ण शैली**

माया फिर कहीं नहीं दिखाई दी। बहुत दिन तक उसकी खोज में इधर-उधर पागलों की तरह घूमता रहा, कहीं उसका निशान नहीं मिला।

संसार में जब मेरे लिए कोई आकर्षण नहीं रहा, तब मैं उसका त्याग कर निर्जन वन में रहने लगा। माया की वह जूठी गुठली मेरी एकमात्र संगिनी थी। मैंने माया के पाने की चेष्टा की, नहीं मिली। शांति खोजी, वह भी नहीं मिली।

३

एक दिन श्याम मेघ आकाश से वारिसिंचन कर रहे थे। मैंने अपना समस्त मोह त्याग कर वह गुठली ज़मीन में बो दी। कुछ दिन बाद अंकुर निकल आया। मैंने अनवरत परिश्रम कर उस अंकुर की रक्षा की। कुछ काल में वह अंकुर एक विशाल वृक्ष में परिणत हो गया।

अचानक एक मधु-वसंत में उसमें बौर निकल आये। उस समय मैंने देखा, मानो माया अपने हास्य को लेकर आ गई है। कोकिला उसमें विश्राम कर कूकने लगी, मानो वही माया का स्वर था। प्रत्येक बौर में आम निकल आए, मानो माया कहने लगी—'आम जूठा नहीं है।'

उसी वृक्ष के नीचे अब मेरी कुटी है। उस वृक्ष के ऊपर मैंने पक्षियों को घोंसला बनाने और आराम करने की आज्ञा दे रक्खी है। नीचे छाया में मैं प्रत्येक तापतप्त बटोही से कुछ देर आराम करने का अनुरोध करता हूं।

हर साल आम की फ़सल में प्रत्येक पथिक को मैं एक-एक आम देता हूँ। जिस समय वे उसे खाते हैं, समझता हूं आम झूठा नहीं है।

साल में एक बार आम्र-मंजरियों की आड़ से झांक कर माया मुझे दर्शन देती है। उससे कहता हूं—'माया !'

वह लज्जित हो जाती है और पत्तों के घूंघट को अधिक खींच लेती है। मैं कहता हूं—'क्यों माया, इतनी लज्जा क्यों ?'

वह कहती है—'अब मेरा विवाह हो गया।'

प्रष्टव्य

१. "'जूठा आम' कहानी में प्रतीकात्मकता दार्शनिकता और भावुकता का सुन्दर त्रिवेणी-संगम है।"—इस कथन की मीमांसा कीजिए।
२. 'जूठा-आम' कहानी की शिल्प-विधि पर प्रकाश डालिए।

श्री जी० पी० श्रीवास्तव

हिन्दी के प्रसिद्ध हास्यरस-लेखक श्री गंगा प्रसाद श्रीवास्तव का जन्म सन् १८९५ में हुआ। आप गोंडा (उत्तर प्रदेश) के रहने वाले हैं। इलाहाबाद यूनिवर्सिटी से बी० ए०, एल-एल. बी. करके आप गोंडा में वकालत करते रहे हैं। आप बड़े विनोद-प्रिय, उदार और सज्जन पुरुष हैं। जबकि हिन्दी में हास्य रस पर लिखने वाला कोई नहीं था, तब इस क्षेत्र में आपने कार्य किया। हिन्दी के कथा-साहित्य में हास्य-रस के अभाव की आपने बहुतांश में अपने उपन्यासों, कहानियों और नाटकों द्वारा पूर्ति की। आलोचकों ने आपके हास्य को गंवारु, भोंडा और अशिष्ट कहकर आपकी रचनाओं को उपेक्षा का पात्र बनाया, किन्तु हम समझते हैं कि हिन्दी कथा-साहित्य के आरंभिक युग में आपने साहित्य की अद्भुत सेवा की है। आपके साहित्य को पढ़े बिना जो आलोचक यह दोष लगाते हैं, वे आपके प्रति अन्याय ही करते हैं।

आपकी पहली 'पिकनिक' नामक कहानी सन् १९११ में प्रकाशित हुई। 'इन्दु' और 'गल्प माला' में आपकी कई कहानियाँ निकलीं। तब से आपने हास्यरस की पचासों कहानियां लिख डाली हैं। आपका पहला कथा-संग्रह 'लम्बी दाढ़ी' नाम से निकला। आपकी लेखनी में अद्भुत हास्योत्पादिनी शक्ति है। आपने तीव्र व्यंग्य को नहीं अपनाया। हल्के-फुल्के शुद्ध हास्य में ही मीठा व्यंग्य छिपा रहता है। चाहे बहुत उच्च कोटि का गंभीर और चातुर्य-पूर्ण व्यग्य आपकी कहानियों में न माना जाय, किन्तु आपका हास्य-व्यंग्य 'निम्नकोटि का गंवारु या अशिष्ट' कदापि नहीं कहा जा सकता। आपकी कहानियों का वातावरण और हास्य-प्रसंगों की कल्पनाएं सजीव और स्वा-भाविक होते हैं। जीवन की यथार्थ अनुभूतियों पर ही आपकी हास्य-कथाएं आधारित रहती हैं। मनोरंजन के साथ किसी समस्या या समाज की किसी बुराई पर भी प्रकाश डालने की प्रवृत्ति उनमें रहती है। जीवन की कोई-न-कोई स्वस्थ प्रेरणा अवश्य मिलती है। आपने भूलचूक, चाल-बेढब, चोर के घर

छिछोर, साहित्य के सपूत, उलट फेर, दुमदार आदमी, गड़बड़झाला, मर्दानी औरत तथा नोक झोंक, भड़ामसिंह आदि दो दर्जन के लगभग सुन्दर प्रहसन भी लिखे हैं। मोलियर के दो हास्य-व्यंग्य-नाटकों का 'मार-मार कर हकीम' तथा 'साहब बहादुर ऊर्फ चड्ढ़ा गुलखैरु' नाम से आपने सुन्दर सफल अनुवाद किया है। काठ का उल्लू, गुदगुदी, लतखोरीलाल, प्राणनाथ, मीठी हंसी, कमबख्ती की मार, लाल-बुझक्कड़, गंगा-जमुनी (उपन्यास) आदि आपकी अन्य श्रेष्ठ हास्यपूर्ण कृतियां हैं। निस्संदेह आप हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ हास्य-लेखक हैं।

'पंडित जी' कहानी : प्रस्तुत कहानी में श्रीवास्तव जी ने स्कूल के एक पुराने ढंग के संस्कृत-अध्यापक का व्यंग्य-चित्र प्रस्तुत किया है जो अत्यन्त सत्य, यथार्थ और सजीव है। कहानी में हास्य और व्यंग्य के फव्वारे स्थान-स्थान पर छूटते हैं। हास्य-प्रधान कथा में किस प्रकार परिस्थिति का हास्य, शब्दगत हास्य तथा वार्तालाप में हास्य उत्पन्न होता हैं, इसका परिचय इस कहानी से मिल जाता है। हमारे प्राचीन संस्कृत-साहित्य में हास्य-रस के आलम्बन सीमित ही थे। आधुनिक युग में विदूषक, भोजन-भट आदि प्राचीन आलम्बनों के स्थान पर यथार्थ जीवन से अनेकानेक अन्य आलम्बन जुटाये जा रहे हैं। अयोग्य, पुरातन-पंथी, छात्र-भीरु, अपने विषय और अध्यापन-कार्य में रुचि न रखने वाले अध्यापक भी हास्य-व्यंग्य के आलम्बन बनते हैं, यह सबके अनुभव की बात है। हमारे विद्यार्थियों में अनुशासन-हीनता, पढ़ाई में अरुचि, किसी विषय के प्रति घृणा और असंतुष्टि का उत्तरदायित्व बहुतांश में ऐसे अध्यापकों पर होता है, यह सामान्य अनुभव की बात हैं, और हमारी आधुनिक शिक्षा की एक बड़ी समस्या है। लेखक ने अपने हास्य-व्यंग्य के नुकीले अस्त्र द्वारा इस समस्या को प्रकट किया है। यदि अध्यापक ही अपने कर्त्तव्य के प्रति उदासीन होगा, तो हमारी शिक्षा को रसातल में गिरने से कौन बचा सकता है? आज संस्कृत के अध्ययन और अध्यापन की आवाज़ देश भर में उठ रही है, किन्तु जब तक संस्कृत पढ़ाने

वाले हमारे अध्यापक सुरुचि-सम्पन्न, उदार, परिस्थिति के अनुसार प्रगतिशील, कर्त्तव्य-निष्ठ और विषय में रोचकता उत्पन्न करने की कला जानने वाले नहीं होंगे, तबतक संस्कृत का प्रचार नहीं हो सकता। उसके अध्ययन-अध्यापन में नवीन परिवर्तन की आवश्यकता है, इस ओर कहानी स्पष्ट संकेत करती है। अंत में इन्स्पैक्टर महोदय की रिपोर्ट कहानी के उद्देश्य को स्पष्ट करती है। अतः हास्यरस-प्रधान होते हुए भी यह सुन्दर उद्देश्यपूर्ण कहानी है। किशोर विद्यार्थियों की तो रग-रग में चंचलता होती है। अध्यापकों की असावधानी और अयोग्यता से उनकी चंचलता उन्हें उल्टे मार्ग पर चला सकती है।

इस कहानी में हास्यपूर्ण वार्तालाप तथा वातावरण के सृजन में लेखक को पर्याप्त सफलता मिली है। कहानी के सभी तत्त्व—वस्तु, पात्र, संवाद, वातावरण, भाषा-शैली—हास्योत्पादन में सहायक हुए हैं। लेखक की भाषा-शैली बड़ी समर्थ है। बीच-बीच में मुहावरों और सुन्दर लाक्षणिक प्रयोगों ने भावाभिव्यक्ति को प्रभावपूर्ण बना दिया है। पंडित जी का क्लास में तथा स्कूल में सोना, लड़कों की शरारत, पंडित जी का कान पर जनेऊ चढ़ाकर लुटिया हाथ में लिए निकल जाना और इन्स्पैक्टर महोदय की स्तुति करना आदि प्रसंग बड़े सजीव और हास्यपूर्ण हैं। कहानी आत्मकथा के रूप में होती हुई भी वर्णन व चित्रण-प्रधान शैली में लिखी गई है, क्योंकि कहानी के 'मैं' ने पंडित जी का ही स्वानुभूत रेखा-चित्र उपस्थित किया है। आरम्भ और अंत स्वाभाविक तथा सफल है।

पंडित जी

(१)

जब किसी की नाक कट जाती है तो उसे ईश्वर दिखाई देता है। यह बात कहाँ तक सच है और कहाँ तक झूट, यह तो वही जानता है। इसी तरह मैं भी लोगों के बहकाने में आगया और फ़ारसी का पढ़ना छोड़ संस्कृत के फंदे में फँस गया। अच्छा किया या बुरा, इसकी समझ अभी कहाँ थी। परन्तु मौलवी साहब के यहां के मज़े पंडित जी के यहां न थे। न उतने लड़के,

न चुहल, न छेड़छाड़, न दिल्लगी। घंटा पहाड़ हो जाता। एक तो गांव के पंडित स्वयं गोबर गणेश—न व्यक्तित्व, न प्रभाव। दूसरे मिले दो साथी—रटने में तोता, देखने में उल्लू।

पहले ही दिन पंडित जी ने भलमनसाहत प्रगट कर दी। मुझे देखते ही चेहरा बिगड़ गया। नाक सिकोड़ कर कहने लगे—"सन्तों में मलेच्छों का कहां प्रवेश! देवभाषा सबके लिये नहीं है।" ऐसी आवभगत देखकर अपने और संस्कृत के भाग्य को कोसता हुआ मैं बेंच के किनारे बैठ गया। ईश्वर जाने, थोड़ी देर तक पंडित जी अगड़म-बगड़म क्या बोलते रहे, इसके बाद कुर्सी ही पर बैठे-बैठे सो गए। दोनों लड़के—मेरे सहपाठी, किताब खोले, सिर झुकाए न जाने ऊँघ रहे थे या किसी **शब्द-विशेष को घूर रहे** थे। तबीयत बड़ी घबराई। यही सोचता था कि यदि यही हालत कुछ दिनों रही तो काँजीहाउस के पशु की-सी दशा हो जायगी। पहले तो घरवालों के आगे संस्कृत की निन्दा की, पर जब उन पर कुछ प्रभाव न पड़ा तो मित्रों को फाँसने की चिन्ता की। और छः सात दिन के भीतर अपने दर्जनभर साथियों को मौलवी साहब की कक्षा से **फोड़ लाया**। मगर पंडित जी की बड़ी शिकायत थी कि अब ऐसा अँधेर हो गया कि सबके सब लड़के संस्कृत पढ़ने लगे। एक दिन जैसे ही हम लोग क्लास में पहुँचे वैसे ही पंडित जी भुनभुना के कहने लगे—"सभी कुत्ते काशी चले जायेंगे तो हांडी कौन चाटेगा?" आग लग गई। जी में आया कि पंडित जी समेत पुस्तकों को दियासलाई लगाओ और चल दो। उधर वे समास पूछने लगे और इधर हम लोगों ने इशारों में तय कर लिया कि कोई ठीक उत्तर न दो।

पंडित जी—'बहुव्रीहि' किसे कहते हैं?

मोहन—कहते होंगे किसी वस्तु को, पंडित जी! आपको क्या पड़ी है?

सोहन—और आप तो जानते होंगे। फिर पूछ कर क्या करेंगे?

पंडित जी—मदन तुम बोलो।

मदन—कौन, मैं! आपके सामने भला मैं क्यों बोलूँ? **(हास्य)**

पंडित जी—बताओ बहुव्रीहि किसे कहते हैं ?

प्रद्युम्न—क्या आप इतना भी नहीं जानते ? राम, राम ! मैं समझता था कि आप जानते होंगे।

पंडित जी—तो न बताओगे तुम लोग क्या ?

मैं—पंडित जी, किताब में क्यों नहीं देख लेते ?

सोहन—बहुव्रीहि के बिना क्या आपका काम नहीं चल सकता ?

पंडित जी—(बिगड़ कर) अभी तुम सबको धुन के रख दूंगा।

प्रद्युम्न—इसमें क्या सन्देह है ! यह तो आपके यहाँ सदा से होता आया है।

मैं—(धीरे से) केवल इतना अन्तर है कि अब तक रूई धुनते थे, अब कुछ और धुनेंगे।

मोहन—(धीरे से) और क्या अपना सिर धुनेंगे।

सोहन—हैं तो कुछ इसी धुन में। (हास्य)

पंडित जी—न मानोगे तुम लोग ! बकबक लगाये ही रहोगे।

मदन—यह लीजिए। आप ही पूछते हैं और आप ही कहते हैं कि बकबक लगा रहे हो। बोलो तो आफ़त, न बोलो तो आफ़त।

मोहन—हाँ जी, इससे तो यही अच्छा है कि कोई बोले ही न।

पंडित जी—तो तुम लोगों में से किसी को नहीं आता ?

चार-पाँच एक साथ—क्या चीज ?

पंडित जी—बहुव्रीहि ! बहुव्रीहि !

प्रद्युम्न—बहु बरी ?

पंडित जी—हाँ, बहुव्रीहि।

प्रद्युम्न—इसमें क्या कठिन है ! बहू बरी हो गई होगी। या बड़ी बहू, बड़े लड़के की बीबी।

मैं—कहीं ऐसा तो नहीं है कि पंडित जी बड़ियों की बात पूछ रहे हैं—पापड़ बरी।

इतने में घंटा बजा और पंडित जी बोले—जाओ, जाओ, सिर न खाओ, तुम्हारा समय हो गया है।

(२)

(परिस्थिति का हास्य नीचे के प्रसंग में देखिए)

यों तो पंडित जी पढ़ाते-पढ़ाते हर घंटे ही पर एक नींद खींच लिया करते थे, पर आधे घंटे की छुट्टी में विशेषतया बेंच पर लेट कर सोते थे। एक दिन ऐसे ही पंडित जी निद्रा की गोद में पड़े थे कि मैं घूमता-घामता कक्षा में चला आया। देखा कि पंडित जी चारों शाने चित पड़े हैं। मेज़ पर पगड़ी औंधी रक्खी थी। वहीं कलमदान भी पड़ा था। मैंने पगड़ी के भीतर का बीच वाला फेंटा हटाया और उस जगह नीली व लाल रोशनाई की दोनों दवातें रख कर उन्हें पगड़ी के फेंटे से ढक दिया। बाहर आकर साथियों को जो बताया तो मोहन ने कहा कि ठहरो, मेरी भी एक बात मानो; दो-एक मेंढक पकड़ लाओ तो काम बने।

दो के बदले चार मेंढक आ गए। जूते उतार कर हम और मोहन फिर पंडित जी के कक्ष में घुसे। पंडित जी अभी तक खुर्राटे भर रहे थे। उनकी अचकन की दोनों जेबें बेंच के इधर-उधर लटक रही थीं। हमने उनकी जेबों में दो-दो मेंढक रख दिए। फिर मेंढकों से भरी हुई जेबों को उठा कर पंडित जी की तोंद पर रख के भाग गए।

दो-तीन बार जो तोंद पर मेंढक उछले तो पंडित जी की आँख खुल गई। अपने पेट पर यह बेतुकी उछल-कूद देख कर मारे डर के पंडित जी चिल्ला उठे, और ऐसे घबड़ाए कि भद से बेंच के नीचे लुढ़क पड़े। जल्दी से उठ कर अचकन उतार कर दूर फेंकी। फिर जब ज़रा होश ठिकाने हुआ तो अचकन को उठाकर झाड़ने लगे। उसमें से मेंढकों को जो बारी-बारी निकलते देखा तो एकदम चकित रह गए। थोड़ी देर के बाद अचकन को फिर झाड़ा और पहन कर उठ खड़े हुए। अब पगड़ी उठा कर सिर पर औंधाई, पर ठीक न बैठी। इसलिए पगड़ी को फिर सिर से उठाया। वैसे ही दवातें झल्ल-झल्ल करती हुई उसमें से निकलीं और खोपड़ी पर तड़ाक से लग कर अलग जा गिरीं। पगड़ी, खोपड़ी, चेहरा, अचकन, धोती रँगरँगा गई। मारे क्रोध के

इसी रूप में हैडमास्टर के पास दौड़े। जैसे ही अपने कक्ष से बाहर हुए, लड़के इनके पीछे-पीछे दौड़ पड़े। हँसी से सब के पेट में बल पड़ रहे थे। यहाँ तक कि चपरासी भी इनकी सूरत देख कर हँसते-हँसते लोट गया। ऑफिस में हैड-मास्टर नहीं मिले। अब पंडित जी उनकी खोज में एक कक्षा से दूसरी और दूसरी से तीसरी में फिरने लगे। सैकेण्ड मास्टर बड़े हास्यप्रिय थे। इन्हें देखते ही खिलखिला कर हँसे, फिर पंडित जी को बुला कर पूछा।

मास्टर—होली बधाई, पंडित जी ! कहिए यह स्वाँग बना कर कहाँ चले ?

(इस उक्ति ने हास्य में और भी रंग भर दिया)

पंडित जी—हैडमास्टर के पास जा रहे हैं। हैं कहाँ पर।

मास्टर—इस रूप में !

पंडित जी—यही तो उन्हें दिखाना चाहते हैं।

मास्टर—क्या कोई सगाई-सुगूई का शगन हुआ है ? बात क्या है ?

(हास्य का और फव्वारा छूटा)

पंडित जी—आज हम सब दुष्ट लड़कों को निकलवा के छोड़ेंगे।

मास्टर—क्या किसी लड़के ने रँग दिया ? कौन था, कौन ?

पंडित जी—यही जो ज्ञात होता तो फिर हमीं न ठीक कर देते।

मास्टर—तो बताइए। फिर शिकायत किसकी करने चले ? ज़रा विराजिए तो। आप तो घोड़े पर सवार मालूम होते हैं।

पंडित जी—हमारी पगड़ी में किसी ने दवात रख दी।

मास्टर—वाह। वाह ! और आप कहाँ थे ?

पंडित जी—हम सो रहे थे।

मास्टर—कहां ? स्कूल में ?

पंडित जी—हाँ आधे घंटे की छुट्टी में।

मास्टर—अरे ! यह तो हैडमास्टर से कहिएगा भी नहीं। नहीं तो कुशल नहीं। वे पूछेंगे कि स्कूल में आप पढ़ाने आते हैं कि सोने आते हैं !

पंडित जी यह सुन कर तनिक हिचकिचाए और कुछ धीमे स्वर में बोले—छुट्टी में हम जो चाहें करें। हैडमास्टर का इसमें क्या बिगड़ता है?

मास्टर—अगर आप ऐसा कहेंगे तो लड़के भी कहेंगे कि हम भी छुट्टी में जो चाहें सो करें।

पंडित जी घबरा कर बोले—तब क्या किया जाए?

मास्टर—करना क्या है, यह तो स्पष्ट है कि जितना ही लड़कों के पीछे पड़े रहोगे उतना ही वे आपको तंग करेंगे, क्योंकि लड़के तो लड़के ही हैं। और आप को उस लड़के का नाम भी ज्ञात नहीं, फिर दण्ड किसे दिलवाएँगे? दूसरे, आपकी यह बात भी खुल जायगी कि आप स्कूल में सोते हैं। अपने ऊपर आँच आने का डर है। इसलिए चुपचाप जाइए घर, हो सके तो कपड़े बदल कर आ जाइएगा।

पंडित जी चुपचाप घर चले गये।

(३)

संस्कृत पढ़ने वालों की संख्या बहुत कम थी। किसी कक्षा में दो, किसी में तीन लड़के थे। हमारी कक्षा में छः थे। पर ड्राइंग के खुलते ही दो ने संस्कृत छोड़ दी। **एक तो संस्कृत से यों ही लोग घबड़ाते थे, दूसरे पंडित जी ने इसको और भी हौवा बना रक्खा था।**[1] **संस्कृत के विद्यार्थी प्रायः असंतुष्ट रहते थे।**

इन्हीं दिनों इन्सपेक्टर आने वाले थे। पंडित जी ने इसके लिए बड़ी-बड़ी तैयारियाँ कीं। **बहुत सी स्तुतियाँ मस्तिष्क में तह करके बैठा लीं**[2] ताकि समय पर काम आएँ। मन ही मन योजना तैयार की कि इस तरह प्रश्नों पर प्रश्न पूछते जाएँगे; लड़कों को **दम मारने का भी अवकाश न देंगे;** किसी ने उत्तर देने में विलम्ब किया तो **धुन के रख देंगे,**[2] ताकि साहब समझ जायें कि पढ़ाई और अनुशासन दोनों में कितने कट्टर हैं।

---

१. **संस्कृत के लोकप्रिय होने में यथार्थ बाधा।**

२. **सुन्दर लाक्षणिक प्रयोग और मुहावरे!**

इन्सपेक्टर आ गए। दूसरे दिन निरीक्षण था। मगर पंडित जी की खोपड़ी और दाढ़ी मुँडाने का वह दिन नहीं था, इसलिए इन दोनों पर ध्यान ही नहीं गया। माथे पर बड़ा चौड़ा टीका लगाया। एक मैली फटी पुरानी धोती निकाली और उस पर अपने पितामह के समय की पुरानी मिरज़ई पहन ली जिसकी कुहनियाँ मारे डर के पहले ही से अदृश्य हो गई थीं। पंडित जी ने यह वेश इसलिए धारण किया कि इन्सपेक्टर साहब समझें कि इनकी दशा बड़ी शोचनीय है और बेचारे बड़े कष्ट में हैं। यह जान कर उनको दया अवश्य आएगी और फिर हमारा वेतन बढ़वा देंगे। इसके बाद भंग के दो गोले चढ़ाए ताकि "जीव तनिक करेर हो जाय।" रास्ते भर शिव-शिव करते स्कूल पहुँचे।[1]

पहला घंटा जैसे-तैसे कटा। दूसरे घंटे में इन्सपेक्टर साहब बग़ल वाले कक्ष में आ गए। पंडित जी का दम घुटने लगा। **हाथ-पैर फूल** गए। कभी सोचते थे कि कैसी गलती हुई जो आज स्कूल आए। घर ही से अर्ज़ी भेज देते। मन में यह भी आया कि अब भी चुपचाप खिसक जायें, बाद को जो होगा वह देखा जायेगा। इस वक़्त तो जान बचे। पंडित जी इसी सोच-विचार में थे कि कक्ष का द्वार खुला। बाहर किसी के हाथ में साहब की टोपी दिखाई दी। पंडित जी को मारे घबड़ाहट के कुछ न सूझा। **झट से बक्स में से लुटिया निकाली, कान पर जनेऊ चढ़ाते हुए निकल गए। हेडमास्टर और इन्सपेक्टर ने जो देखा तो वे अगले कक्ष में चले गये। (हास्यपूर्ण आचरण)**

एक घंटा भर में पंडित जी लौटे और हाथ में कुछ फूल भी लेते आए। उन्होंने संभवतः समझा कि अब बला टल गई। **पर बकरे की माँ कब तक खैर मनाये।** आख़िरी घंटे में इन्सपेक्टर आ ही घुसे! पंडित जी तुरन्त कुर्सी छोड़ कर अलग खड़े हो गए और दोनों हाथ उठाकर चिल्लाने लगे—जय हो! जय हो! जय हो!

इसके पश्चात् झट से फूलों को लेकर, "अहा हा! बलिहारी महाराज, बलिहारी", कहते हुए उनके सिर पर उछाल दिया; फिर अपने स्तुति-संग्रह में से किसी समयोचित स्तुति की सोच में पड़ गये। कोई याद ही नहीं आई।

---

१. व्यंग्य-चित्र

घबड़ाहट में मुँह से पार्वती की स्तुति निकल पड़ी। धुन में रुके नहीं, कहते चले गए। भंग का नशा भी अब जोरों पर था, इसलिए आवाज में कुछ लड़खड़ाहट और बेतुकी आगई थी। सिर हिला-हिलाकर गाने लगे—

जय जय जय गिरिराज किशोरी।
जय महेश-मुख-चन्द्र चकोरी॥
जय गजबदन षडानन माता।
जगत जननि दामिनी द्युति गाता॥
देवि पूजि पद-कमल तुम्हारे।
सुर नर मुनि सब होंहि सुखारे॥
मोर मनोरथ, हाँ रामा! मोर मनोरथ जानहु नीके।
बसहु सदा उर पुर सब ही के॥

अभी स्तुति समाप्त भी न होने पाई थी कि हेडमास्टर और इन्सपेक्टर कक्ष से बाहर चले गये थे। पंडित जी बड़े प्रसन्न थे कि साहब मेरे काम से इतने सन्तुष्ट हुए कि उन्हें लड़कों से कुछ पूछने की हिम्मत ही नहीं हुई।

× × × × ×

इन्सपेक्टर ने अपनी रिपोर्ट में लिखा—मालूम हुआ है कि छः बरस से संस्कृत का कोई लड़का इस स्कूल से एन्ट्रेंस पास नहीं हुआ। कक्षाओं में भी संस्कृत में कुछ प्रगति नहीं है, विद्यार्थी भी बहुत कम हैं। **पंडित हैं कि एक तमाशा हैं। इन्हें शीघ्रातिशीघ्र अध्यापन-कार्य से मुक्त किया जाये और इनकी जगह किसी योग्य व्यक्ति को रक्खा जाये जो विद्यार्थियों में संस्कृत के प्रति प्रेम और उत्साह उत्पन्न कर सके।**[1]

प्रष्टव्य

१. "हास्यरस-प्रधान होते हुए भी 'पंडित जी' कहानी सुन्दर उद्देश्यपूर्ण कहानी है"—इस कथन की पुष्टि कीजिए।
२. 'पंडित जी' कहानी में पंडित जी को हास्य का आलम्बन किस प्रकार बनाया गया है? प्रकट कीजिए।
३. 'पंडित जी' कहानी की समीक्षा कीजिए।

---

१. कहानी का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है।

अपनी बात

मैं कथाकार नहीं हूँ, हाँ कथा मर्मज्ञ होने का केवल कुछ दावा अवश्य कर सकता हूँ। इधर दो-चार कहानियाँ नाम मात्र को लिखी हैं। प्रस्तुत पुस्तक में विषय की दृष्टि से पौराणिक-धार्मिक कहानी का, तथा विषय-प्रतिपादन शैली की दृष्टि से रूपक-कथा अर्थात् अन्योक्ति के रूप में लिखी गई कथा का उदाहरण दिखाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। हिन्दी में दोनों ही प्रकार की कहानियाँ बहुत कम लिखी गई हैं। पुराने ढंग की धार्मिक कथाएँ गीता प्रेस गोरखपुर से कुछ निकलती रहती हैं। दुर्गाप्रसाद खत्री, सद्गुरूशरण अवस्थी तथा कमला देवी चौधरी आदि लेखकों ने भी छुट-पुट कहानियाँ लिखी हैं, पर बहुत कम संख्या में। अन्योक्ति, रूपक या प्रतीक रूप में भी बहुत कम अच्छी कहानियाँ देखने में आई हैं। आंशिक प्रतीक शैली में तो कुछ कथाएँ प्रसाद जी ने भी लिखीं थीं, और उनके बाद आजतक अन्य लेखकों की कुछ कहानियों में प्रतीकात्मकता पाई जाती है, और इस पुस्तक की 'झूठा आम', 'पराजय' तथा 'कला और कृत्रिमता' नामक कहानियों में आंशिक रूप से प्रतीकात्मकता स्पष्ट है, किन्तु अध्यवसित रूपक, पूर्ण रूपक या अन्योक्ति अथवा पूर्ण समासोक्ति के रूप में बहुत कम कहानियाँ दिखाई देती हैं। इस अभाव का उल्लेख हम आरंभ में भी कर चुके हैं। हमारे प्राचीन साहित्य में रूपक-कथाएँ उपनिषदों और पुराणों में प्रचुरता से मिलती हैं। अतः हमने पौराणिक-धार्मिक विषय और अन्योक्ति शैली दोनों से पाठकों का परिचय कराने के लिए ही अपनी 'पुरंजनोपाख्यान' कहानी आगे दी है।

पुरंजनोपाख्यान : इस कथा के मौलिक प्रणयन का श्रेय पुराणकार का ही है, मेरा तो लघुतम प्रयास उसे आधुनिक पाठक के लिए ग्राह्य बनाने का ही है। रूपक को अधिक संगत और व्यंजक बनाने तथा रोचकता को बढ़ाने के लिए ही मैंने पात्र-नामकरण तथा संवाद आदि में कुछ स्वतंत्रता बरती है। यह कथा पूर्ण अन्योक्ति है। इसमें रूपक-कल्पना इस प्रकार है—आत्मराम, अर्थात् अपने में ही रमण करने वाला, विशुद्ध आत्मा का

प्रतीक है, परमानन्द अविज्ञात परमात्मा का। आनन्द द्वीप से अभिप्राय है भगवान का आनन्द-लोक या परमधाम। आत्मा परमात्मा से अलग होकर संसार में भटकती है। संसार के भोग भोगने की इच्छा से वह घूमते-घूमते पाँच बगीचों रूपी इन्द्रियों के पांच विषयों और नव द्वार रूपी नौ-इन्द्रिय-छिद्र वाले नगर रूपी पंच-भौतिक शरीर में प्रवेश करती है। इस प्रकार जीव रूप में वह ज्ञान-शून्य हो जाती है, अपने स्वरूप को भूल जाती है। संसार की विषय-आसक्ति, मोह-माया-ममता तथा इन्द्रिय-सुख में जीव फँस जाता है। स्वार्थी, अहंवादी और अत्याचारी हो जाने के कारण वह अपने शत्रु बना लेता है। वह विवेक खो बैठता है, तथा विषयी बन जाने से क्षीण-काय हो जाता है। आखिर, जरारानी अर्थात् जरा (वृद्धावस्था), जिसे कालराज (मृत्यु) की बेटी बताया गया है, उसे घेर लेती है। उसकी समस्त इन्द्रिय-शक्ति को शिथिल कर डालती है। यवनराज अर्थात् भय और दुश्चिंताएँ सिर पर सवार हो जाती हैं। आखिर भय का भाई प्रज्वार (अग्नि) उसके पंच-भौतिक नगर (शरीर) को जला डालता है। अपने कुकृत्यों के कारण मरने के बाद उसे नारकीय यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। दूसरे जन्म में सतसंगति के प्रभाव से वह आत्म-स्वरूप की ओर प्रवृत्ति दिखाता है। अध्यात्म ज्ञान होने तथा परमानन्दी की प्रेरणा से वह अपने असली स्वरूप को पा लेता है। उसे ज्ञात् होता है कि वह न तो विदर्भ-नन्दिनी है, न पूर्वजन्म का पुरंजन। वह तो आत्मराम है। अतः वह फिर से परमधाम की प्राप्ति करता है। कथा में व्यक्तिगत स्वार्थ, इन्द्रिय-लोलुपता, संसार की मोह-माया-ममता, हिंसापूर्ण कर्म-काण्ड, अहं-दंभ तथा पर-पीड़न के स्थान पर मनुष्य को जन-कल्याण-कामना, सात्विक वृत्ति, अनासक्ति, कर्मयोग, अहिंसा, विनम्रता तथा परमार्थ अपनाने का उपदेश दिया गया है। कहानी अपने उद्देश्य में पूर्ण सफल है। कहानी को आधुनिक कथा का पुट देने का पर्याप्त प्रयास किया गया है। धार्मिकता और नैतिकता के साथ-साथ कथा में दार्शनिकता का भी पुट है।

एक पौराणिक कथा-रूपक

पुरंजनोपाख्यान

हज़ारों वर्ष पहले की बात है, राजा पृथु की वंश-परम्परा में प्राचीन-बर्हि नाम के एक बड़े यशस्वी राजा हुए हैं। उन्होंने यज्ञादि कर्मकाण्ड, योगाभ्यास तथा बल-पराक्रम से प्रजापति का पद प्राप्त कर लिया था। वह बाहरी कर्मकाण्ड और यज्ञों में पशु-बलि आदि को ही सब कुछ समझने लगा था। ऐश्वर्य और भोग-विलास का जीवन व्यतीत करने में वह इन्द्र से स्पर्द्धा रखने लगा था।

एक बार महर्षि नारद राजा के पास आए, और कहने लगे—राजन्! इन थोथे कर्मों से तुम अपना कौन-सा कल्याण कर रहे हो? जो पुरुष संसार की विषय-वासना में ही लगा रहता है, कपटपूर्ण गृहस्थाश्रम में ही डूबा अपने देह-गेह, धन-धरा, दारा-सुत को ही परम परुषार्थ मानता है, और थोथी नीव पर अपने यश का महल खड़ा करना चाहता है, वह अज्ञानी संसार-सागर की लहरों के थपेड़े खाता हुआ उसी में भटकता रहता है, अपना वास्तविक कल्याण सिद्ध नहीं कर सकता, लोक-कल्याण तो उस जड़-बुद्धि से क्या होगा?"

तपः मूर्ति महर्षि नारद के ये वचन सुनकर राजा के मन को झटका-सा तो लगा, किन्तु उसने कहा—महाभाग नारद जी! जीवन क्षणिक है, इसमें इन्द्रिय सुख की अवहेलना क्या उचित है? और मैं तो, इन्द्र के समान, सैंकड़ों-हज़ारों यज्ञों का अनुष्ठान करके कल्याण का कार्य भी कर रहा हूँ। आप मेरी निन्दा कैसे कर रहे हैं?"

राजा का कथन सुनकर महर्षि का मुख-मण्डल तपतपा उठा। उनकी आँखों से तेज की चिंगारियाँ बरसने लगीं। गंभीर गर्जनापूर्ण वाणी में वे बोले—देखो, देखो राजन्! तुम ने यज्ञों में निर्दयतापूर्वक जिन हज़ारों निरीह पशुओं की बलि दी है, अपनी स्वार्थ-साधना और रसना-लोलुपता के लिए जिन-जिन का पेट-तन काटा है; अपने और अपने कुटुम्ब के सुख-वैभव के लिए जिस-जिस को मिट्टी में मिलाया है—उन्हें आकाश में देखो। वे सब तुम्हारे द्वारा दी गई

यातनाओं को याद करते हुए बदला लेने के लिए तुम्हारी बाट जोह रहे हैं। जब तुम परलोक-गमन करोगे, तब ये क्रुद्ध हुए, तुम पर आघात करेंगे। तुमने सुख को सीमित बना दिया है। इन्द्रिय-लोलुपता का परिणाम भयंकर होता है, राजन् ! इस सम्बन्ध में मैं तुम्हें राजा पुरंजन का एक प्राचीन उपाख्यान सुनाता हूँ, ध्यान से सुनो।

राजन्, पूर्वकाल में **आत्मराम** नाम का पूत-मना राजा था। वह अपने **परमानन्द अविज्ञात** नामक एक मित्र के साथ **आनन्द-द्वीप** का अधिवासी था। वे दोनों आध्यात्मिक जीवन बिताते हुए आनन्द के साथ रहते थे। एक दिन आत्मराम अपने मित्र से बिछुड़ गया। **उसे संसार की हवा लग गई**। तरह-तरह के सांसारिक भोगों की लालसा उसमें जाग उठी। वह उन भोगों को भोगने के लिए किसी रमणीक स्थान की खोज में सारी पृथ्वी में घूमता फिरा मगर उसे फिर भी कोई उचित स्थान न मिला।

आखिर, एक दिन वह घूमता-घूमता हिमालय के दक्षिण में भारतभूमि के एक पर्वतीय प्रदेश में पहुंचा। **वहां नौ द्वारों वाली नवद्वारावती** नामक एक सुन्दर नगरी थी। **उसने उस नगरी में प्रवेश किया**। अपना नाम उसने पुरंजन रख लिया। नगर की शोभा-सज्जा अद्भुत थी, एक दम मोहक थी। अपनी कांति के कारण वह नगर इन्द्रपुरी और नागों की नगरी भोगवती पुरी के समान दिखाई देता था। धन-धान्य से भरपूर, प्राकृतिक सुषमा वाले **पांच रमणीक बाग-बगीचों** से युक्त वह स्थान उसे अवश्य ही अपनी भोग-भूमि बनाने योग्य प्रतीत हुआ। उस प्रदेश की सौन्दर्य-श्री को उद्भ्रान्त-सा देखता हुआ वह घूम रहा था। घूमते-घूमते पुरंजन एक मनोहर वाटिका में प्रविष्ट हुआ। वाटिका के बीच में एक सुन्दर भवन था, और पास ही एक स्वच्छ सरोवर निर्मल जल से लहरा रहा था। उसने भवन की ओर से एक किशोरी सुन्दरी को आते देखा, जो अकस्मात् उसके समीप पहुँच गई थी। उसके साथ दस सेवक थे, और अनेक सहेलियां थीं।

साक्षात्कार होते ही राजा पुरंजन और वह किशोरी दोनों प्रश्न-भरी दृष्टि से एक दूसरे को देखने लगे। फिर क्षण-भर की शांति के पश्चात् वीर

पुरंजन ने उस सुन्दरी से मधुर वाणी में पूछा—देवी। तुम कौन हो ? तुम्हारे साथ ये नर-नारी कौन हैं ? इस भूमि को किसने बनाया, तुम किसकी कन्या हो ?"

"नरश्रेष्ठ ! हमें अपने उत्पन्न करने वाले का ठीक-ठीक पता नहीं है। आज हम सब इस भूमि पर हैं—इसके सिवा मैं और कुछ नहीं जानती; मुझे यह भी विदित नहीं कि हमारे रहने के लिए यह अद्‌भुत स्थान किसने बनाया। मेरे साथ ये पुरुष मेरे सखा और स्त्रियां मेरी सहेलियां हैं। कहो, आप कहां से पधारे हैं ?"

"घूमते-घूमते इधर आ निकला। सुन्दरी, मैं बहुत थका हूँ, क्या कुछ देर यहां विश्राम करने दोगी ?"—वीर पुरंजन ने किशोरी की चितवन में चितवन डालते हुए कहा।

"क्यों नहीं ? वीरवर, तुम यहां के सुख वैभव का स्वेच्छा से उपभोग करो, मैं तुम्हारे विश्राम का सब प्रबन्ध करा देती हूँ।" यह कहकर उस नाग-कन्या सी किशोरी ने अपने सेवकों को पुरंजन के ठहरने की सारी व्यवस्था करने का आदेश दिया। पुरंजन विश्राम-भवन में चला गया।

सांध्य-गगन की लालिमा से सरोवर का जल स्वर्णमय दिखाई देता था, मन्द-मन्द पवन तरु-राजि में कंपन भर रहा था। पुष्पों की महक से वातावरण और भी मादक बना था। सरोवर के तट पर खोया हुआ-सा खड़ा पुरंजन सब कुछ देख रहा था। **जब से वह यहां आया था, उसके मन-प्राण एक विचित्र विकलता के अनुभव में डूबे थे। वह अपने आनन्द-द्वीप और वहां के मित्र को भूल चुका था।** वह सोच रहा था—कितनी सुषमा भरी है यहां ! कितना ऐश्वर्य है ! क्या यह सब मेरे उपभोग के लिए नहीं ? यहाँ के वन-उपवन, मनोहर सरोवर, फल-फूल सब रहस्यपूर्ण हैं—और वह सुन्दरी ? उफ ! दैव, यह कैसा माया-जाल है !"

वह इस प्रकार भाव-मग्न था कि पीछे से अकस्मात् उसकी भाव-शृंखला को भङ्ग करता हुआ कोमल-कंठ-स्वर सुनाई दिया—युवक, तुम्हें कोई असुविधा तो नहीं ?"

"असुविधा ? साध्वी, यहां की प्रत्येक वस्तु ने न जाने कैसी मोहिनी-सी डाल दी है। यहां से अन्यत्र जाने के बाद भी मैं इस प्रभाव से कभी मुक्त हो सकूंगा—इसमें संदेह है।" पुरंजन ने उस युवती की ओर दृष्टि घुमा कर कहा।

"जाने की जरूरत ही क्या है, वीरवर, यहां के सुख-वैभव का अनन्त काल तक स्वेच्छापूर्वक उपभोग करो। समस्त भूमि और इसके पदार्थ तुम्हारे लिए प्रस्तुत हैं। यहां के स्वामी बनकर रहो।" युवती ने रहस्य-भरी चितवन दौड़ाते हुए कहा।

"किन्तु स्वामिनी तुम जो हो !"

"आह ! क्या हम दोनों एक साथ स्वामी और स्वामिनी नहीं रह सकते !"—कहते ही युवती का सलज मुख झुक गया और दो अश्रु-बिन्दु उसकी सुन्दर आंखों से नीचे पड़े पत्तों पर टप-टप टपक पड़े। उसके इन शब्दों में कितनी वेदना-विह्वलता, कितना आत्मनिवेदन, हृदय-विपंची की कौन सी मधुर तान छिपी थी, कौन जाने !

राजा पुरंजन उस सुन्दरी के प्रेम-पाश में बंध गया। वह सौ वर्ष तक उस प्रदेश में रह कर आनन्द भोगता रहा। भोग–विलास ही उसके जीवन का क्रम बन गया था। अपनी नगरी के नवों द्वारों से वह नाना प्रकार की सुख-भोग की सामग्रियाँ प्राप्त करता। **एक द्वार पर वह मधुर से मधुर भोजन करता, मदिरा पीता और मद से उन्मत्त हो जाता। दूसरे पर मधुर संगीत-लहरी सुनता। तीसरे द्वार पर मादक सुगंधि का पान करता, तो चौथे पर मनोहर दृश्यों से अपने को तृप्त करता।** इस प्रकार हर द्वार पर उसे इन्द्रिय–सुख प्राप्त होता। उसका चित्त हर समय तरह-तरह की विषय-वासनाओं में लगा रहता। वह उस सुन्दरी—अपनी पत्नी पुरंजनी के मोह में फंसा रहता।

वहाँ की समस्त वस्तुओं को अपनी इच्छा के अधीन पाकर, उस स्थान का स्वामी बना हुआ, वह राजा अहंवादी हो गया, दंभ से भर गया। वह इस मर्त्य–लोक में देवराज इन्द्र से स्पर्द्धा करने वाला राजा बनने की अभिलाषा करने लगा। आसुरी वृत्ति बढ़ जाने से उसका चित्त बड़ा कठोर और दयाशून्य

हो गया था। वह अपना विशाल धनुष, स्वर्ण–कवच, तथा अक्षय तूनीर धारण कर अपने सेवकों के साथ शिकार को जाता और अपने तीखे बाणों से निरीह पशुओं का निर्मम वध करता। माँस–मदिरा में उसकी आसक्ति दिनोंदिन बढ़ रही थी। निर्दोष जीव उसके बाणों से तड़प-तड़प कर प्राण त्यागते थे। उसकी यह स्वार्थपूर्ण हिंसा देखकर तीनों लोक थर्रा उठे।

मद से छका हुआ पुरंजन दिन–रात विलास में ही मग्न रहता। उस कामिनी में ही चित्त लगा रहने के कारण, उसे काल की गति का भी कुछ भान न रहता। उसके कई पुत्र–पुत्रियाँ हुईं। उस की जवानी ढलने लगी। सन्तान के मोह ने भी उसे आ घेरा। उसने अपने पुत्रों तथा कन्याओं का विवाह किया। उसका वंश सारे पांचाल देश में फैल गया। अपने पुत्र, पौत्र, गृह, कोश, विषय–सामग्री आदि में दृढ़ ममता हो जाने के कारण वह इन विषयों से बंध गया।

बर्हिष्मन ! फिर तुम्हारी तरह ही प्रजापति बनकर उसने अनेक प्रकार के भोगों की ही इच्छा से तरह–तरह के पशु–हिंसामय यज्ञों का आयोजन आरंभ किया। इस प्रकार वास्तविक कल्याण–पथ को न जानकर वह कुटुम्ब–पालन तथा अन्य स्वार्थों के हेतु कर्म-बंधन में फंसा रहा। आखिर भोगी पुरुष की कमर तोड़ देने वाली, अत्यन्त अरुचिकर, जीवन की संध्या-वेला का—वृद्धावस्था का—समय आ पहुँचा।

राजन् ! मनुष्य का दंभ, अहंकार और ऐश्वर्य लोगों की ईर्ष्या, द्वेष और शत्रुता का कारण बनता है। राजा पुरंजन को इस प्रकार अभिमान-पूर्वक निर्बाध ऐश्वर्य भोगते देख कर गंधर्व राज चण्डवेग ने ईर्ष्या–द्वेषवश उसके नगर को लूटने के लिए चढ़ाई कर दी। इतने दिनों तक विषय-भोग में मस्त तथा स्त्री के वशीभूत रहने के कारण अब तक वह इस अवश्यंभावी–भय से अनभिज्ञ ही था। गंधर्वराज द्वारा नगर की हानि देखकर वह बहुत चिंतित हुआ। गंधर्वराज चंडवेग ने उसकी नगरी के एक भाग को उजाड़ डाला। वह विवेकहीन, विषयी, अशक्त राजा सब कुछ देखते रहने के सिवा कुछ न कर सका।

राजन्, इन्हीं दिनों **राजा कालराज की एक कन्या, जिसका नाम जरारानी था**, वर की खोज में तीनों लोकों में भटक रही थी, उसे कोई स्वीकार करने को प्रस्तुत न था। अन्त में वह **यवनराज भयराज** के पास पहुँची, और दीनता के स्वर में बोली—"वीरवर, आप यवनों में श्रेष्ठ हैं। मैं आप से प्रेम करती हूँ, और आपको पति बनाना चाहती हूँ।"

उस की बात सुनकर भयराज पहले तो मुस्कराये, फिर कुछ सोचकर कहने लगे—"देवी, तेरे पिता कालराज मेरे भाई-तुल्य हैं। तुम्हारा यह प्रस्ताव सर्वथा अनुचित है। किन्तु घबराओ नहीं; मैं तुझे अपनी पुत्री के समान समझकर योग्य वर की प्राप्ति कराऊँगा। तुम विश्राम करो, कल समस्त व्यवस्था हो जायगी।"

अगले दिन यवनराज भय ने जरारानी को बुला कर कहा—"देखो, मैंने विचारकर तेरे लिए एक वर निश्चित किया है। वह नवद्वारावती का राजा पुरंजन है। सीधी तरह से तो वह भी तुझे स्वीकार नहीं करेगा। इसलिए तू मेरी सेना ले जाकर उसपर आक्रमण कर दे और जबरदस्ती उसे प्राप्त कर। मेरी सेना की सहायता से तू उसपर अवश्य विजय प्राप्त कर लेगी। अपने भाई प्रज्वार के साथ मैं भी तुम्हारी सहायता के लिए आऊंगा।"

उसी दिन यवनराज भयराज के सैनिकों के साथ **जरारानी ने पुरी को घेर लिया**। सब ओर से नगरी के नवों द्वारों का ध्वंस होने लगा। नगरी के स्वामीत्व का दंभ रखने वाले तथा पुत्र, पौत्र, स्त्री आदि में मोहग्रस्त राजा पुरंजन को नाना प्रकार के क्लेश सताने लगे। उसका सारा ऐश्वर्य नष्ट हो गया। काल-कन्या ने अपने आक्रमण से उसकी कमर तोड़ डाली। वह प्रतिकार करने में अशक्त था। उसकी नगरी कुछ गंधर्वराज ने नष्ट की थी, रही-सही यवनों और काल-कन्या ने कुचल दी। निर्बल और क्षीण हुए इस राजा को अनुभव हुआ कि उसकी देह को काल-कन्या ने पूर्णतया अपने वश में किया हुआ है। उसके पुत्र, पौत्र, दारा यह सब देखने के सिवा कुछ नहीं कर सकते, और वे स्नेह-शून्य से भी हो गए हैं।

यह सब कुछ देखकर वह अपार चिंता में डूब गया। उसे बचने का कोई उपाय नहीं दीख रहा था। अतः वह पुरी को छोड़ने के लिए विवश हो गया। इतने में **अपने भाई प्रज्वार के साथ** यवनराज भय आ धमका। **प्रज्वार ने नगरी में आग लगा दी।** उस मोह-ग्रस्त, देह-गेह आदि में 'मैं—मेरे' का भाव रखने वाले अत्यन्त बुद्धिहीन राजा को ऐसी अवस्था में भी अपने परम हितैषी मित्र अविज्ञात और अपने आनन्द-द्वीप का स्मरण नहीं आया।

उस निर्दय और स्वार्थी राजा ने जिन निर्दोष पशुओं की हिंसा की थी, जिनकी बलि दी थी, वे सब नरक में उसके प्रति क्रुद्ध होकर उसे अपने लौह-सदृश दृढ़ शृंगों से विदीर्ण करने लगे—उसे सताने लगे। वह वर्षों तक नारकीय अंधकार में पड़ा नारकीय जीवन बिताता रहा।

राजन्! अगले जन्म में पुरंजन विदर्भराज की कन्या के रूप में उत्पन्न हुआ। राजा विदर्भ ने विवाह-योग्य होने पर परम-पराक्रमी पाण्ड्यनरेश महाराज मलय-ध्वज से उसका विवाह कर दिया। राजा मलयध्वज बड़े सात्विक वृत्ति के धर्मात्मा पुरुष थे। लोक-सेवा ही उनके जीवन का व्रत था। स्वार्थ के स्थान पर परमार्थ, विषय-भोग की जगह संयम और त्याग, तथा हिंसा, असत्य, अहंकार आदि के स्थान पर अहिंसा, सत्य और विनम्रता आदि उनके जीवन के अंग थे। दुखी व्यक्ति का दुःख दूर करना, अत्याचारी से पीड़ित जन को छुड़ाना, और मानवता के कल्याण की साधना ही उसके उत्तम कर्म थे। वह पशु-बलि वाले हिंसात्मक यज्ञों में विश्वास न करके सर्वसाधारण के उत्थान-यज्ञ में ही अपने ज़ीवन की आहुति दे रहा था। ऐसे उत्तम महामानव के सम्पर्क में आकर विदर्भ-नन्दिनी (पूर्व जन्म का पुरंजन) के संस्कारगत सभी विकार नष्ट होगए। वह भी अपने पति की तरह त्याग, तप और संयम का जीवन व्यतीत करने लगी। उसकी आत्मा का मैल धुलता जा रहा था।

राजन्! काल-चक्र बड़ा प्रबल होता है। धर्मपूर्ण आचरण करने वाला राजा मलयध्वज आखिर एक दिन अपने पार्थिव चोले को छोड़कर स्वर्गवासी हुआ। पति की मृत्यु पर साध्वी विदर्भ-नन्दिनी शोकाकुल हो उठी। वह पति के शव के पास ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी। जब उसके पति के शव को

चिता पर रखा गया, तो विलाप करते-करते उसने पति के साथ सती होने का निश्चय किया। राजन् ! उसी समय उसका कोई पूर्व-परिचित आत्मज्ञानी पुरुष वहाँ आया। उसे देख कर वह चौंक पड़ी। उस आगन्तुक ने रोती और बिलखती हुई उस अबला से मधुर वाणी में कहा—"तू कौन है, अपने को पहचान ! क्या तूने मुझे नहीं पहचाना ? मैं वही तेरा अविज्ञात नाम का सखा हूँ। स्मरण करो, सखे ! तुम मेरे साथ शान्ति के साथ आनन्द-द्वीप में रहते थे।"

जब अविज्ञात ने उसे सचेत किया, तो उसे अपने असली स्वरूप का स्मरण हो आया, और वह विदर्भनन्दिनी अपना रुदन आदि छोड़कर अपने वास्तविक रूप में स्थित हो गई। उसका आत्मज्ञान, जो मित्र से विछोह के कारण विस्मृत हो गया था, उसे फिर से प्राप्त हुआ। फिर से वे आनन्द-द्वीप के अधिवासी हुए।

प्राचीनबर्हि ! यह कथा मैंने आत्मज्ञान का उपदेश देने के लिए सुनाई है। व्यक्तिगत स्वार्थ, विषय-वासना, हिंसा, मद-मत्सर आदि से मनुष्य का कोई कल्याण सिद्ध नहीं होता।

ऋषि के अन्तिम शब्दों की समाप्ति पर, मंत्र-मुग्ध-से बैठे सुनते हुए उस राजा को फिर एक झटका-सा लगा। महर्षि नारद के कथन की गरिमा से उसका मनोमालिन्य वाष्प बनकर दो अश्रुबिन्दुओं के रूप में पृथ्वी पर टपक पड़ा।

प्रष्टव्य

१. **रूपक-कथा किसे कहते हैं ? 'पुरंजनोपाख्यान' के रूपक को स्पष्ट कीजिए।**

२. **'पुरंजनोपाख्यान' कौन-सा उपदेश देने के लिए सुनाई गई है ? उसे विस्तारपूर्वक बताइए।**

आचार्य शिवपूजन सहाय

हिन्दी के कमठ साहित्य-सेवी आचार्य शिवपूजन सहाय का जन्म सन् १८९३ में हुआ। आप शाहाबाद (बिहार) के रहने वाले हैं। लिखने-पढ़ने में रुचि आरम्भ से ही थी, किन्तु परिस्थिति-वश स्कूली-शिक्षा से आगे नहीं पढ़ सके। आप स्व ही हिन्दी-संस्कृत आदि भाषाओं तथा साहित्य का खूब अध्ययन करते रहे। आरम्भ में आरा में अध्यापन का कार्य किया। फिर पत्रकारिता की ओर आपकी प्रवृत्ति बढ़ी। 'मारवाड़ी सुधार', 'मतवाला', माधुरी, जागरण, बालक, हिमालय आदि कई पत्र-पत्रिकाओं का आपने सफल सम्पादन किया है। 'द्विवेदी अभिनन्दन-ग्रंथ' तथा 'राजेन्द्र-अभिनन्दन-ग्रंथ' का सम्पादन भी आपका महत्त्वपूर्ण कार्य है। आप अपने अध्ययन और योग्यता के बल पर ही, मैट्रिक से बड़ी डिग्री न होने पर भी, राजेन्द्र कॉलेज छपरा के हिन्दी-विभाग में अध्यक्ष नियुक्त हुए। वहां कुछ समय तक कुशलता के साथ अध्यापन-कार्य के पश्चात्, आपकी अद्भुत साहित्य-सेवाओं और योग्यता के कारण, आपको बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद् का मंत्रि नियुक्त किया गया। आपके कारण परिषद् ने हिन्दी के बहुमूल्य ग्रंथों के प्रकाशन का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। बिहार के साहित्यिक जीवन के आप प्राण ही हैं।

आपने उच्च कोटि के साहित्य का सृजन किया है। उपन्यास, कहानी और निबन्ध आदि गद्य-साहित्य के सभी रूपों में आपको पूर्ण सफलता मिली है। शिवपूजन-रचनावली के नाम से ३ भागों में (कुल १४२० पृष्ठ) आपकी समस्त रचनाएँ बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा प्रकाशित हुई हैं। आप उच्च कोटि के निबन्ध-लेखक और कहानी-लेखक हैं। यद्यपि अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ में ही आपने थोड़ी कहानियाँ लिखी हैं, किन्तु हैं सब अद्वितीय। "शैली की दृष्टि से आपका कोई सानी नहीं है, इस बात में हिन्दी-संसार आपका लोहा मानता है।" कवित्वपूर्ण सरस अलंकृत भाषा-शैली के प्रयोग में आपको अद्भुत सफलता मिली है। कहानियों में काव्य का-सा आनन्द रहता है। आपकी कुछ कहानियों में परम्परागत रूढ़ियों का

भी मार्मिक खण्डन किया गया है। 'विभूति' नामक संग्रह में भी आपकी श्रेष्ठ कहानियां संकलित हैं।

मुण्डमाल : 'मुण्डमाल' कहानी आचार्य शिवपूजन सहाय की सुन्दर ऐतिहासिक कथा है। इसमें लेखक ने राजपूत सरदार चूड़ावत और हाड़ा रानी की प्रसिद्ध वीर-गाथा को प्रकट किया है। १८ वर्षीय युवक सरदार चूड़ावत का अभी-अभी हाड़ा-वंश की सुन्दरी सुकुमारी कन्या से विवाह हुआ है। रानी के अभी लाज के बोल भी खुल नहीं पाये थे, सोहाग का प्रथम सिन्दूर दुहराया भी नहीं गया था, कि सरदार चूड़ावत के सन्मुख कर्त्तव्य का आह्वान हुआ। सरदार, सामन्त शत्रु-सेना को रोकने के लिए प्रयाण करने वाले हैं। सरदार चूड़ावत भी घोड़े को कसे खड़े हैं। अकस्मात् महल के झरोखे में खड़ी पत्नी पर दृष्टि जाती है। "हाथ की लगाम हाथ ही में है, मन की लगाम खिड़की में है, नये प्रेम-पाश का प्रबल बन्धन प्रतिज्ञा-पालन का पुराना बन्धन ढीला कर रहा है।" चन्द्र-दर्शन की चोखी चाट सरदार को हाड़ा रानी के पास ले ही तो जाती है। रानी भी पति के मानसिक उद्वेग को समझ जाती है। तमक कर बोली—"प्राणनाथ, मन मलीन क्यों है ?···उमंग में उदासीनता कहाँ से चू पड़ी ?" चूड़ावत रंग में भंग होने का दुख प्रकट करता है। कौन जाने, कठोर कर्त्तव्य-पालन रानी से फिर मिलने का सुयोग देगा भी या नहीं ? एक कोमल कुसुम के सौभाग्य-पराग का क्या होगा ? पर भारतीय वीर क्षत्राणी तो अपने अमर त्याग, वीरता और कर्त्तव्य की टेक रखती आई है। हाड़ा रानी परिस्थिति को समझ कर बोली—"मेरा मोह छोड़ दीजिए। भारत की महिलाएँ स्वार्थ के लिए सत्य का संहार करना नहीं चाहतीं। आर्य-महिलाओं के लिए समस्त संसार की सारी सम्पत्तियों से बढ़कर सतीत्व ही अमूल्य धन है ! जिस दिन मेरे तुच्छ सांसारिक सुखों की भोग-लालसा के कारण मेरी एक प्यारी बहन का सतीत्व-रत्न लुट जायगा, उस दिन मेरा जातीय गौरव-अरावली-शिखर चकनाचूर हो जाएगा।" कितना उच्च आदर्श है ! ऐसी भारतीय नारियों के सामने एक दिल्ली के बादशाह तो क्या सैंकड़ों

बादशाहों की ज़ोर-ज़बरदस्ती कहाँ चल सकती थी ? किन्तु चूड़ावत रानी के आश्वासन-भरे शब्दों को सुनकर भी, अपने सेवक के हाथ रानी से चिन्ह मंगाता है—दृढ़ आशा और अटल विश्वास का। वीरांगना समझ जाती है कि अभी न मोह का शमन हुआ है, न अविश्वास का। एक क्षण वह विचारती है—"प्राणेश्वर का ध्यान जब तक इस तुच्छ शरीर की ओर लगा रहेगा तब तक निश्चय ही वे कृतकार्य नहीं होंगे", और दूसरे क्षण ही दाहिने हाथ में तलवार और बाएँ हाथ में लच्छेदार केशों वाला रानी का धड़ होता है। इस से बढ़कर पूर्ण चिन्ह और क्या होगा ? चूड़ावत अटल विश्वास का चिन्ह पाकर, उस मुण्डमाल को गले में धारण करके रुद्रदेव का ताण्डव नृत्य करने चल देते हैं। त्याग, वीरता, कर्त्तव्य और आत्मोत्सर्ग की कितनी महान् कहानी है ! निश्चय ही इतिहास के लिए स्पर्द्धा की वस्तु है।

कहानी में कवित्वपूर्ण अलंकृत शैली सर्वत्र रस घोल रही है। ऐतिहासिक कहानियों में वातावरण की सजीवता बहुत आवश्यक होती है। यह कथा ओजपूर्ण वातावरण-चित्रण से ही आरम्भ होती है। लेखक ने आरम्भ में ही राजपूत काल की वीरता को साकार कर दिया है। विषय के अनुरूप शैली में ओज गुण पाया जाता है। संवाद लम्बे हैं, किन्तु शैली की उत्कृष्टता और ओजगुण के कारण बोझल प्रतीत नहीं होते। फिर भी हाड़ा रानी और चूड़ावत का वार्तालाप खंडशः संक्षिप्त होता, तो अच्छा रहता। हाड़ा रानी का डेढ़ पृष्ठ का कथन भाषण-सा हो गया है। लेखक ने चूड़ावत के मानसिक संघर्ष को सफलता से प्रकट किया है। कथा का शीर्षक बहुत कलापूर्ण और उपयुक्त है। कहानी का उद्देश्य और उसकी प्रमुख घटना इस नामकरण से स्पष्ट हो जाते हैं। कथा वीर-रस और वीर-भावनाओं से ओत-प्रोत है।

ऐतिहासिक कथा

मुण्डमाल

आज उदयपुर के चौक में चारों ओर बड़ी चहल-पहल है। नवयुवकों में नवीन उत्साह उमड़ उठा है। **मालूम होता है कि किसी ने यहां के कुओं में उमंग की भंग घोल दी है**[1]। नवयुवकों की मूछों में ऐंठ भरी हुई है। आँखों में ललाई छा गई है। सब की पगड़ी पर देशानुराग की कलगी लगी हुई है। हर तरफ से वीरता की ललकार सुन पड़ती है। बाँके लड़ाके वीरों के कलेजे रण-भेरी सुनकर चौगुने होते जा रहे हैं। नगाड़ों से तो नाकों में दम हो चला है। **उदयपुर की धरती धौंसे की धुधुकार से डगमग कर रही है। रणरोप से भरे हुए घोड़े डंके की चोट पर उड़ रहे हैं। मतवाले हाथी हर ओर से काले मेघ की तरह उमड़े चले आते हैं। घंटों की आवाज से समूचा नगर गूँज रहा है।** शस्त्रों की झनकार और शंखों के शब्द से दसों दिशाएँ सरस शब्दमयी हो रही हैं। बड़े अभिमान से फहराती हुई विजय-पताका राजपूतों की कीर्ति-लता-सी लहराती है। स्वच्छ आकाश के दर्पण में अपने मनोहर मुखड़े निहारनेवाले महलों की ऊँची-ऊँची अटारियों पर चारों ओर सुन्दर सुहागिनियाँ और कुमारी कन्याएं भर-भर अंचल फूल लिये खड़ी हैं। **सूरज की चमकीली किरणों की उज्ज्वल धारा से धोए हुए आकाश में चुभनेवाले कलश, महलों के मँडेरों पर मुस्किरा रहे हैं। बन्दी-वृन्द विशद विरुदावली बखानने में व्यस्त हैं।**[2]

महाराज राजसिंह के समर्थ सरदार चूड़ावत जी आज औरंगजेब का दर्प-दलन करने और अन्धा-धुन्ध अन्धेर का उचित उत्तर देने वाले हैं। यद्यपि उनकी अवस्था अभी अठारह वर्ष से अधिक नहीं है तथापि **जंगी जोश के मारे वे इतने फूल गये हैं कि कवच में नहीं अँटते,** उनके हृदय में सामरिक उत्तेजना की लहर लहरा रही है। घोड़े पर सवार होने के लिए वे ज्यों ही हाथ में लगाम थामकर उचकना चाहते हैं, त्यों ही अनायास उनकी दृष्टि सामने वाले

---

१. **सुन्दर उत्प्रेक्षा**
२. **सुन्दर ओजपूर्ण, सजीव वातावरण चित्रण।**

महल की झँझरीदार खिड़की पर, जहां उनकी नवोढ़ा पत्नी खड़ी है, जा पड़ती है।

हाड़ा-वंश की सुलक्षणा सुशीला और सुन्दरी सुकुमारी कन्या से आप का ब्याह हुए दो-चार दिनों से अधिक न हुए होंगे। अभी नवोढ़ा रानी के हाथ का कंकण हाथ ही की शोभा बढ़ा रहा है। अभी कजरारी आंखें अपने ही रंग में रंगी हुई हैं। पीत पुनीत चुनरी भी अभी धूमिल नहीं होने पाई है, सोहाग का सिन्दूर दुहराया भी नहीं गया है। फूलों की सेज छोड़कर और कहीं गहनों की झनकार भी नहीं सुन पड़ी है। अभी पायल की रुन-झुन ने महल के एक कोने में ही बीन बजाई है। अभी घने पल्लवों की आड़ में ही कोयल कुहकती है। अभी कमल-सरीखे कोमल हाथ पूजनीय चरणों पर चन्दन ही भर चढ़ा पाये हैं। अभी संकोच के सुनहरे सींकड़ में बँधे हुए नेत्र लाज ही के लोभ में पड़े हुए हैं। अभी चांद बादल ही के अन्दर छिपा था, किन्तु नहीं, आज उदयपुर की उदित विदित शोभा देखने के लिए घन-पटल में से अभी-अभी वह प्रकट हुआ है।[1]

चूड़ावतजी, हाथ में लगाम लिये ही, बादल के जाल से निकले हुये उस पूर्णचन्द्र पर टकटकी लगाए खड़े हैं। जालीदार खिड़की से छन-छनकर आनेवाली चांद की चटकीली चांदनी ने चूड़ावत-चकोर को आपे से बाहर कर दिया है! हाथ की लगाम हाथ ही में है, मन की लगाम खिड़की में है, नये प्रेम-पाश का प्रबल बन्धन प्रतिज्ञा-पालन का पुराना बन्धन ढीला कर रहा है। (सुन्दर मानसिक संघर्ष) चूड़ावतजी का चित्त चंचल हो चला। वे झटपट चन्द्र-भवन की ओर चल पड़े। वे भी यद्यपि चिन्ता में चूर हैं; पर चन्द्र-दर्शन की चोखी चाट लग रही है। वे संगमर्मरा सीढ़ियों के सहारे चन्द्र-भवन पर चढ़ चुके; पर जीभ का जकड़ जाना जी को जला रहा है[2]। हृदयहारिणी हाड़ा रानी भी हिम्मत करके, हलकी आवाज़ से बोली, 'प्राणनाथ मन मलीन क्यों है? मुखारविन्द क्यों मुर्झाया है? मैं न तन में तेज ही देखती हूँ, न शरीर में शांति ही; ऐसा क्यों? भला उत्साह की जगह उद्वेग का क्या काम है? उमंग में उदासीनता कहां से चू पड़ी? क्या कोई शोक-संवाद सुना है? जबकि सभी सामंत-सूरमा संग्राम के लिए सज-धजकर आप ही की आज्ञा की आशा में अटके

१. अत्यन्त सुन्दर भावपूर्ण अलंकृत काव्यमय शैली।
२. सुन्दर लाक्षणिक प्रयोग

हुए हैं, तब क्या कारण है कि आप व्यर्थ व्याकुल हो उठे। उदयपुर के बाजे-गाजे के तुमुल शब्द से दिगदिगन्त डोल रहा है। वीरों के हुंकार से कायरों के कलेजे भी कड़े हो रहे हैं। भला ऐसे अवसर पर आपका चेहरा क्यों उतरा हुआ है। लड़ाई की ललकार सुनकर लंगड़ों-लूलों को भी लड़ने की लालसा लग जाती है। फिर आप तो क्षात्र-तेज से भरे हुए क्षत्रिय हैं। प्राणनाथ, शूरों को शिथिलता नहीं शोभती। क्षत्रिय का छोटा-मोटा छोकरा भी क्षण-भर में शत्रुओं को छील-छालकर छुट्टी कर देता है। परन्तु आप प्रसिद्ध पराक्रमी होकर क्यों **पस्त पड़ गए हैं ?**"

चूड़ावतजी चंद्रमा में चपला की-सी चमक-दमक देख, चकित होकर बोले, "प्राणप्यारी! रूपनगर के राठोर-वंश की राजकुमारी को दिल्ली का बादशाह बलात ब्याहने आ रहा है। उसके पहले ही वह राजकन्या हमारे माननीय राणाजी को वर चुकी है। कल पौ फूटते ही राणाजी रूपनगर की राह लेंगे। हम बीच ही में बादशाह की राह रोकने के लिए रण-यात्रा कर रहे हैं। शूर-सामन्तों की सैंकड़ों सजीली सेनायें साथ में हैं तो सही, **परन्तु हम लड़ाई से अपने लौटने का लक्षण नहीं देख रहे हैं। फिर कभी भर-नज़र तुम्हारे चन्द्र-वदन को देख पाने की आशा नहीं है।** इस बार घनघोर युद्ध छिड़ेगा। हम लोग मन मनाकर जी-जान से लड़ेंगे। हज़ारों हमले हड़प हो जायेंगे। समुद्र-सेना भी मथ डालेंगे। हिम्मत भी हज़ार गुनी है; मगर मुग़लों से **मुठभेड़ में महज मुट्ठी-भर मेवाड़ी वीर क्या कर सकेंगे ?** तो भी हमारे ढलैत, कमनैत और बानैत ढाढ़स बांधकर डट जायेंगे। **हम सत्य की रक्षा के लिए पुर्ज़े-पुर्ज़े कट जायेंगे**—प्राणेश्वरी। किन्तु हमको केवल तुम्हारी ही चिन्ता बेढब सता रही है। अभी चार ही दिन हुए कि तुम-सी सुहागिन दुलहिन हमारे हृदय में उजेला करने के लिये आई है। अभी किसी दिन तुम्हें इस तुच्छ संसार की क्षणिक छाया में विश्राम करने का भी अवसर नहीं मिला है। यह क़िस्मत की करामात है! **एक ही गोटी में सारा खेल मात है !** किसे मालूम था कि, एक तुम-सी अनूप रूपा कोमलांगी के भाग्य में ऐसा भयंकर लेख होगा! **अचानक रंग में भंग होने की आशा** सपने में भी न थी! किन्तु ऐसे

अवसरों पर क्षत्रियों की परीक्षा हुआ करती है। संसार के सारे सुखों की तो बात ही क्या, प्राणों की भी आहुति देकर क्षत्रियों को अपने कर्त्तव्य का पालन करना पड़ता है।"

हाड़ा रानी हृदय पर हाथ धरकर बोली, "प्राणनाथ सत्य और न्याय की रक्षा के लिये, लड़ने जाने के समय, सहज-सुलभ सांसारिक सुखों की बुरी वासना को मन में घर करने देना आपके समान क्षत्रिय-कुमार का काम नहीं है। आप अपने मनोहर सुख के फंदे में फँसकर अपना जातीय कर्त्तव्य मत भूलिये। सब प्रकार की वासनाओं और व्यसनों से विरक्त होकर इस समय केवल वीरत्व धारण कीजिये। मेरा मोह छोड़ दीजिये। भारत की महिलाएँ स्वार्थ के लिये सत्य का संहार करना नहीं चाहतीं। आर्य महिलाओं के लिये समस्त संसार की सारी सम्पत्तियों से बढ़कर 'सतीत्व ही अमूल्य धन है!' जिस दिन मेरे तुच्छ सांसारिक सुखों की भोग-लालसा के कारण मेरी एक प्यारी बहन का सतीत्व-रत्न लुट जायगा उस दिन मेरा जातीय गौरव-अरावली-शिखर चकनाचूर हो जाएगा। यदि नव-विवाहिता उर्मिलादेवी ने वीर शिरोमणि लक्ष्मण को सांसारिक सुखोपभोग के लिए कर्त्तव्य-पालन से विमुख कर दिया होता, तो क्या कभी लखनलाल को अक्षय यश लूटने का अवसर मिलता? वीर-बहूटी उत्तरादेवी ने यदि अभिमन्यु को भोग-विलास के भयंकर बन्धन में जकड़ दिया होता तो क्या वह दुर्लभ गति को पाकर भारतीय क्षत्रिय नन्दनों में अग्रगण्य होते? मैं समझती हूँ कि, यदि तारा की बात मानकर बाली भी, घर के कोने में मुँह छिपाकर डरपोक जैसा छिप गया होता, तो उसे वैसी पवित्र मृत्यु कदापि नसीब न होती। सीतादेवी की सतीत्व-रक्षा के लिए जरा-जर्जर जटायु ने अपनी जान तक गँवाई जरूर, लेकिन वह कीर्ति कमाई और बधाई पाई, जो आज तक किसी कवि की कल्पना में नहीं समाई। वीरों का यह रक्त-मांस का शरीर अमर नहीं होता बल्कि उनका उज्ज्वल यशोरूपी शरीर ही अमर होता है। विजय-कीर्ति ही उनकी अभीष्ट-दायिनी कल्पलतिका है। दुष्ट शत्रु का रक्त ही उनके लिए शुद्ध गंगाजल से भी बढ़कर है। सतीत्व के अस्तित्व के लिए रणभूमि में व्रजमण्डल

की-सी होली मचाने वाली खड्ग-देवी ही उनकी सती सहगामिनी है। आप सच्चे राजपूत हैं; इसलिए सोत्साह जाइये और जाकर एकाग्र मन से अपना कर्त्तव्य पालन कीजिए। मैं भी यदि सच्ची राजपूत-कन्या हूँगी तो शीघ्र ही आप से स्वर्ग जा मिलूँगी। अब विशेष विलम्ब करने का समय नहीं है।"

चूड़ावत जी का चित्त हाड़ा रानी के हृदय रूपी हीरे को परख कर पुलकित हो उठा, प्रफुल्लित मन से चूड़ावत जी ने रानी को बार-बार गले लगाया, पारस के ही हृदयों के आलिंगन से मिट्टी की काया भी कंचन हो जाती है। चूड़ावत जी आप-से-आप कह उठे, "धन्य देवी। तुम्हारे विराजने के लिए वस्तुतः हमारे हृदय में बहुत ही ऊँचा सिंहासन है। अच्छा अब हम मरकर अमर होने जाते हैं। देखना प्यारी! कहीं ऐसा न हो कि"—कंठ गद्‌गद् हो गया।

रानी ने फिर उन्हें आलिंगित करके कहा—'प्राणप्यारे! इतना अवश्य ध्यान रखिए कि छोटा बच्चा चाहे आसमान छूले, सीपी में संभवतः समुद्र समा जाय, हिमालय हिल जाय तो हिल जाय पर भारत की सती देवियाँ अपने प्रण से तनिक भी नहीं डिग सकतीं।

चूड़ावत जी प्रेमभरी नज़रों से एकटक रानी की ओर देखते-देखते सीढ़ी से उतर पड़े, रानी सतृष्ण नेत्रों से ताकती रह गईं।

चूड़ावत जी घोड़े पर सवार हो रहे हैं। डंके की आवाज़ घनी होती जा रही है। घोड़े फड़क-फड़ककर अड़ रहे हैं। चूड़ावत जी का प्रशस्त ललाट अभी तक चिंता की रेखाओं से कुंचित है। रतनारे लोचन-ललाम रण-सरर में पगे हुए हैं।   (अन्तर्द्वन्द्व की तीव्रता)

उधर रानी विचार कर रही हैं, "मेरे प्राणेश्वर का मन मुझ में ही यदि लगा रहेगा तो विजयलक्ष्मी किसी प्रकार उनके गले में जयमाला नहीं डालेगी। उन्हें मेरे सतीत्व पर संकट आने का भय है। कुछ अंशों में यह स्वाभाविक भी है।"

इसी विचार-तरंग में रानी डूबती-उतराती है। तब तक चूड़ावत जी का अन्तिम संवाद लेकर आया हुआ एक प्रिय सेवक विनम्र भाव से कह

उठता है, **चूड़ावत जी चिन्ह चाहते हैं, दृढ़ आशा और अटल विश्वास का।** संतोष होने योग्य कोई अपनी प्यारी वस्तु दीजिये। उन्होंने कहा है कि **"तुम्हारी ही आत्मा हमारे शरीर में बैठकर हमें रण-भूमि की ओर लिए जा रही है। हम अपनी आत्मा तुम्हारे शरीर में छोड़कर जा रहे हैं।"**

स्नेह-सूचक संवाद सुनकर रानी अपने मन में विचार रही है—"प्राणेश्वर का ध्यान जब तक **इस तुच्छ शरीर की ओर लगा रहेगा तब तक निश्चय ही ये कृतकार्य नहीं होंगे।"** इतना सोचकर बोली, अच्छा **खड़ा रह, मेरा सिर लिए जा।** **(चरम सीमा)**

जब तक सेवक हाँ! हाँ! कह कर चिल्ला उठता है; तब तक दाहिने हाथ में नंगी तलवार और बाएँ हाथ में लच्छेदार केशों वाला रानी का धड़, विलास मन्दिर के संगमर्मरी फ़र्श को सती रक्त से सींचकर पवित्र करता हुआ, धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा।

बेचारे भय-चकित सेवक ने **यह दृढ़ आशा और अटल विश्वास का चिन्ह** काँपते हुए हाथों से ले जाकर चूड़ावत जी को दे दिया। चूड़ावत जी प्रेम से पागल हो उठे। **वे अपूर्व आनन्द में मस्त होकर ऐसे फूल गये कि कवच की कड़ियाँ तड़ातड़ कड़क उठीं।**

सुगन्धों से सींचे हुए मुलायम बालों के गुच्छों को दो हिस्सों में चीर कर चूड़ावत जी ने उस **सौभाग्य-सिंदूर से भरे हुए सुन्दर शीश को गले में लटका लिया।** मालूम हुआ मानो स्वयं **भगवान् रुद्रदेव भीषण भेष धारण कर शत्रु का नाश करने** जा रहे हैं। सबको भ्रम हो उठा कि गले में काले नाग लिपट रहे हैं या लम्बी-लम्बी लटाकार लटें हैं। अटारियों पर से सुन्दरियों ने भर-भर अंजली फूलों की वर्षा की मानो स्वर्ग की मानिनी अप्सराओं ने पुष्प-वृष्टि की हो। बाजे-गाजे के शब्दों के साथ घहराता आकाश फाड़ने वाला एक गंभीर स्वर चारों ओर से गूंज उठा। **धन्य मुण्डमाल!**

प्रष्टव्य

१. **"'मुण्डमाल' कहानी त्याग, वीरता और कर्त्तव्य का अद्भुत आदर्श प्रस्तुत करती है।" इस कथन की पुष्टि कीजिए।**

२. **'मुण्डमाल' कहानी की संक्षिप्त समीक्षा कीजिए।**

श्रीमती कमला देवी चौधरी

महिला-लेखिकाओं ने भी हिन्दी साहित्य की सेवा में पर्याप्त योग दिया है। श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान, शिवरानी देवी, उषा देवी मित्रा, होमवती, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, सत्यवती मलिक, कमला देवी चौधरी हिन्दी की श्रेष्ठ कहानी लेखिका हैं। श्रीमती कमला देवी चौधरी का महत्त्व स्त्री-कहानी-लेखिकाओं में प्रमुख है। आप मेरठ की रहने वाली हैं। आपकी आयु लगभग ४५ वर्ष है। आप एक सुशिक्षित, सहृदया, सरला, संभ्रान्त, कुलीन महिला हैं। सन् १९३० के लगभग से आप ने लिखना शुरू किया। 'विशाल भारत' में आपकी कई कहानियां छपती रहीं। पंडित बनारसी दास चतुर्वेदी ने आपको इस क्षेत्र में विशेष रूप से उत्साहित किया। आपके अब तक चार कहानी-संग्रह—उन्माद, पिकनिक, यात्रा और बेल-पत्र प्रकाशित हो चुके हैं। आपकी कहानियां जीवन की महत्त्वपूर्ण संवेदनाओं से युक्त बहुत ही मार्मिक हैं। आपने गार्हस्थ्य जीवन की अनेक समस्याओं को अपनी कहानियों में चित्रित किया है। 'त्याज्या' जैसी मनोवैज्ञानिक कहानियों में नारी-हृदय का वर्णन करने में भी आपको अपूर्व सफलता मिली है। 'पागल' आदि कुछ कहानियों में दलित और उपेक्षित दीन-हीन मानवता का क्रन्दन भी चित्रित किया है। आपकी भाषा-शैली अत्यन्त सरस, सरल किन्तु सशक्त और प्रभाव-पूर्ण होती है। टेक की रक्षा, त्याज्या, स्वप्न, पराजय आदि आपकी सर्वश्रेष्ठ कहानियां हैं।

'पराजय' कहानी श्रीमती चौधरी की सर्वसुन्दर कहानी है। इसमें स्वतन्त्रता देवी के शाश्वत और पुनीत मन्दिर का प्रतिष्ठापन किया गया है। कहानी की थीम है—**अधीन होकर बुरा है जीना, है मरना अच्छा स्वतन्त्र होकर**।' मनुष्य तो मनुष्य, पशु भी पराधीनता का जीवन बिताने की अपेक्षा मौत की लपटों का आलिंगन करने में गौरव मानते हैं। कथा में जंगली हिरण—पशु आत्मा—भी राजा के जू में कैद होकर अपनी स्वाधीनता को खोना नहीं चाहते, बल्कि अपने प्राणों की आहुति देकर स्वतन्त्रता का मूल्य

चुकाते हैं। देश की परतन्त्रता से दुखी होकर पुजारी ने स्वतन्त्रता के संग्राम में सक्रिय भाग लिया। जेल-यातनाएं भी सहीं। अब वह विजन में चला जाता है, पर क्या उसने अपने आदर्श को छोड़ दिया ? कदापि नहीं। वह तो मानवता के सामने देश की स्वतन्त्रता से भी अधिक गौरवपूर्ण आदर्श छोड़ जाना चाहता है। जन-समाज में जिनकी धारणा यह थी कि पुजारी पराजित होकर जीवन-संघर्ष से पलायन कर गया है, वे भूले थे। जो यह समझते थे कि 'पुजारी जो कुछ हमारा नेतृत्व ग्रहण करके कर सकता था, वह आज सुदूर बैठा भी कर रहा है,' वे ही पुजारी की अन्तरात्मा से परिचित थे। कहानी देश-प्रेम, स्वतन्त्रता-प्रेम की भावनाओं से ओत-प्रोत है।

वास्तव में यह कहानी प्रतीकात्मक है। पुजारी कलाकार का प्रतीक है। वह कला और स्वतन्त्रता का पुजारी है। कलाकार भले ही राजनीतिज्ञों की तरह स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए जेलों को न भरें; भले ही वे जनता का नेतृत्व न करें—राजनीति में सक्रिय भाग न लें; किन्तु उनकी एकान्त कला-साधना या प्रेम-साधना भी जीवन-निर्माणकारी होती है। कवीन्द्र रवीन्द्र, प्रेमचन्द आदि सर्वश्रेष्ठ कलाकार भले ही जेलों में न गए हों, स्वतन्त्रता-संग्राम में सक्रिय न रहे हों, किन्तु उनकी एकान्त कला-साधना देश-निर्माण में कितनी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई है ! देश-काल की संकुचित प्राचीरों को चीरकर उनकी साधना मानव-मात्र के लिए प्रेरणा के स्रोत-रूप में प्रवाहित हुई है। ठीक इसी प्रकार पुजारी ने अपनी तन्मयतापूर्ण प्रेम-विपंची बजा कर अपना अमर सन्देश मानव-आत्मा में ही नहीं; पशु-आत्मा में भी फूंक दिया। उसकी कलात्मक प्रेम-विपंची में राजनीतिज्ञ के आह्वानपूर्ण व्याख्यान से इतनी अधिक शक्ति है कि पशु पक्षियों में भी वह सम्मोहन उत्पन्न कर सकती है। जब उसने स्वाधीनता का राग छेड़ा, तो मतवाली पशु-आत्मा ने भी झूम-झूम कर अग्नि शिखा का आलिंगन किया। निस्संदेह पुजारी ने समाज-आन्दोलन से दूर रह कर भी वही कार्य किया, जो जन-समाज में रहकर वह कर रहा था। बल्कि उसका बाद का कार्य मानवता के लिए शाश्वत संदेश सिद्ध हुआ। उसका प्रभाव सब पर अमिट रूप से पड़ सकता है। कला का

पुजारी किसी का अहित नहीं सोच सकता। अतः पुजारी राजा को हिरण सौंपने से साफ जवाब दे देता है। इस प्रकार यह कथा आदर्शवादी प्रतीकात्मक कथा है। इसमें प्रसाद जी वाली कल्पना और भावना की ही प्रधानता है, प्रेम-चन्द की कठोर वास्तविकता इसमें नहीं।

पहले पशु-पक्षियों की कहानियां खूब लिखी जाती थीं, किन्तु आजकल यदि पशु-पक्षियों को कहानियों में स्थान मिलता है, तो केवल उनका सांकेतिक प्रतीकात्मक अर्थ ही सामने आता है। उनकी बात वहीं तक की जाती है, जहां तक कि वह अविश्वसनीय प्रतीत न हो। 'पराजय' कहानी में ऐसा ही हुआ है। यद्यपि हिरणों से सम्बन्धित कथा कल्पना की सृष्टि है, उसका वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं, किन्तु उसे एक दम अविश्वसनीय भी नहीं कहा जा सकता। साथ ही उसका सांकेतिक अर्थ ही महत्वपूर्ण है। पुजारी का जीवन और कृतृत्व सच्चे कला-पुजारी का प्राकृतिक, सात्विक, निश्छल प्रेम, त्याग और आदर्श का जीवन है। संवाद बड़े संक्षिप्त और सार्थक हैं। भाषा-शैली अत्यन्त सरस, सरल और समर्थ है। बिना अलंकरण के ही उसका सहज सौन्दर्य है। कथा का आरंभ परिचयात्मक ढंग पर स्वभाविकता के साथ हुआ है, और अंत चरम सीमा पर मार्मिकता के साथ। कथा अपनी स्वाभाविक गति से ध्येय की ओर बढ़ती है। आरंभ में प्राकृतिक वातावरण का चित्रण भी बहुत भव्य है। कहानी का शीर्षक अपने उद्देश्य को प्रकट करता है। मल्लिका रियासत के राजा को अपने राजाधिकार के दंभ पर पराजय का ही मुँह देखना पड़ता है। कौन किसी स्वतंत्र-चेता प्राणी की आत्मा को अधीन कर सका है?

पराजय

वह प्रकृति-पुजारी जन-समाज के कुत्सित वायु-मण्डल से परे निर्जन स्थान में कुटिया बनाकर रहता था। वह स्थान 'मृगकानन' के नाम से प्रसिद्ध था। मृगकानन प्राकृतिक उपहारों से परिपूर्ण अत्यन्त रमणीय स्थान था और हरी-हरी द्रुमावलियों के बीच में पुजारी की वह क्षुद्र पल्लवमयी कुटिया

कमनीय सुन्दरता की प्रतिमा प्रतीत होती थी मानो कालिदास की लेखनी-द्वारा वर्णित कण्व ऋषि का निवास-स्थान हो ।

इस कुटी के चारों ओर कण्व ऋषि के आश्रम-सदृश सुन्दर-सुन्दर मृग-शावक विचरण करते थे; किन्तु शकुन्तला और शकुन्तला की सखियों का स्थान ग्रहण करने वाला कोई नहीं था । पुजारी एकाकी था । जंगली फल-फूल उसकी सम्पत्ति थे, जीव-जन्तु उसके पारिवारिक व्यक्ति थे और वे हृष्ट-पुष्ट मृगशावक उसके सुहृद थे, मानो पुजारी इस नन्दन-कानन का कन्हैया हो और वे काले नेत्रवाले श्वेत मृगशावक गोपिकाएँ ।

पुजारी तारक-छाया में आसन जमाकर बाँसुरी की सम्मोहक तान छेड़ता और मृगशावकों के समूह मस्त होकर अपने कन्हैया का चित्र आँखों में अंकित कर मन्त्र-मुग्ध खड़े रहते ।

जब रजनी चन्द्रदेव से विदा लेकर अपनी काली साड़ी का अंचल सँभालती हुई मन्द गति से चली जाती, तब पुजारी की इस अनोखी रासलीला का अन्त हो जाता । इस जीवन से पुजारी अत्यन्त सन्तुष्ट था, उसे मानसिक शान्ति प्राप्त थी ।

(२)

जन-साधारण में अफवाह थी—पुजारी प्रथम जननी जन्म-भूमि का पुजारी था और किसी समय जनता का प्रमुख नेता भी था । इसी अपराध में उसे बारह वर्ष का कठिन कारागार भी भोगना पड़ा था । कारागार से मुक्त होकर उसने अपने देश के प्रचलित आन्दोलन में किसा प्रकार का भाग नहीं लिया । मानव-समाज से विदा होकर उसने मल्लिका रियासत के घने जंगल में अपना उपासना-स्थल बना लिया था । यहां ही उसने स्वतंत्रता देवी की प्रतिष्ठा की थी ।

जन-समाज अब भी पुजारी को भूला नहीं था; किन्तु किसी की धारणा थी—वह पराजित होकर किसी के सम्मुख आना नहीं चाहता, किसी का कहना था—हुकूमत का आतंक उस पर पूर्णत: जम गया है । और किसी-

किसी का विचार ऐसा भी था कि पुजारी जो कुछ हमारा नेतृत्व ग्रहण करके कर सकता था वह आज सुदूर पर बैठा भी कर रहा है।

(३)

मल्लिका रियासत के शासक बीरबली विक्रमशील ने अपनी राजधानी में एक विशाल ज़ू बनवाया था। ज़ू पर उसने यथेष्ट धन व्यय किया था। विक्रम की इच्छा थी कि उसका ज़ू एक विशाल अजायब वस्तु बन जाय। मेरे ज़ू को देखने वाले विस्मय में पड़ जायँ—कि वे किसी ज़ू का निरीक्षण कर रहे हैं या वास्तविक प्राकृतिक वातावरण में पशु-पक्षियों की आनन्द-केलि का अवलोकन कर रहे हैं।

विक्रम को सबसे अधिक मृग एकत्रित करने का शौक था। एक लम्बा-चौड़ा मैदान चारों ओर से घिरा था और उसमें सैंकड़ों की संख्या में मृग क़ैद थे। मैदान के बीच में एक संगमरमर का चबूतरा था। विक्रमशील अपने प्रसिद्ध संगीतज्ञों सहित रात्रि में आकर वहां बैठता और कुशल कलाकार अपने संगीत के द्वारा हिरणों को मुग्ध करने की चेष्टा करते। विक्रम के जीवन का यह एक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम था, किन्तु किसी प्रकार उसकी इच्छा सफलीभूत न होती थी।

एक दिन विक्रम को पुजारी की मृग-मण्डली का समाचार मिला। विक्रम एक बार स्वयं अपनी आँखों से वह दृश्य देखने को व्यग्र हो उठा और उसी पूर्णिमा की रात्रि को हाथी पर बैठकर उसने जंगल में प्रवेश किया।

(विरोध का आरंभ)

विक्रम ने दूर से देखा—पुजारी तन्मयता से बांसुरी में सम्मोहक राग अलाप रहा है और मोहित मृगों के समूह उसे घेरे खड़े हैं।

विक्रम उस अलौकिक राग और अद्भुत दृश्य पर मुग्ध हो गया। ऐसा दृश्य वह अपने ज़ू में उपस्थित कर अवश्य संसार की आंखों में चकाचौंध उत्पन्न कर देगा। किसी प्रकार यह सारे मृग हाथ आने ही चाहिएँ। एक-मात्र उपाय पुजारी को अपने वशीभूत करना है।

विक्रम हाथी से उतरा और कुछ सैनिकों के साथ पुजारी के समीप चल दिया। पैरों की आहट सुनकर पुजारी ने बांसुरी रख दी और एक विचित्र ध्वनि के द्वारा खतरे का संकेत किया। मृगों ने चौकड़ी भरी और जंगल में इधर-उधर हो गये।

(४)

पुजारी ने राजा का अभिवादन करके पूछा—'क्या आज्ञा है, श्रीमान् ?' प्रणाम करते हुए विक्रम ने कहा—अद्भुत राग है तुम्हारा पुजारी, मैं मुग्ध हो गया। मेरे पास इतने उत्तम-उत्तम कलाकार हैं, किन्तु किसी में यह शक्ति नहीं जो मृगों को अपने संगीत-द्वारा मुग्ध कर सके। पुजारी, तुम्हारी बांसुरी में जादू है !'

नम्रता से पुजारी ने कहा—'श्रीमान, मैं संगीत-कला का ज्ञाता नहीं हूं, मेरा यह जंगली राग पशु-पक्षियों ही के योग्य है !'

'नहीं पुजारी, तुम्हारे जैसा संगीत तो मैंने आज तक सुना ही नहीं, मैं चकित हूं। पुजारी, मैं तुम्हारा आदर करता हूं। प्रथम साक्षात्कार ही में मैंने तुम्हें वचन दिया था, इस जंगल में शिकार करने की मनाही करवा दूंगा। मैंने अपना वचन पूरा कर दिया।'

'राजन् ! आपकी यह उदारता मुझे सदैव स्मरण रहेगी, मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूं। आज फिर इस ओर आने का श्रीमान् ने कैसे कष्ट किया ? क्या मेरे योग्य कोई सेवा है ?'

'पुजारी, क्या मेरी एक इच्छा पूरी करोगे ?'

'किसी के अहित के सिवा आपकी प्रत्येक आज्ञा पालन करने को मैं तैयार हूं, आज्ञा कीजिए।'

आदर के शब्दों में विक्रम ने कहा—'आज्ञा नहीं, पुजारी, मेरी प्रार्थना है—एक बार मेरी राजधानी में चलकर अपने इस मस्ताने राग से मेरे ज़ू के मृगों को मस्त कर दो। संसार मेरे ज़ू की विशेषता पर चकित हो जाय। आप ही की कृपा से मेरी यह इच्छा पूरी हो सकती है।'

(आशंका और संघर्ष की वृद्धि)

'राजन् ! जन-समाज में जाने की मेरी इच्छा नहीं है, फिर भी

वचन-बद्ध होने से मैं तैयार हूं, किन्तु श्रीमान् के मृगों पर मेरी बांसुरी का किंचित भी प्रभाव न होगा। ये जंगली मृग तो संसर्ग में रहने के कारण मुझसे हिल-मिल गये हैं।'

'तो क्या तुम्हारी यह बांसुरी मेरे मृगों पर मोहनी-मन्त्र न डाल सकेगी ?'

'नहीं श्रीमान् !'

'तो पुजारी, अपने ये मृग मुझे दे डालो।'

'श्रीमान्, सेवक का अपने पर अधिकार है; किन्तु इन मृगों पर कुछ भी अधिकार नहीं है।'

'पुजारी, तुम अपने वचन से विचलित होते हो।'

'कदापि नहीं श्रीमान्, मैंने प्रथम ही निवेदन किया था, किसी के अहित के सिवा आपकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करने को तैयार हूं।'

क्षणिक मौन रहकर राजा ने कहा—'मैं इन मृगों के आराम की खातिर कुछ उठा न रखूंगा। पुजारी, इन्हें जू में किसी प्रकार का कष्ट न होगा।'

मुस्कराकर पुजारी ने कहा—'**राजन् ! स्वतन्त्रता नष्ट होने से ये जीवित ही मृतवत् हो जायेंगे, इससे तो इनका शिकार खेलना ही उत्तम है।**'

विक्रम ने इस बार कुछ हुकूमत के स्वर में कहा—'कुछ भी हो पुजारी, इन मृगों को मेरे जू की शोभा के लिए तुम्हें देना ही होगा।'

'मैं प्रथम ही निवेदन कर चुका हूं, मृगों पर मेरा अधिकार नहीं है।'

इस बार विक्रम बहुत ही क्रुद्ध हो उठा—'मेरी आज्ञा की यह अव-हेलना पुजारी ! तुम्हारा अधिकार भले ही मृगों पर न हो, मेरा है। यदि तुम मेरी सहायता न करोगे तो वास्तव में इनका अहित होगा।'

नम्र वाणी से पुजारी ने कहा—"जंगल आपका है। श्रीमान् की इच्छा। एक बार स्मरण कराना मेरा कर्तव्य है, इस जंगल में शिकार न खेलने का आपने प्रण किया था।'

विक्रम क्रूर हंसी हंसकर बोला—'योगिराज ! जिस प्रकार तुम्हारी प्रतिज्ञा में गुंजायश है, उसी प्रकार मैं भी शिकार न सही, जंगल में आग लगवाने की आज्ञा दे सकता हूं।'

पुजारी मौन हो गया; किन्तु विक्रम और भी क्रुद्ध हो उठा—'पुजारी, मैं तुम्हारा सम्मान करता हूं, तुम्हारे प्रति मेरे हृदय में श्रद्धा है; किन्तु अपमान नहीं सहन कर सकता। तुम मेरे राज्य में हो, चाहूं तो तुम्हें दण्ड भी दे सकता हूं।'

धीमे स्वर में पुजारी ने कहा—'दे सकते हैं श्रीमान् !'

इस नम्र उत्तर ने विक्रम को और भी उत्तेजित कर दिया, वह दर्प के साथ बोला—'अन्तिम उत्तर दो, मृगों के पकड़ने में सहायता दोगे ?'

ऊंचा मस्तक करके पुजारी बोला—'कदापि नहीं !'

राजा ने आज्ञा दी—'सैनिक, गिरफ़्तार करो।'

वैसे ही मस्तक ऊंचा किए हुए पुजारी ने बेड़ी पहन ली।

(५)

लगभग आधा मार्ग समाप्त हो जाने पर हाथी रोक कर विक्रम ने फिर कहा—'भूल कर रहे हो पुजारी, मृग तुम्हारे वश में हैं। जू में उन्हें बन्द कर के एक प्रकार से तुम उपकार ही करोगे, वरना तुम्हारे हठ से सारे जंगल के पशु-पक्षियों के प्राण जायेंगे।'

क्षणिक ठहरकर पुजारी ने कहा—'विचार करने के लिए दूसरे प्रातः-काल तक अवसर दीजिए।'

विक्रम ने आज्ञा दी—'सैनिक, बन्धन खोल दो।' और प्रसन्नमुख नगरी को लौट गया।

तत्परता से पुजारी स्थान पर पहुंचा, फ़िर भी उषाकाल बीत चुका था। सूर्य की प्रखर रश्मियाँ चारों ओर फैली हुई थीं। आज शंख का नाद सुने बिना ही सारे मृग वहां एकत्रित हो गए थे और पुजारी को न देखकर

आकुल दृष्टि से चारों ओर निहार रहे थे । इस नवीनता पर पुजारी को भी आश्चर्य हुआ ।

पुजारी को देखकर मृगों की व्याकुलता दूर हुई, वे कूद-कूदकर प्रफुल्लता प्रकट करने लगे ।

प्रकृति की प्रियतमा जननी जन्म-भूमि का अभिवादन करके पुजारी ने वाद्य उठा लिया । मृग भी नतमस्तक हो गये ।

'**सुहासिनीम् सुमधुरभाषिणीम् सुखदां वरदाम् मातरम्**' के साथ वन्दना समाप्त कर पुजारी ने तीव्र ध्वनि की—

'**जननीजन्म-भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी** ।'

नित्यानुसार जब मृग लौटने लगे तो पुजारी ने चिन्तित मुद्रा से कहा—'मित्रो ! तुम लोगों के साथ मेरी यह पूजा आज अन्तिम है । आज रात्रि के गायन के पश्चात् मैं तुम लोगों से विदा ले लूंगा और वह विदा भी शायद अन्तिम होगी ।'

मृगों पर मानो वज्रपात हो गया । वे शायद पुजारी की भाषा से परिचित थे । अधीर होकर पुजारी के पैरों के सम्मुख लोटने लगे । आंखें पोंछकर पुजारी ने कहा—

'मेरे मित्रो ! मैं अपनी इच्छा से तुम्हें नहीं छोड़ रहा हूं । यहाँ का राजा वीरवली विक्रमशील तुम्हारी मण्डली पर मोहित हो गया है । उसकी आज्ञा है कि मैं तुम सबको उसके ज़ू के लिए पकड़वा दूं । **किन्तु मैं स्वतन्त्रता का उपासक हूं, आजादी का मूल्य जानता हूं**; तुम्हारे साथ शत्रुता का व्यवहार कैसे कर सकता हूँ ! मैंने विक्रम की आज्ञा की अवहेलना की है, इसी अपराध में उसने मुझे बन्दी कर लिया था । केवल तुम लोगों से विदा और तुम्हें विपत्ति की सूचना देने के लिए दूसरे प्रातःकाल तक का समय मांग कर आया हूं । तुम्हारी मण्डली पर विपत्ति आने वाली है । संभव है, राजा मुझे कैद करके भी तुम्हें फाँसने का उपाय करे । क्या तुम लोग उसके ज़ू में रहना स्वीकार करोगे ?'

सारे मृगों में एक नवीन उत्साह उत्पन्न हो गया। वे उतावले-से हरी-हरी घास, वृक्षों, लचकीली शाखाओं और पहाड़ों की ऊंची चोटियों को हसरतभरी दृष्टि से देखने लगे, मानो कहते हों—**हमें अपना जंगल बहुत ही प्यारा है, गुरु! इसे छोड़कर हम जीवन-रक्षा नहीं चाहते। ज़ू में बन्द होने की अपेक्षा अपने जंगल में सिंह का शिकार बनना उत्तम है।**

वे अपने जंगल के सौंदर्य पर मुग्ध होकर तन्मय हो गये। पुजारी ने तल्लीनता भंग की—'प्यारे मित्रो, अब जाओ; रात्रि में फिर मिलेंगे।'

मृग आज पुजारी के समीप से जाने को तैयार न थे। पुजारी की विदाई के शोक में मृगों की मृग-तृष्णा पूर्ण वेदना लेकर उत्पन्न हो गई थी; किन्तु व्याकुल होकर वे दौड़े नहीं, भागे नहीं और न चौकड़ी ही भरी। वे कभी पुजारी का आलिंगन करते, कभी पैरों पर लोटते और कभी व्याकुल होकर चिल्लाते, रोते और फिर मौन होकर एकटक पुजारी का मुंह निहारने लगते। मानो पुजारी की आकृति का सजीव चित्र वे अपनी आँखों में खींच लेना चाहते हों। मृगों के छोटे-छोटे सुकुमार छौने भी भयभीत-से पुजारी का मुंह निहार रहे थे। पुजारी भी छौनों के सिर पर हाथ फेर-फेरकर उन्हीं की भांति रो रहा था।

(६)

आज चन्द्रमा की ज्योत्स्ना में पुजारी की बाँसुरी तल्लीनता के उत्तुँग शिखर पर नृत्य कर रही थी। वह आज़ादी के मस्ताने तराने अलाप रहा था और मतवाले मृग मदहोश की नाईं झूम रहे थे, मानो आज इसी संगीत-समुद्र का मन्थन कर ये आज़ादी की अमरता खोजकर रहेंगे।

इस तल्लीनता में कितना समय चला गया, सम्पूर्ण रजनी व्यतीत हो गई, किसी ने जाना ही नहीं। जब उषासुन्दरी की सौंदर्य-लालिमा बिखरी तो पुजारी ने बांसुरी रख दी और कहा—'मित्रो, अब विदा। ईश्वर तुम लोगों की स्वाधीनता को अमर करे।'—सारे मृग एक साथ पुजारी को घेर कर लिपट गये; व्यथा से उनका हृदय टुकड़े-टुकड़े होने लगा। उसी समय राजा की सेना

के आने का शब्द सुनाई दिया। पुजारी ने कठिनता से कहा—'बस भाइयो, अब मुझे विदा होने दो। मेरा मोह छोड़ दो, सदैव के लिए विदा दो।'

मृग सतृष्ण नेत्रों से घूम-घूमकर पुजारी को निहारते हुए चले गये।

राजा ने समीप आकर पूछा—'कहो पुजारी, क्या विचार है? मैं मृगों को पकड़ने के लिए साज-सामान सहित आया हूं। मेरी सहायता करोगे न?'

पुजारी ने कहा—'राजन्! मैंने पुनः विचार कर लिया है, मृगों पर मेरा कुछ अधिकार नहीं है। सेवक दण्ड के लिए तैयार है।'

'मृगों पर तुम्हारा कैसा अधिकार है, यह मैं खूब जानता हूं। **जल में रहकर तुम मगर से बैर** करते हो तो परिणाम भी अपनी आँखों देख लो।'

राजा ने अपने सैनिकों को आज्ञा दी—'सारे जंगल के अन्दर प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित कर दो, और जंगल के बाहर चारों ओर जाल डाल दो। जिस प्रकार भी हो, मृगों को पकड़ो।'—थोड़ी देर में सारे जंगल में भयंकर अग्निकाण्ड मच गया। अग्नि की प्रचण्ड लपटें आकाश छूने की चेष्टा करने लगीं। सब पशु-पक्षी व्याकुल होकर करुण चीत्कार कर उठे।

अग्निदेव ने अपना प्रलयकारी रूप धारण किया तो ऐसा जान पड़ने लगा, चारों ओर अग्नि का तूफान आया है। आकाश मानो आग ही की वर्षा कर रहा है, पृथ्वी ज्वालामुखी उत्पन्न कर रही है। पक्षियों के चीत्कारों और शेरों की भयभीत करने वाली दहाड़ों से आकाश गूंज रहा था। पृथ्वी हिल रही थी। बांसों की चट-चट चटखने की ध्वनि बादलों की घनघोर गर्जना को भी व्यर्थ कर रही थी। बड़े-बड़े वृक्ष इस प्रकार धड़ाम शब्द करके गिर रहे थे, जान पड़ता था आकाश से हज़ारों बिजलियाँ एक साथ टूट रही हों, मानो मृगकानन खाण्डववन हो और अग्नि हज़ार सिंहों का मुख लेकर जीवों का भक्षण कर रही हो।

जान नहीं पड़ता था—क्या हो रहा है? प्रलय की आंधी है, भूकम्प की आग है, समुद्र का तूफ़ान है या शङ्कर का ताण्डव नृत्य है?

राजा के पार्श्व में खड़े हुए पुजारी ने बाँसुरी उठा ली और रणभेरी का राग अलाप दिया—'**अधीन होकर बुरा है जीना, है मरना अच्छा स्वतन्त्र होकर !**' उसी समय मृगों का समूह अग्नि की ओर भागता दिखाई दिया। वे दूर से पुजारी की ध्वनि की ओर मुख करके क्षणिक ठहरे, झूमे, फुदके और पुजारी के संगीत पर ताल देते हुए प्रज्ज्वलित अग्निकुण्ड में कूद पड़े, मानो आहुति होता के मन्त्रों पर स्वयं ही उच्चारण करती है, 'स्वाहा !'

(**चरम सीमा पर समाप्ति**)

प्रष्टव्य

१. 'अधीन हो कर बुरा है जीना, है मरना अच्छा स्वतंत्र होकर'—इस उक्ति के प्रकाश में 'पराजय' कहानी का विश्लेषण कीजिए।
२. "पुजारी जो कुछ हमारा नेतृत्व ग्रहण करके कर सकता था, वह आज सुदूर पर बैठा भी कर रहा है।"—इस जनप्रवाद से आप कहां तक सहमत हैं ?
३. 'पराजय' कहानी की संक्षिप्त समीक्षा कीजिए।

श्री रामवृक्ष वेणीपुरी

आचार्य शिवपूजन सहाय के साथ बिहार के साहित्यिक जीवन की दूसरी प्राण-शक्ति श्री रामवृक्ष वेणीपुरी हैं। आपका जन्म बेनीपुर (जिला मुज़फ्फरपुर—बिहार) में जनवरी सन् १९०२ में हुआ। आपके पिता श्री फूलवन्तसिंह एक साधारण किसान थे। वेणीपुरी जी ने अपनी निजी प्रतिभा, योग्यता, त्याग और देश-सेवा के बल पर ही इतनी उन्नति की है। आपकी स्कूली-शिक्षा भी अधूरी रही। मैट्रिक में ही पहुँचे थे, कि १९२० ई० में असहयोग आन्दोलन के कारण शिक्षा का परित्याग कर दिया। स्वयं ही हिन्दी भाषा और साहित्य का अध्ययन करते रहे। आप १५ वर्ष की आयु में ही हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के विशारद होगए। इसी समय से पत्र-पत्रिकाओं में आपकी कविताएँ निकलने लगी थीं। देश के राजनीतिक आन्दोलनों में भी आपने सक्रिय भाग लिया है। आप वर्षों कांग्रेस के नेता रहे। कई बार जेल-यात्रा की हैं। आप बड़े कर्मठ साहित्यकार हैं। लगभग एक दर्जन मासिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्र-पत्रिकाओं के जन्मदान, सम्पादन और संचालन का अद्भुत कार्य आपने किया है। आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। नाटक, उपन्यास, एकांकी, कहानी, जीवनी, संस्मरण, भ्रमण, निबंध, विश्लेषण आदि साहित्य के जिस विषय पर आपने लेखनी उठाई, उसे ही अपनी प्रतिभा से आलोकित कर डाला। अपने अनूठे शब्द-चित्रों और कथात्मक संस्मरणों के लिए तो समूचे हिन्दी-संसार में आप सर्वोच्च पद के अधिकारी हैं। आपकी कुल लगभग ७० रचनाएँ हैं। ये सब 'वेणीपुरी ग्रंथावली' नाम से दस खण्डों में प्रकाशित हो रही हैं। आजकल आप 'नई धारा' (मासिक) और 'जनता' (साप्ताहिक) का सम्पादन कर रहे हैं। आप बड़े ही सहृदय, सज्जन और उदार हैं।

आपके कथात्मक सस्मरण, कथात्मक शब्द-चित्र और कहानियां आपको हिन्दी का श्रेष्ठ कहानीकार सिद्ध करते हैं। आपकी सबसे बड़ी विशेषता है दीन-हीन दलित मानवता के अभावों, भावों और समस्याओं का

यथार्थ और सजीव चित्रण। सीधे-सादे, निश्छल ग्राम-जीवन का चित्रण करने की दृष्टि से प्रेमचन्द के बाद के लेखकों में आपका प्रमुख महत्त्व है। आपकी भाव-संवेदनाएँ बड़ी मार्मिक होती हैं। आपकी सबसे बड़ी विशेषता है—सरल, सजीव भाषा। छोटी-छोटी वाक्यावलि से युक्त आपकी भाषा बहुत मार्मिक होती है। शब्द-चित्रों और संस्मरणों के रूप में भी श्रेष्ठ कहानियों की रचना आपकी विशेषता है। आप बड़े प्रगतिशील साहित्यकार हैं। आपका साहित्यिक कार्य अद्भुत है—

पत्रकारिता—'तरुण भारत', 'किसान मित्र', 'गोलमाल', 'योगी', 'जनता' आदि साप्ताहिक तथा 'बालक', 'युवक', 'नई धारा', 'चुन्नू मुन्नू' आदि मासिक और 'जनता' दैनिक का सम्पादन।

उपन्यास—क़ैदी की पत्नी, पतितों के देश में, इन्सान।

शब्द-चित्र और कहानियाँ—माटी की मूरतें, चिता के फूल, लाल तारा, गेहूँ और गुलाब।

नाटक-एकांकी—अम्बपाली, सीता की माँ, संघमित्रा और सिंघल विजय, नेत्रदान, तथागत, नया समाज, अमर ज्योति।

संस्मरण: निबंध: भाषण—जंजीरें और दीवारें, मुझे याद है !, मेरी डायरी, नई नारी, सुनिये !, मशाल, नये-पुराने, कुछ मैं, कुछ वे।

जीवनियां—कार्ल मार्क्स, जयप्रकाश, रोज़ा लुक्जेम्बर्ग।

राजनीति—रूस की क्रांति, जयप्रकाश की विचार धारा, लाल चीन, कार्ल-मार्क्स।

यात्रा-भ्रमण—पैरों में पंख बांधकर, पेरिस नहीं भूलती, उड़ते चलो, उड़ते चलो, मेरे तीर्थ,।

टीकाएँ—विद्यापति की पदावली, बिहारी-सतसई, इक़बाल, जोश, रवीन्द्र-भारती आदि।

इसके अतिरिक्त विपुल बाल-साहित्य की भी आपने रचना की है।

रूपा की आजी : 'रूपा की आजी' बेणीपुरी जी का एक उच्चकोटि का कथात्मक संस्मरणात्मक शब्द-चित्र है, जो उनकी पुस्तक 'माटी की मूरतें'

में संकलित है। इन स्मृति की रेखाओं में कहानी के तत्त्व पूर्ण रूप से पाये जाते हैं। इसी से हमने पाठकों को शब्द-चित्र और संस्मरण के रूप में लिखी गई कहानियों की शैली से परिचित कराने के लिए, यह रचना दी है। इसमें एक ग्रामीण पात्र—रूपा की आजी (दादी)—की करुणापूर्ण जीवन-गाथा को चित्र-बद्ध किया गया है। किस प्रकार वह लोकापवाद की शिकार हुई, संयोगपूर्ण आकस्मिक 'घटनाओं ने उसके साथ साज़िशें कीं; लोगों ने जल्लाद का काम किया।' हमारे अंध-विश्वासी ग्रामीण जीवन में किस प्रकार नज़र लगने-लगाने की तथा भूत-प्रेत, डाईन-भूतनी, जादू-टोने आदि की अंध-विश्वासपूर्ण धारणाएँ जमी हुई हैं, और किस प्रकार एक विधवा नारी को चुड़ैल और डायन का ख़िताब मिल जाता है, यह लेखक ने बड़ी सजीवता के साथ दिखाया है। रूपा की आजी जब पहले-पहल नव-वधू बन कर आई थी, तो अचानक उसके ससुर जी चल बसे। कुछ समय बाद पति भी परलोक सिधार जाते हैं। कुछ तो उनकी मृत्यु आकस्मिक, असमय होती है, कुछ लोकापवाद उसे रूपा की आजी से सम्बद्ध कर लेता है। "रूपा के दादा जी एक बरात से लौटे, थकेमाँदे; नवोढ़ा पत्नी—रूपा की आजी ने, हँसकर, एक गिलास पानी पीने को दिया। पानी पीते ही सिर धमका, ज्वर आया, उसी से तीन दिनों के अन्दर स्वर्ग सिधारे !' यही नहीं; इस डायन ने रूपा पिता जी—अपने पुत्र को भी नहीं छोड़ा। "कितना सुन्दर, गठीला जवान था वह ! कुश्ती खेलकर आया, इसके हाथ से दूध पीया। खून के दस्त होने लगे ! कुछ ही घंटों में चल बसा। उसके मरने के बाद इस 'रूपा' का जन्म हुआ और रूपा अभी प्रसूतिगृह में ही कें-कें कर रही थी कि उसकी माँ चल बसी। बाप रे, रूपा की आजी कैसी बड़ी डायन है ! डायन पहले अपने ही घर को स्वाहा करती है !" फिर वह एक दुसाध के जवान लड़के को खा गई, एक और बच्चा भी उसकी भेंट चढ़ गया। रूपा की आजी बेचारी आफत की मारी वैसे ही अपनी व्यथाओं को सम्भाल नहीं पाती और उसपर यह लोकापवाद ! उसके चरित्र को लेखक ने बड़ी ही सजीवता के साथ प्रकाशित किया है। इस प्रकार की नारी से कैसे सब भयभीत रहते हैं—बच्चों वाले जो हैं, कहीं

कोप-दृष्टि पड़ गई तो न जाने क्या हो ! उसकी करुणापूर्ण व्यथित, लाल-लाल आँखों में लोगों को उसका डायनपन दीख पड़ता। उसका अतृप्त प्रेम यदि किसी बालक पर दृष्टि जमाता, तो लोग नज़र लगने का भय खाते। उसे सब उपेक्षा की दृष्टि से देखते, अवांछित प्राणी समझते, उसके साये से भागते। जादू-टोने चलते, ओझे बुलाये जाते। आखिर, समाज के अंध-विश्वासपूर्ण अत्याचार ने उसके जीवन को विषमय बना डाला। यही नहीं, जल्लाद की न्याईं उसे मार डाला। लेखक ने रवि बाबू की कल्पना की कहानी को अपने जीवन के संस्मरण से सत्य सिद्ध कर दिया है। इससे कहानी के अन्तर्गत दृष्टांत रूप में कहानी का प्रयोग भी इस कथा की एक विशेषता होगई है। समाज के अंधविश्वास तथा उसके विनाशी परिणाम को लेखक ने बड़ी स्पष्टता के साथ प्रकट किया है, और मानवीय करुणा को जगाया है।

शब्द-चित्र की चित्रण शैली इस रचना की विशेषता है। क्या रूपा की आजी के रेखा-चित्र प्रस्तुत करने में, क्या समाज की, लोगों की मनोवृत्ति के प्रकाशन में और क्या मेले का वातावरण चित्रित करने में सर्वत्र लेखक की चित्रात्मक भाषा-शैली द्रष्टव्य है। शैली इतनी सरल, सजीव और स्वाभाविक है कि बातचीत का-सा मज़ा आता है। छोटे-छोटे वाक्यों, अन्तर्वाक्यों में शब्द बड़ी सरलता से जड़े हुए हैं। कहीं-कहीं उर्दू के शब्द भी रहते हैं। ठेठ ग्रामीण जनपदीय शब्दों—चिउरा, पलथी, आजी, बगाबग कपड़ा, एँड़ियाने लगा आदि—का प्रयोग भी रहता है। इससे ग्रामीण वातावरण सजीव हो जाता है। कहानी यद्यपि घटनाओं पर ही आश्रित है, तो भी उद्देश्य पात्र का रेखा-चित्र प्रस्तुत करना रहा है। विविध घटनाओं के वर्णन के कारण कहानी में उत्सुकता और रोचकता स्वतः ही पाई जाती है। गद्यशैली वर्णन और चित्रण-प्रधान है, संवाद-शैली बहुत कम है। लेखक ने चरम सीमा को बड़ा ही उत्सुकतापूर्ण रूप दिया है। कथा की इस चरम-स्थिति के पश्चात् रवि बाबू की कहानी का दृष्टांत देकर अपना उद्देश्य स्पष्ट किया है। अतः यह बाद का अंश भी रोचक है।

रूपा की आजी

कुछ दिन चढ़े, मैं स्कूल से आकर, आँगन में पलथी मारे चिउरा-दही का कौर-पर-कौर निगल रहा था कि अकस्मात मामी ने मेरी थाली उठा ली, उसे घर में ले आई। पीछे-पीछे मैं अवाक् उनके साथ लगा था ; थाली रख मुझ से बोलीं—"बस, यहीं खा, बाहर मत निकलना, रूपा की आजी आ रही है, नजर लगा देंगी ! समझे न ?"

मैं समझता क्या खाक ? हाँ, रूपा की आजी से कौन नहीं डरता ? कौन बच्चा उनकी बड़ी-बड़ी आँखें देखकर न सिहर उठता ? वह डायन हैं—गाँव भर में यह बात प्रसिद्ध है। यह जिस को चाहें, जादू की फूँक में मार सकती हैं, बच्चों पर उनकी खास नज़रेइनायत रहती है। कितने बच्चों को, हँसते-खेलते शिशुओं को, उनकी ये बड़ी-बड़ी आँखें निगल चुकी हैं !

बड़ी-बड़ी आँखें !

रूपा की आजी की यह है सूरत-शकल—**लम्बी गोरी औरत ; भरा-पूरा बदन। हमेशा साफ, सुफेद बगाबग कपड़ा पहने रहतीं। उस सुफेद कपड़े के घेरे से उनका चेहरा रोब बरसाता। फिर, उनकी बड़ी-बड़ी आँखें जिन पर लाली की एक हलकी छाया ! पूरे बदन का ढाँचा मर्दों के ऐसा, मानों धोखे से औरत हो गई हों**[1]। जिस गांव से यह आई हैं, वहाँ, लोग कहते हैं, औरतों का ही राज है। लोगोंने मना किया उनके ससुर को, वहाँ बेटे की शादी मत कीजिए। किन्तु, वह भी पूरे अखाड़िया थे—ज़िद कर गये, देखें, कैसी होती है वहां की लड़की।

रूपा की आजी ब्याह के आईं। आने के थोड़े ही दिनों बाद ससुरजी चल बसे। कुछ दिनों के बाद रूपा के दादाजी भी। इन दोनों की मौत अजीब हुई। ससुरजी दोपहर में खेत से आये, रूपा की आजी ने थाली परोस कर उनके सामने रखी। दो कौर खा पाये थे कि पेट में खोंचा मारा, दर्द हुआ, खाना छोड़कर उठ गये। शाम होते-होते उसी दर्द से चल बसे।

---

१. रेखा-चित्र

रूपा के दादाजी एक बरात से लौटे, थकेमाँदे; नवोढ़ा पत्नी—रूपा की आजी—ने, हँसकर, एक गिलास पानी पीने को दिया। पानी पीते ही सिर धमका, ज्वर आया, उसी ज्वर से तीन दिनों के अन्दर स्वर्ग सिधारे।

पहली घटना से ही कानाफूसी शुरू हो गई थी; दूसरी घटना ने बिल्कुल सिद्ध कर दिया—रूपा की आजी डायन है, दोनों को जादू के ज़ोर से खा गई है।

रूपा के पिताजी का जन्म उसके तीन-चार महीने बाद हुआ। रूपा की आजी की गोद भरी—आख़िर इस डायन ने अपना ख़ानदान बचा लिया, लोगों ने कहना शुरू किया। बेटे को इस डायन ने बड़े नाज़ से पाला, पोसा, बड़ा किया; उसकी शादी की—धूमधाम से। किन्तु, कैसी है यह चुड़ैल। शादी का बरस लगते-लगते बेटे को भी खा गई—मुँछउठान जवान बेटे को! कितना सुन्दर, गठीला जवान था वह! कुश्ती खेलकर आया, इसके हाथ से दूध पीया। खून के दस्त होने लगे। कुछ ही घंटों में चल बसा। उसके मरने के बाद इस 'रूपा' का जन्म हुआ और रूपा अभी प्रसूतिगृह में ही कें-कें कर रही थी कि उसकी माँ चल बसी! बाप रे, रूपा की आजी कैसी बड़ी डायन हैं! डायन पहले अपने ही घर को स्वाहा करती है।

जवान बेटे की मृत्यु के बाद, रूपा की आजी में अजीब परिवर्त्तन हुआ। आँखें हमेशा लाल रहतीं; छोटी-छोटी बातों से भी आँसू की धारा बह निकलती; होंठों-होंठ कुछ बुदबुदाती रहतीं; दोनों जून स्नान कर भगवती का पिंड लीपतीं, धूप देतीं; बहुत साफ कपड़ा पहनतीं; जिस जवान को देखती, देखती ही रह जातीं; जिस बच्चे पर नज़र डालतीं; मानों आंखों में पी जायँगीं। लोगोंने शोर किया—अब इसका डायनपन बिल्कुल प्रगट हो गया। डरो, भागो—रूपा की आजी से बचो!

रूपा की आजी से बचो—लेकिन, बचोगे कैसे? भर-दिन रूपा को गोद लिए, कंधे चढ़ाये, या उसकी छोटी उँगलियाँ पकड़े यह इस गली से उस गली, इस घर से उस घर आती-जाती ही रहती है! न एक व्रत छोड़ती है,

न एक तीरथ। और, हर व्रत और तीरथ के बाद गांव-भर का चक्कर ! उत्सवों में बिना बुलाये हाज़िर ! उफ़, यह डायन कब मरेगी ? कब गाँव को इससे नजात[1] मिलेगी।

मन-ही-मन यह मनाया जाता, किन्तु ज्योंही रूपा की आजी सामने आईं नहीं कि उनकी ख़ुशामदें होतीं। कहीं वह नराज़ न हो जायँ। अपने ससुर, पति, बेटे और पतोहू को खाते जिसे देर न लगी, वह दूसरे के बाल-बच्चों पर क्यों तरस खायगी ? स्त्रियाँ उन्हें देखते काँप उठतीं, किन्तु, ज्योंही वह उनके सामने आईं कि दादीजी कहकर उनका आदर-सत्कार करना शुरू किया। इस आसन पर बैठिए, जरा हुक्का पी लीजिए, सुपारी खा लीजिए, यह सौगात आई है, जरा चख लीजिए, आदि आदि। रूपा की आजी कुछ सत्कार स्वीकार करतीं, कुछ अस्वीकार । उनकी अस्वीकृति आग्रह नहीं मानती थी। अस्वीकृति ! और, लोगोंमें थरथरी लग गई। फिर, परिवार ही ठहरा ; अगर बरस-छः महीने में किसीको कुछ हुआ, तो रूपा की आजी के सिर पर दोष गिरा ![2]

कितने ओझे बुलाये गये इस डायन को सर करने के लिए । उनके बड़े-बड़े दावे थे—डायन मेरे आगे नंगी नाचने लगेगी ; डायन के कोंचे से आप-ही-आप आग जल उठेगी; डायन खून उगलने लगेगी; डायन पागल होकर आप-ही आप बकने लगेगी। ओझा आये, तांत्रिक आये। टोने हुए, तंतर हुए। तेली के मसान की लकड़ी, बेमौसम के ओड़हुल के फूल, उलटी सरसों का तेल, मेंढ़क की खाल, बाघ के दाँत—क्या-क्या न इकट्ठे किये गये ! ढोल बजे, झांझ बजी, गीत हुए ; देव आये, भूत आये, देवीजी आई ! किन्तु रूपा की आजी न पागल हुईं, न नंगी नाचीं, न उनकी देह पर फफोले उठे। ओझा गये, तांत्रिक गये, कहते हुए—उफ़, यह बड़ी घाघ है। बिना कारूकमच्छा गये, इसका जादू हटाया नहीं जा सकता। कई ओझे इसके लिए रुपये भी ऐंठते गये; किन्तु रूपा की आजी जस-की-तस रहां।

---

१. छुटकारा २. समाज की मनोवृत्ति का यथार्थ चित्रण।

मैं बड़ा हुआ, लिखा-पढ़ा, नयेज्ञान ने भूत-प्रेत पर से विश्वास हटाया, जादू-टोने पर से आस्था हटाई। मैंने कहना शुरू किया—यह गलत बात, रूपा की आजी पर झूठी तुहमत लगाई जाती है ! बेचारी के घर में एक के बाद एक आकस्मिक मृत्युएँ हुईं, उसका दिमाग ठीक नहीं। आंखों की लाली या पानी डायनपन की नहीं, उसकी करुणाजनक स्थिति की निशानी है। बच्चों को देखकर, दुलारकर जवानों को घूर-घूरकर वह अपने जवान बच्चे की याद करती या उसे भूलने की कोशिश करती है। पूजापाठ सब उसीकी प्रतिक्रिया हैं। दुनिया में भूत कोई चीज़ नहीं, जादू-टोना सब ग़लत चीज़ ! लेकिन मेरी बात कौन सुनता है ? एक दिन मामी मेरी इस बकझक से व्याकुल होकर बोली—

हां, तुम्हें क्या, तुम्हारे लिए जरूर जादू-टोना गलत है। भगवान तुम्हें चिरंजीवी करें। किन्तु, उनसे पूछो, जिनकी कोख इस डायन ने सूनी कर दी ; जिनके बच्चों को यह जिन्दा चबा गई ; जिनके हँसते-खेलते घर को इसने मसान बना दिया।

कहते-कहते उनकी आँखें भर आईं ; कुछ गरम-गरम बूँदें आँखों से निकलकर ज़मीन पर ढुलक रहीं। फिर बोलीं—

उस पड़ोसिन की बात है। उसकी बेटी सुसराल से लौटी थी— गोद भरकर ! एक दिन उसका छः वर्ष का नाती आँगन में किलक रहा था। कितना सुन्दर था वह बच्चा ! जैसे विधना ने अपने हाथों सँवारा हो। जो देखता, मोह जाता। कई दिन मेरे घर आया था—जबरदस्ती मेरे कंधे पर चढ़ गया, दही मांगकर खाया। तुतली-तुतली बोली, चिकने-चिकने दुध-मूँहे दाँत। हँसता तो इँजोरिया हो जाती। किलकिलाता, तो हरसिंगार झड़ने लगते। और, वैसे बच्चे को......

हाँ, एकदिन वह बच्चा अपने आंगन में था, कि यह भूतनी पहुँची। यह भूतनी—हाँ, इसी तरह आंसू बहाती, होंठ हिलाती, रूपा का हाथ पकड़े। इसे देखते ही उसकी मां का मुंह सूख गया ; नानी डर गई ; चाहा, बच्चे को छिपा दें। किन्तु वह बच्चा छिपाने लायक भी तो नहीं था ! ऊधमी,

नटखट ! झटपट दौड़ा आया, इस चुड़ैल के कंधे पर चढ़ गया। चढ़कर इसके बालों को नोचने, गरदन को हिलाने और अपने छोटे-छोटे पैरों से इसे एँड़ियाने लगा। बच्चे की इस हरकत से भूतनी हँस पड़ी—पहली बार लोगोंने इसे हंसते देखा। फिर खुद घोड़ा बनी, बच्चे को सवार बनाया और बहुत देर तक घुड़दौड़ करती, बच्चे को हंसाती-खेलाती रही। बार-बार उसे छाती से लगाती, कहती, ऐसा बच्चा दूसरा न देखा। आह मेरा...... किन्तु, बात बीच ही में काटकर फूट-फूटकर रो पड़ी। उसे रोते देख, बच्चे ने ही गुदगुदी लगाकर, रिझाकर, भुलाकर उसे चुप कराया। चुड़ैल घर चली, आशीर्वाद देती हुई—जुग-जुग जीए यह बच्चा, तुम्हारी गोद हमेशा भरी रहे बेटी; भरी रहे, इसी तरह सोने की मुरत उगलती रहे। उसकी माँ भौंचक, नानी के जैसे जी में जी आया।

किन्तु, जानते हो, इसके बाद क्या हुआ ? मामी कहे जा रही थीं। कुछ ही दिनों के बाद लड़के को सूखा रोग लग गया। कहां गया उसका वह रूप, वह रंग, वह चुहल, वह हँसी ! सूखकर काँटा हो गया, दिनरात चेंचें किये रहता। जो उसे देखते, आँसू बहाते और एक दिन आंसुओं की बाढ़ लाकर वह...उफ़ !

उस दिन उसकी माँ को तुम देखते। पागल हो गई थी बेचारी ! बच्चे की लाश को पकड़े थी, छोड़ती नहीं थी। किसकी हिम्मत जो उससे बच्चा मांगे ? आंसू सूखकर ज्वाला बन गये थे—उसकी आंखों से चिनगारी निकल रही थी ! बच्चे को छाती से चिपकाये थी, जैसे वह दूध-पीता बच्चा हो। अंट-संट बोलती, बच्चे के मुँह में छाती देने की कोशिश करती ! उसे चुप देख, कभी-कभी चिल्ला उठती—जब चिल्लाती, मालूम होता, उसका कलेजा फट रहा है, सुननेवालों के भी कलेजे फटते......

मैं देख रहा था, मामी का कलेजा आज भी फटा जा रहा है। किस्से का अंत शब्द से नहीं, आंसुओं के ज्वार से हुआ।

और, मामी के बच्चे को भी तो इसीने खाया—वह बोलती नहीं हैं, किन्तु उनके करुण चेहरे की एकाएक भावभंगी—आँसू की एक-एक बूँद—यह कह रही है। कम्बख्त को बच्चे खाकर भी संतोष न हुआ, मामी की

कोख में जैसे इसने राख भर दी। तबसे एक भी बेटा न हुआ; बहुत जंत्र-मंत्र के बाद हुई तो दो बेटियां !

मामी की क्या बात ; एक दिन मामाजी भी मेरे उपर्युक्त तर्कों पर नाराज़ हुए और अपनी आँखों-देखी घटना सुनाई—

वह ऊँची जगह देखते हो न ? वहाँ एक दुसाध आ बसा था। बूढ़ा था, दो नौजवान लड़के थे उसके; घर में बीवी, पतोहुएं। दोनों ही बेटे बड़े ही कमाऊ-पूत। गठीले जवान। बूढ़ा भी काफी हुनरमंद। थोड़े ही दिनों में गांव में उनकी पूछ हो गई। बाहु का बल था। कमाते, खाते। नेक स्वभाव के—न किसी से झगड़ा, न झमेला। सबको खुश रखने की कोशिश करते; सबके काम आते।[1]

एक दिन वह बुढ़िया,—तुम्हारी रूपा की आजी,—पहुँची और बोली, जरा मेरा काम कर दो। बूढ़े ने देखते ही सलाम किया, बैठने को कुश की चटाई रख दी। बुढ़िया नहीं बैठी—दुसाध से हड्डी छुला जाती है ; फिर, मैं बाभनी। बूढ़ा न बोला, सिर्फ अर्ज किया—आज तो दूसरे बाबू को बचन दे चुका हूँ, कल आपका काम हो जायगा। बुढ़िया ने ज़िद की—नहीं, आज ही मेरा काम होना चाहिए। बीच ही में बड़ा लड़का बोल उठा—दुसाध से हड्डी छुलाती है, तो क्या घर नहीं छुलायगा ? बुढ़िया तमक उठी !—तुम मेरा अपमान करते हो ? इसलिए न कि मैं निपूती हूं, मुझसे तुम्हें क्या डर, मेरा लड़का होता......। बुढ़िया पहले गरजी, अब बरस रही थी ! बूढ़ा दुसाध भौंचक। हाथ जोड़कर आरजू-मिन्नत करता रहा—अभी चलता हूँ, हम अभी चलते हैं, बाबू का काम कल होगा, आज आप ही का। किन्तु, बुढ़िया वहाँ जरा भी क्यों ठहरती ? घर लौटी।

इसी रास्ते वह जा रही थी, मामा जी ने कहा, मैंने देखा, उसके होंठ जल्द-जल्द हिल रहे थे, आँखें लाल थी, आंचल से आँसू पोछती जाती। पीछे-पीछे बूढ़ा दौड़ा जा रहा था। बूढ़े को रोककर मैं ने दरियाफ्त किया, उसने सारी बातें सुनाईं। वह कांप रहा था—बाबू, बाल-बच्चेवाला हूँ, न जाने क्या हो जाय ?

---

१. छोटे-छोटे वाक्यों की सरल, सजीव संक्षिप्त शब्द-चित्रमय-शैली ; बिल्कुल बात-चीत का-सा आनन्द आता है।

और, विश्वास करोगे, तुम्हारी रँगरेजी विद्या इसका क्या माने बतायगी, कि उसी रात में बूढ़े के बड़े बेटे को सांप ने काट लिया।

भोर में देखा, हाय, वह पट्ठा बेहोश पड़ा है। समूचा शरीर पीला पड़ गया है, मुँह से झाग निकल रहा है। गाँव-गाँव से साँप का विष उतारनेवाले पहुँचे हैं। कोई जोर-जोर से मंत्र पढ़ रहा है, कोई उसको फटकार रहा है, कोई जड़ी पीसकर पिलाने की कोशिश में है, कोई उसकी नाक में कुछ सुँघा रहा है। जब-तक वह आंखें खोलता है, रह-रहकर हाथ-पैर फटकारता है, फिर निस्तब्ध हो रहता है। निस्तब्धता निस्पंदता में और निस्पंदता निर्जीवता में बदलती जाती है। बूढ़ा बाप छाती पीट रहा है, छोटा भाई दाढ़ मारकर रो रहा है। माँ और स्त्री की गत का क्या कहना! विष उतारने वाले कहते हैं, हम क्या करें! साँप का विष उतरता है न? यह तो आदमी का विष है! सीधा जादू, ठीक आधी रात को लगाया गया है, उतर जाय, तो भाग। बूढ़े का वैसा भाग्य नहीं था। धीरे-धीरे हमलोगों के देखते-देखते, उसके जवान बेटे की अर्थी उठ कर रही! दूसरे ही दिन उसका सारा परिवार गांव छोड़कर चला गया!

अरे, यह बुढ़िया नहीं, काल है! आदमी नहीं, सांपिन है। चलती-फिरती चुड़ैल! बाभनी है, नहीं तो, इसे ज़िन्दा गाड़ देने में कोई पाप नहीं लगता!

मामा की आंखें अब अँगारे उगल रही थीं। मैं चुप था! भावना पर दलील का क्या असर हो सकता है भला?

× × ×

शिवरात्रि का यह मेला। लोगों की अपार भीड़। बच्चे, जवान, बूढ़े, लड़कियां, युवतियाँ, बूढ़ियाँ। शिवजी पर पानी, अक्षत, बेलपत्र, फूल, फल। फिर, एक ही दिन के लिए लगे इस मेले में घूम फिर; खरीद फरोख्त। धक्के-पर-धक्के। चलने की ज़रूरत नहीं. अपने को भीड़ में डाल दीजिए. आप-ही-आप किसी छोर पर लग जाइयेगा। बच्चों और स्त्रियों की अधिकता! उन्हींके लायक ज्यादा सौदे। खँजड़ी, पिपही, झुनझुने, मिट्टी की मूरतें, रबर के खिलौने, कपड़े के गुड्डे; रंगीन मिठाइयाँ, बिस्कुट, लेमनचूस। टिकुली, सेंदुर, चूड़ियाँ; रेशम

के लच्छे, नकली गोट, चकमक के पत्ते; आईना, कंघी, साबुन; सस्ते एसेंस और रंगीन पाउडर। भावभाव की छूट, हल्ला-गुल्ला। गहनों के झमझम में चूड़ियों की झनझन। साड़ियों के सरसर में हँसी की खिलखिल। [१]

कहीं नाच हो रहा; कहीं बहुरुपिये स्वांग दिखा रहे; घिरनी और चरखी पर बच्चे झूले का मजा लूट रहे।

अकस्मात् एक ओर से शोर। "पगली-पगली-पगली।" "छोड़ो-छोड़ो-छोड़ो।" "डायन, डायन, डायन।" "मारो, मारो-मारो।"

एक औरत भागी जा रही है, अधनंगी, अधमरी। लोग उसका पीछा कर रहे हैं। बात क्या है?

मेले में आई एक युवती अपने बच्चे को एक सखी के सुपुर्द कर सौदा करने गई थी। सखी ज़रा चंचल स्वभाव की थी। बच्चे चंचल होते ही हैं। सखी 'लाल छड़ी' की रंगीन मिठाई बेचनेवाले की बोली पर भूल गई—मेरी लाल छड़ी अलबत्ता; मैं तो बेचूंगा कलकत्ता! इधर बच्चा उसकी अंगुली छुड़ाकर, धीरे से वहां से निकलकर झुनझुनेवाले के पास पहुँच गया। जब सखी का ध्यान लाल छड़ी से टूटा, तो वह व्याकुल होकर बच्चे को खोजने निकली। देखती क्या है, एक बुढ़िया उस बच्चे को गोद में लिये झुनझुने दे रही और मिठाइयां खिला रही है! कैसी उसकी सूरत—फटाचिटा कपड़ा, धूल से भरा शरीर, बिखरे बाल, लाल-लाल आंखें, बड़ी-बड़ी टाँग, बड़ी-बड़ी बांह! उसे देखते ही, वह चीख पड़ी—डायन! बुढ़िया चौंकी, गुर्राई–एं, क्या बोलती है? किन्तु वह तो चिल्लाए जा रही थी–डायन, डायन, डायन! हल्ला देख बच्चा चीखने लगा। बुढ़िया ने बच्चे को कंधे पर लिया! वह बुढ़िया के नज़दीक पहुंचकर बच्चे को उससे छीनने की कोशिश करने लगी। एक हल्ला, एक शोर, एक ग़ोगा। अब बच्चा सखी की गोद में, और बुढ़िया को लोग पीट रहे हैं। बच्चा बार-बार उसकी ओर देखकर 'बुदिया'—'बुदिया' कह उठता है, मानो उसकी मार पर तरस खाता हो, उसकी गोद को ललक रहा हो। किन्तु कौन उसपर ध्यान देता है?

---

१. मेले का चित्रण—भाषा की चित्र-शक्ति।

बुढ़िया भागी जा रही है; स्त्रियाँ, बच्चे, मर्द उसके पीछे लगे हैं। थोड़ी-थोड़ी देर पर वह रुकती है, दाँत दिखाती है, हाथ जोड़ती है: कभी-कभी गुस्सा होकर ढेले उठाती है। वह सिर्फ ढेले उठाती है, लोग उसपर ढेले फेंकते हैं। इसी भगाभगी में वह एक ऐसी जगह पहुँचती है, जहां पहले एक कुँआ था। अब उसकी गच खराब हो गई थी, वह भथ रहा था। भागने में व्याकुल, उसका ध्यान उस ओर न रहा; धड़ाम से उस कुँए में जा रही !

भीड़ रुकती है ! कोई कहता है—मरने दो। कोई कहता है—निकालो। जब तक निर्दयता पर करुणा की विजय हो, तब तक वह जल-समाधि ले चुकती है !

यह उसकी लाश है ! किसकी लाश ? बुढ़िया की लाश—रूपा की आजी की लाश !

रूपा की आजी की लाश ? वह यहां कहां ?

(उत्सुकतापूर्ण चरम सीमा)

रूपा की शादी बड़ी धूम से की उसने। सारी जायदाद बेचकर। जिस भोर में रूपा की पालकी ससुराल चली, उसी शाम को वह घर छोड़कर चल दी। कहां ? कौन जाने ? इतने दिनों तक वह कहां-कहां की धल छानती, आज पहुँची थी इस मेले में ! क्यों ? क्या रूपा को देखने ? उसके बच्चे को देखने ! क्या वह रूपा का बच्चा था ? उसने परिचय क्यों न दिया ?

छोड़िए उस चर्चा को।

बहुत दिन हुए, रविबाबू की एक कहानी पढ़ी थी। एक भद्र परिवार की महिला हैज़े से मर गई। लोग जलाने को श्मशान ले गये। चिता सजाई जा रही थी कि वर्षा होने लगी। चिता छोड़कर लोग बगल की अमराई की मँड़ैया में छिप रहे। काली रात थी। जब वर्षा खतम हुई, उन्होंने पाया, चिता से मुर्दा गायब ! क्या सियार खा गये ? खोज-ढूँढ फिजूल गई। किन्तु, किस तरह बाबूसाहब से कहा जायगा कि उनकी असावधानी से मुर्दा गायब हुआ ? झूठमूठ चिता में आग लगाकर चले आये। इधर बेचारी महिला पानी की बूंद से जीवन पा चिता से उठी। दिनभर खेतों में छिपी रही; भद्रकुल की

महिला थी। रात में जब घर पहुँची, दरवाजा खटखटाया। उसकी बोली सुन, लोग दौड़े—अरे, भूत, भूत ! —नैहर पहुँची, वहाँ भी भूत-भूत; बहन के घर पहुँची, वहाँ भी भूत-भूत। जहां जाय, वहीं भूत, भूत, भूत ! आखिर उसने अपने को गंगा की गोद में सिपुर्द कर दिया।

क्या 'रूपा की आजी' भी कुछ इसी तरह लोकापवाद की शिकार नहीं हुई ? घटनाओं ने उसके साथ साज़िशें कीं ; लोगों ने जल्लाद का काम किया !

प्रष्टव्य

१. "घटनाओं ने उसके साथ साज़िशें कीं; लोगों ने जल्लाद का काम किया !"– रूपा की आजी के करुणापूर्ण जीवन पर इस उक्ति के आधार पर प्रकाश डालिए।

२. 'रूपा की आजी' कहानी में समाज की किस मनोवृत्ति पर प्रकाश डाला गया है ? लेखक का उद्देश्य स्पष्ट कीजिए।

३. 'रूपा की आजी' के कथा-शिल्प की विवेचना कीजिए।

श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

जैसाकि आरंभ में कहा जा चुका है, फ्रायड और उनके समवर्ती एडलर युंग, वाटसन आदि ने मनोविश्लेषण की महत्ता स्थापित की थी, उसके प्रभाव से पश्चिम के जेम्स जवायस, डी० एच० लारेन्स, वर्जिनिया वुल्फ़, कॉनार्ड और सामरसेट मॉम आदि कथाकारों ने अन्तर्मन का विश्लेषण करके मानव के भीतरी चक्रों की यथार्थता को प्रकट किया। उपन्यासों और कहानियों में मनोविश्लेषण की प्रधानता हो गई। हिन्दी-लेखकों ने भी कथा-साहित्य में मनोविश्लेषण को अपनाया। हिन्दी में यद्यपि पात्रों के चरित्र-चित्रण में स्वाभाविक मनोविश्लेषण और अन्तर्द्वन्द्व का प्रचलन प्रेमचन्द-युग में ही हो चुका था—पीछे प्रसाद-प्रेमचन्द आदि की कहानियों में यह दिखाया जा चुका है, किन्तु गूढ़ मनोवैश्लेषिक उपन्यासों और कहानियों का सूत्र-पात अज्ञेय, इलाचन्द्रजोशी और जैनेन्द्र की वृहद् त्रयी द्वारा ही हुआ। इनमें भी कहानी साहित्य की दृष्टि से अज्ञेय की कला सर्वश्रेष्ठ है। हिन्दी कहानी के शिल्प-विधान को एक नई मनोवैज्ञानिक दीप्ति प्रदान करने में अज्ञेय का सर्वाधिक महत्व है।

श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' के पिता प्रसिद्ध पुरातत्व-वेत्ता डा० हीरानन्द शास्त्री एम० ए० पी-एच. डी. थे। आप मूलतः करतारपुर (पंजाब) के निवासी हैं। अज्ञेय के पिता केन्द्रीय पुरातत्व विभाग के तत्वावधान में गोरखपुर जिला के कसिया गांव में कार्य कर रहे थे, वहीं सन् १९११ में अज्ञेय जी का जन्म हुआ। आपकी प्रारंभिक शिक्षा कई स्थानों पर हुई। सन् १९२९ में आपने लाहौर से बी० एस-सी० पास की। आप एम० ए० में पढ़ रहे थे कि सन् १९३० में क्रांतिकारी आन्दोलन के सिलसिले में आपको गिरफ्तार कर लिया गया। उग्र क्राँतिकारी दल से सम्बन्ध होने के कारण, आपको कई बार जेल-यात्रा करनी पड़ी। यही कारण है कि जेल-जीवन पर कई विद्रोहात्मक कहानियां आपने लिखी हैं। आप बड़े अध्ययनशील व्यक्ति

हैं। चित्रकला, मूर्तिकला तथा साहित्य-कला में आपकी रुचि आरंभ से ही रही है। १४ साल की अवस्था में ही आपने कहानी लिखी जो इलाहाबाद की स्काउट-पत्रिका 'सेवा' में प्रकाशित हुई थी। सन् १९३२ से आप निरन्तर साहित्य-सेवा में लगे हुए हैं। 'प्रतीक' पत्रिका, तथा 'तार सप्तक' दो भाग (हिन्दी कविता-संग्रह) के सम्पादन का महत्वपूर्ण कार्य भी आपने किया है। आपकी सौ से कुछ अधिक कहानियां प्रकाशित हो चुकी हैं। आप न केवल एक उच्च कोटि के कहानीकार हैं, अपितु अपनी अमर रचना 'शेखर एक जीवनी' के द्वारा आपने हिन्दी उपन्यास-साहित्य में भी शिल्प-टैकनीक तथा भाव-विचार-धारा की दृष्टि से मौलिक प्रयोग किए हैं। 'नदी के द्वीप' भी आपकी श्रेष्ठ औपन्यासिक कृति है। मनोवैज्ञानिक-मनोवैश्लेषिक धारा के आप प्रमुख लेखक हैं। कवि के रूप में भी आपने अच्छी प्रतिभा का परिचय दिया है। प्रगतिशीलता और प्रयोगशीलता आपके साहित्य की विशेषता है। 'नए एकांकी' नाम से आपका एक एकांकी संग्रह भी निकला है। 'एक टायर की कहानी' में आपके यात्रा-विवरण हैं। भग्नदूत, चिंता, हरीघास पर क्षण भर आदि आपके कविता-संग्रह हैं। आपके अब तक ६-७ कथा-संग्रह निकल चुके हैं, नाम हैं—विपथगा, परम्परा, शरणार्थी, कोठरी की बात, जयदोल, अमर वल्लरी तथा अन्य कहानियां, कलियां तथा अन्य कहानियां आदि।

कहानीकार अज्ञेय और 'नम्बर दस' : कहानीकार के रूप में अज्ञेय जी ने अद्भुत प्रतिभा दिखाई है। प्रेमचन्दोत्तर युग में कहानीकार अज्ञेय का महत्व सर्वाधिक है। इनमें रचना-कौशल की प्रतिभा तथा नए-नए प्रयोगों का इतना सफल आग्रह है कि इनकी शिल्प-विधि पर आश्चर्य होता है। अपने 'शरणार्थी' संग्रह की भूमिका में अज्ञेय ने लिखा है, 'मेरा आग्रह रहा है कि लेखक अपनी अनुभूति ही लिखे।' अतः मूल-अनुभूति या संवेदना पर ही लक्ष्य रहने के कारण, अज्ञेय ने उसे ही इतना घनीभूत रूप में चरम सीमा पर टिकाया है कि उनकी प्रायः सभी कहानियां प्रभाव-प्रधान हो गई हैं। आपकी कहानियों की प्रभाव-पूर्ण थीमों का मूलाधार है व्यक्ति-चरित्र। आपने अपने

विद्रोही, कर्मठ, मानवतावादी-वैयक्तिक पात्रों के आत्मचिंतन और मनो-विश्लेषण के द्वारा सामाजिक, वैयक्तिक, राजनीतिक जीवन की मार्मिक आलोचना प्रस्तुत की है। अज्ञेय की कहानियों में घटनाएं या कथानक नहीं होते। वे तो किसी एक अन्तर-संवेदना को पकड़कर पात्रों के भूत, वर्तमान और भविष्य की समस्त अन्तर-अनुभूतियों और उपकथाओं को स्मृति और कल्पना के सहारे जोड़कर कथा का कलात्मक तादात्म्य उपस्थित कर देते हैं। "कथा-विधान की इतनी पटुता, इतना हस्तलाघव हिन्दी के अन्य किसी कहानीकार में नहीं है।"

अज्ञेय की कहानियों में मनोवैज्ञानिक चरित्र-विश्लेषण की भारी विशेषता है। प्रायः सभी चरित्र अहंवादी, व्यक्तिवादी अन्तर्मुखी चरित्र हैं। किन्तु उनका अहं संकुचित आत्मकेन्द्रित नहीं है। उदाहृत कथा 'नम्बर दस' का रतन ऐसा ही पात्र है। विद्रोह, कर्मठता, उदार अहमन्यता, मानवतावाद, अन्तर्मुखी प्रवृत्ति आदि उसके चरित्र की विशेषताएं हैं। पात्रों का चरित्र-प्रकाशन वैश्लेषिक पद्धति पर हुआ है। अज्ञेय के विद्रोही पात्र सामाजिक, राजनीतिक तथा व्यक्तिगत समस्याओं और प्रश्नों को लेकर आते हैं। प्रेमचन्द-युग में समाज की भिन्न-भिन्न समस्याओं को दर्शाया गया था। किन्तु उस युग में प्राय: व्यक्ति को समाज-सापेक्ष ही स्वीकार किया गया था। व्यक्ति का समाज के साथ खुल्लमखुल्ला संघर्ष और विद्रोह तब अच्छी तरह प्रकट नहीं हुआ। संक्रांति काल अर्थात् प्रेमचन्दोत्तर काल में ही व्यक्ति को समाज के पंजे से मुक्त कराने की भावना का विकास हुआ। अज्ञेय, जैनेन्द्र, जोशी आदि में ही सामाजिक चेतना उत्तरोत्तर व्यक्ति-स्वातंत्र्य की परिचायक हुई। पाप-पुण्य के सम्बन्ध में नई धारणा प्रकट हुई। जीवन के नये नैतिक मूल्यों की स्थापना, समाज की अपेक्षा व्यक्ति की ही परिस्थितियों के आधार पर करने का प्रयास हुआ। क्या रतन चोर है? क्या उसने पाप किया है? क्या हमारे समाज की पूंजीवादी व्यवस्था ही उसे चोर बनाने में उत्तरदायी नहीं है? ये प्रश्न स्वभावत: ही अज्ञेय जी की कहानी को पढ़ कर मस्तिष्क में

घूमने लगते हैं। 'शत्रु' का ज्ञान, 'नम्बरदस' का रतन, 'द्रोही' का 'मैं' और कमला आदि पात्र इस प्रकार के व्यक्तिगत विद्रोहात्मक प्रश्न लेकर आए हैं।

व्यक्तिगत चरित्र-चित्रण की विशेषता के कारण अज्ञेय की कहानियां मनोवैश्लेषिक-चरित्र-प्रधान कहानियाँ कही जा सकती हैं। उन्होंने चरित्र-विश्लेषण कई तरह से किया है। मनोविश्लेषण, आत्म-चिंतन व विश्लेषण, अन्तर्द्वन्द्व तथा संकेतों और सूक्ष्म हाव-भावो के द्वारा अज्ञेय जी ने पात्रों के गूढ़ चारित्रिक रहस्यों तथा मनः स्थितियों का प्रकाशन किया है। इन्होंने प्रायः सभी शैलियों में कहानियां लिखी हैं। अज्ञेय की ऐतिहासिक शैली भी विश्लेषण-प्रधान है, वर्णन-प्रधान नहीं। आत्मकथा-शैली का उन्होंने अधिक प्रयोग किया है। नाटकीय-शैली का सुन्दर प्रयोग 'वसंत' कहानी में हुआ है। पत्रात्मक शैली में 'सिगनेलर' लिखी गई है। प्रतीकात्मकता भी अज्ञेय की कहानी कला का एक बड़ा गुण है। 'चिड़िया-घर', 'कोठरी की बात', 'सांप' आदि कहानियां प्रतीकात्मक शैली में लिखी गई हैं। अज्ञेय जी की सर्वश्रेष्ठ कहानियां—छाया, द्रोही और नम्बरदस—मिश्रित शैली में लिखी गई हैं। इनमें उच्च कोटि का चरित्र-विश्लेषण, एक ही भाव-संवेदना का केन्द्र-बिन्दु, मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व, उच्च कोटि की प्रगतिशीलता तथा शिल्पविधि में आश्चर्यजनक कला-लाघव पाया जाता है। अन्य पुरुष में होते हुए भी 'नम्बरदस' कथा आत्म-प्रधान है। विश्लेषण-प्रधान होने के कारण इसमें संवाद कम हैं, पर जो हैं, सफल हैं। अज्ञेय के छोटे, संक्षिप्त, सुगठित और व्यंजनात्मक संवाद थोड़े होते हुए भी उनकी कहानियों को सजीव बना देते हैं। चेतना-प्रवाह भी अज्ञेय की मनोवैश्लेषिक शैली की विशेषता है। 'नम्बर दस' में रतन का चेतना-प्रवाह और अन्तर्द्वन्द्व द्रष्टव्य है। अज्ञेय की भाषा में अद्भुत संयम, गंभीरता और सौष्ठव रहता है। अमूर्त्त मनोभावों और मनःस्थितियों के प्रकाशन में उनकी भाषा बहुत सफल है।

'परम्परा' संग्रह की प्रस्तुत कहानी में अज्ञेय जी ने रतन के मानसिक संघर्ष को बड़ी सफलता के साथ प्रकट किया है। लेखक ने दुःखी, दलित, अभाव-ग्रस्त वर्ग

के प्रति मानवीय करुणा जगाने और निम्न वर्ग की उच्च मानवता को दर्शाने का सफल प्रयास किया है। रतन चोर क्यों बनता है, क्यों उसके मन में विद्रोह की भावना उठती है, क्यों वह चोरी करते हुए भी अपने को चोर नहीं समझता, समाज में विषमता क्यों है, ये सब समस्याएँ कहानी में स्पष्ट हुई हैं। अपने उद्देश्य और शिल्प में लेखक को अपूर्व सफलता मिली है।

नम्बर दस

सवेरे रतन के मन में बहुत मिठास रही हो, ऐसी बात तो नहीं थी, लेकिन अब शाम को वह कड़वाहट से भर गया था। सवेरे और नहीं तो एक खुलापन तो था, मिठास के प्रति एक अनुमति-भाव, कि ले तू आती है तो आजा, मैं मना नहीं करता; लेकिन शाम को उसने इस के प्रति अपने आपको एकदम बन्द कर लिया था। और बन्द करने से ही मालिन्य और भी बढ़ता ही जा रहा था। **जैसे आग खुली हो तो जल लेती है, लेकिन बन्द कर दी जाय तो खूब धुआँ देने लगती है।**[1]

रतन का दिन बहुत लम्बा बीता था। सवेरे जिस समय से वह जेल से निकला, उस समय से वह दर-दर, गली-गली, चौक-मुहल्ले फिर आया था; कहीं उसका रुकने को मन नहीं हुआ थ।—कहीं उसने ऐसी जगह ही नहीं पाई थी जहाँ वह रुक सके। चलते-चलते वह थक गया था, **लेकिन उन काग़ज़ के खिलौनों की तरह, जो भीतर जलते दिये के धुएँ से घूमते जाते हैं, वह भी अनथक घूमता जा रहा था।**[2] **उसके भीतर एक अभूतपूर्व संघर्ष हो रहा था** जैसा कि जेल में कभी नहीं हुआ था—एक ओर उसके मन में आवाज़ उठ रही थी, 'मैं जेल में नहीं हूँ, जेल में नहीं हूँ' और दूसरी ओर एक प्रतिध्वनि-सी, जो असली ध्वनि से भी तीखी ही थी, पुकार उठती थी, 'तुम सज़ायाफ़्ता चोर।' और इस दुहरी मार से पिटता हुआ वह रुक नहीं सकता था; और भटकता जा रहा था, भटकता जा रहा था।······

---

१. **सुन्दर उपमान-योजना।**

२. **उपमा**

सूर्यास्त के समय के करीब वह जमुना के किनारे एक घाट पर पहुँच गया। अपने आगे उस चमकते हुए पानी का विस्तार देखकर मन में, दिन भर में पहली बार, कुछ ऐसा बोध हुआ कि वह दुनिया में आ ही नहीं गया है, उससे उसका कुछ नाता भी है...

वह क्षणभर के लिए रुक गया। तब जैसे आसपास की दुनिया धीरे-धीरे उसके भीतर प्रवेश करने लगी, और उसके भीतर का धुआँ कुछ-कुछ फूट कर निकलने लगा। वह घाट की सीढ़ी पर बैठ गया।

फरवरी के दिन थे। शीत की कठोरता का जमाना बीत चुका था और विकल्प का आगया था, जिसमें कभी वह कठोर होने की इच्छा से भर कर धुँधला हो जाता था, कभी मृदुता के आवेश में हल्की सी पीली धूप से निखर सा आता था। **रतन के देखते-देखते नदी के ऊपर एक धुन्ध छाने लगी और धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगी। बादल में सूर्य ने उदास होकर मुँह छिपा लिया। बादल में अरुणाई नहीं आई, एक श्वेत परदा-सा आकाश पर तन गया, और उसके ऊपर जमुना-किनारे की एक मिल की चिमनी से उठता हुआ धुआँ कुछ लिखत लिखने लगा।**[1]

देखते हुए रतन को वह लिखत अच्छी नहीं लगी। उसे लगा कि जिस तरह यह उस परदे की स्वच्छता को बिगाड़ रही है, **उसी तरह पृथ्वी को भी मानव की लिखत ने बिगाड़ रखा है।** नहीं तो—जेल क्यों होते?

फिर एक कड़वाहट की बाढ़-सी आई और रतन उसमें डूबने-उतराने लगा। उसे याद आया कि जेल से बाहर आते समय जब उससे पूछा गया था कि उसका घर कहाँ है, ताकि उसे लौटने के लिये पैसे दिये जायँ, तब उसने पैसे लेने से इन्कार कर दिया था। उसे लगा था कि जिसने उसे सज़ा दी थी, उसी संगठन से पैसे लेकर वह घर जायगा, तो घर जिसके पास जा रहा है उसे मुँह दिखाने लायक नहीं रहेगा। उस संगठन के प्रति उसके मन में जलन थी। **चोरी उसने अवश्य की थी, लेकिन अभी तक अपने को**

---

१. **प्रकृति-चित्रण**

अपराधी वह नहीं मान पाया था। चोरी करते समय उसके मन से कभी भी यह बात ओझल नहीं हुई थी कि वह चोरी कर रहा है। पर यह जानते हुए भी कि चोरी अनुचित है, वह यह भी देख रहा था कि रुपया लेना अनुचित नहीं है, और जरूरी भी है, और उसे नहीं मिल रहा है; यद्यपि वह उसके बदले में अपना पसीना देने को तैयार है। बल्कि, उस दिन तो वह अपना खून देने के लिए भी तैयार था···

तब—आज जब उसे रुपये मिल रहे थे तब उसने क्यों नहीं लिये ? क्यों नहीं लिये ? आज क्या उसे कुछ कम ज़रूरत है ? और आज क्या उनका मिलना कुछ अधिक आसान है जब कि वह 'सज़ायाफ़्ता चोर' की उपाधि पा चुका है ?

उस बात को छः महीने हो गये। छः महीने पहले उसकी बहन यशोदा बहुत बीमार थी। थी—क्योंकि अब पता नहीं वह कैसी है—है भी या नहीं। उसे बचाने के लिये बेकार रतन ने भरसक कोशिश की थी, और अन्त में अपनी जमा हुई पूँजी खत्म पाकर हर तरह के काम के लिए हर तरह के यत्न किये थे···जब उसे कोई काम नहीं मिला—दवा की कीमत पाने का कोई साधन नहीं मिला—तब उसने अपनी बुद्धि के आसरे कुछ पा लेने का कोशिश की, तो क्या बुरा किया ? उसने अपनी बहन की रक्षा के लिए रुपये चुराये। किसी की हत्या उसने नहीं की, केवल कुछ रुपये ले लिये, सो भी ऐसे आदमी के, जिसके लिए उतने रुपये खो देना कोई बड़ी बात नहीं थी। तब ?

हो सकता है कि उसका यह मोह ही गलत रहा हो। वह कौन होता है बहन की रक्षा के लिए अपने को जिम्मेवार समझने वाला ? खुदा ने जिनको बनाया है, उनको जिलायेगा भी। नहीं भी जिलायेगा, तो उनका स्थान लेने के लिए और बना देगा। रतन खुदा का काम हथियाने वाला कौन, और हथियाकर वह कितनों को दवा-दारू पहुँचा सकेगा ? बहुत से लोग बिना दवा के मरेंगे, बहुत से बिना रोटी के मरेंगे, बहुत से बिना कपड़ों के

मरेंगे, बहुत से बिना किसी वजह के यों ही मर जायेंगे। क्यों रतन यह दम्भ करे कि उसकी ही बहन बचने की ज्यादा अधिकारिणी है ?

क्यों नहीं करे वह दम्भ ? उसकी बहन है। दूसरों के भी जो भाई हैं, वे उनके लिए दम्भ करें।

लेकिन जिनका कोई नहीं है···

सरकार ? लेकिन सरकार ने किसी के रुपये की रक्षा का दम्भ तो किया ही है। तब तो सरकार ठीक है, और वह—वह भी ठीक···?

लेकिन—मैं ठीक हूँ तो सरकार भी ठीक है। मैं नहीं हूँ तो सरकार भी नहीं। यानी मैं चोर नहीं हूँ, तो चोर हूँ; और चोर हूँ तो, नहीं हूँ। पागल हूँ मैं। जेल ने दिमाग़ ख़राब कर दिया है।

लेकिन पागल कहने से छुट्टी मिल जाती है ? मैंने सवेरे वे रुपये क्यों नहीं लिये ? जिस ममता की बात सोच रहा हूँ, उसकी रक्षा क्या उसी तरह नहीं होती ? यशोदा शायद जीती है—शायद बाट देख रही है। उसने दिन गिने होंगे, और आज शायद···और उस बेवकूफ़ ने झूठे अहङ्कार में रुपये नहीं लिये, और···[1]

अँधेरा हो चला था। घाट पर जो एक-आध आदमी आता-जाता भी था, वह भी अब बन्द हो गया था। घाट बिल्कुल सूना था। आसपास मन्दिरों में घण्टे बज रहे थे। कहीं-कहीं दियों का क्षीण प्रकाश भी झलक जाता था।

और जेलखाने और पगली घण्टी। और हथकड़ियां, बेड़ियां और पैसे की कमी। और···

छुटकारा। छुटकारा।

यशोदा वहां है—थी। है या थी इससे मुझे क्या ? मैं वहां नहीं जा सकता हूँ, उसके लिए कुछ नहीं कर सकता हूँ।

क्यों जी रहा हूँ मैं ?

---

१. रतन का मनोविश्लेषण और अन्तर-संघर्ष।

और उसे लगा, जमुना भी अपनी बड़ी-बड़ी काली आंखें खोले उसकी ओर विस्मय से देख रही है, मानो कह रही हैं, हाँ मैं भी तो पूछ रही हूँ कि क्यों जी रहे हो तुम···

छुटकारा···

रतन उठकर दो सीढ़ी और उतरा। अगली सीढ़ी पर पानी था। वह अपना फटा जूता उतारने को हुआ कि पानी में पैर डाले, फिर एकदम से उसे जूता उतारने के मोह पर हँसी-सी आई और वह जूतों समेत दो सीढ़ियाँ और उतर गया।

बहुत ठण्डा था पानी। लेकिन रतन का ध्यान उधर गया ही नहीं। वह घण्टा-नाद सुनता जाता था और प्रत्येक चोट पर उस एक आकर्षक शब्द को दुहराता जाता था—छुटकारा, छुटकारा।

एक सीढ़ी और उतरकर वह ठिठक गया। क्या यह छुटकारा है—सचमुच छुटकारा है? किस चीज़ से छुटकारा है? कैसे छुटकारा है? रतन कौन है?

क्या मेरे मरने से मेरी समस्या हल हो जायगी? यशोदा की समस्या हल हो जायगी? मेरी चोरी की सजा धुल जायगी? किसी का भी कोई भी बन्धन ढीला हो जायगा?

मुझे किसी के बन्धन से क्या? मरना तो है ही मुझे!—डूब मरूँगा, तो कोई पूछेगा नहीं। किसी को क्या? पूछेगा तो। हाजिरी नहीं दूंगा, तब खोज होगी। तब— (अन्तर्द्वन्द्व)

एकदम से उसे याद आया, जब वह जेल से छूटा था, तब उसे आज्ञा दी गई थी कि पुलिस में नाम लिखाये और हफ्ते में एक दिन रिपोर्ट दिया करे। वह थाने गया था। बाहर ही एक मुटियल बूढ़े सिपाही ने उसे टोका था, और यह जानकर कि रतन अपना नाम दस नम्बर में लिखाने आया है, उसे नसीहत देनी शुरू की थी। रतन वह नहीं सह सका था, और, और झल्लाये स्वर में कह उठा था, "तुम्हें मतलब? तुम अपना काम देखो। मैं

रिपोर्ट न दूँ, तब जी में आये सो करना। अभी अपनी नसीहत रखो अपने पास।" इस गुस्ताखी से कुछ चकित और कुछ क्रुद्ध कान्स्टेबल ने अपनी बुच्ची दाढ़ी हिलाकर अनुभव से भारी स्वर में कहा था, "ऐं हें ! तब तो जल्द ही आओगे, जल्दी।"

पहले तो घण्टानाद रतन को बहुत खटका था। लेकिन धीरे-धीरे वह कुछ आवृष्ट-सा हुआ—उसे उस स्वर में एक विचित्र चीज़ मालूम हुई। ये घण्टे, दिन और रात न जाने कब से ऐसे ही बजते आते हैं, इसी स्वर से, इसी गूँज से, इसी सम्पूर्ण तन्मयता से और इसी उपेक्षा से···कोई मरता है, कोई पैदा होता है; कोई मिलता है, कोई बिछुड़ता; इनमें कोई फ़र्क नहीं होता, ये वैसे ही गूँजते रहते हैं···ये प्रार्थना के घण्टे हैं—और प्रार्थना के जो मन्त्र कभी गये जमाने में दुहराये जाते थे वही आज भी दुहराये जाते हैं—उसी ईश्वर के प्रति ! हमारी प्रार्थना क्यों नहीं बदली है ? हमारी ज़रूरतें क्यों नहीं बदली हैं ? ईश्वर क्यों नहीं बदलता है ?

लेकिन यशोदा वहाँ बैठी है। और मैं यहाँ हूं—मैंने उसके लिए चोरी भी की थी, लेकिन मिलता हुआ रुपया नहीं लिया। और यहाँ बैठा हुआ ईश्वर की बात सोच रहा हूँ। **क्या मैं यशोदा के पास जाना नहीं चाहता ? क्या मैं ईश्वर के पास जाना चाहता हूं ?**

ये घण्टे जड़ हैं, मैं जीता हूं। तभी इनका स्वर नहीं बदलता।

मैं क्यों जीता हूँ ? यशोदा के लिए मैं जेल गया था, लेकिन अब यहाँ बैठा हूँ, दिन भर में एक बार भी मैंने नहीं सोचा है कि उसके पास लौटूं। क्या यह जीना है !

मैं स्वाधीन कहाँ हूँ ? अब भी जेल में हूँ। चाहकर भी मैं नहीं जा सकता उसके पास। रेल में पकड़ा जाऊँगा, तो फिर वही जेल। मैं जेल से डरता नहीं, मैं अपराधी नहीं हूँ। पर···

जीना। घण्टे। जड़ता। मैं भी जीता न होता, तो इतना निकम्मा न होता। इतना परवश, विवश। मरना छुटकारा है।

इस एक शब्द पर आकर रतन का मन अटक गया। छुटकारा। छुटकारा।

जहाँ वह बैठा था, वहां धुन्ध घनी हो चली थी। आकाश में किसी तरह का प्रकाश नहीं था, इसलिए नदी का पानी भी अब तक नहीं दीख रहा था। रतन धीरे-धीरे घाट की सीढ़ियाँ उतरने लगा। पानी के तल से दो-तीन सीढ़ी ऊपर ही, जब उसे सील-सी मालूम हुई, तब उसने ध्यान से नीचे देखा और जाना कि कुछ ही आगे जमुना का पानी बहा चला जा रहा है। घाट को निःशब्द स्वर से छूता है और आगे बढ़ जाता है। मानो कह जाता है, "लो मैं मेहमान बनकर आया तो हूँ, लेकिन तुम्हारी शान्ति भंग नहीं करता, मिल तो लिया ही, अब जाता हूँ।" और प्रणत-प्रणाम करता हुआ चल देता है।

और एक हम हैं कि आते हैं तब रोना, चिल्लाना, और दर्द; जाते हैं तब रोना, पीटना और तड़पन; रहते हैं तब भींकना, कलपना और होहल्ला।

जल्दी। कहाँ आऊँगा।

डूबकर मर जाऊँगा, तो खोज होगी। लाश मिलेगी, तो किसी के दिल में दर्द होगा? दुनिया जानेगी तो कहेगी, 'अजी होगा। दस नम्बरिया बदमाश था साला। मर गया अच्छा हुआ। कहीं इधर-उधर आँख लड़ गई होगी, काम नहीं बना होगा, बस।' बदमाशों के दिल थोड़े ही होता है।

इतना भर दुनिया उसे देगी। इतना भी खूसट कंजूस की तरह, घिस-घिस करके।

इसी दुनिया के लिए मैं इतनी फिकर में पड़ा हूं-इसी के लिए मर रहा हूँ? इसी हृदयहीन दुनिया के लिए मैं अपने जिगर का खून दे रहा हूं?

ऐसी की तैसी दुनिया की। सोच ही सब रोगों की जड़ है, वही तो है जिससे छुटकारा लेना चाहिये। पाप-पुण्य क्या है? सोचें तो चोरी है, सोचें तो ठीक है। सब चोर हैं, सब भले हैं।

आज मैंने दस चोरियां और की होतीं—कौन कह सकता है कि पकड़ा ही जाता? घर भी जाता, यशोदा से भी मिलता, जो जी में आता करता—

न होता तो जेल ही तो जाता, जहां हो आया हूँ ? **जैसा अब हूँ, इससे जेल क्या बुरी है ?**

रतन दृढ़ कदमों से घाट की सीढ़ियां चढ़ने लगा। मन का बोझा इतना हल्का हो गया था कि वह अपने पैरों की चाप के साथ-साथ ताल देकर कहने लगा, 'ऐसी—तैसी—दुनिया—की !'

घाट के ऊपर तक पहुँचते-पहुँचते उसने तय कर लिया था कि वह फिर चोरी करेगा, और फिर जेल जायेगा। **पहली बार चोरी करने के लिए जेल गया था, अबकी बार जेल जाने के लिए चोरी करेगा।**

(२)

तब शायद साढ़े बारह बजे थे। रतन अपने गाढ़े की धोती से फाड़े हुए एक टुकड़े में कुछ नोट और कुछ रुपये बांधे उस छोटी सी पोटली को एक मुट्ठी में मज़बूती से थामे हुए, दूसरे हाथ में जूते उठाये, एक ऊँचे घर की दीवार के साथ सटता हुआ दबे पैर एक ओर को हट रहा था।

दूर कहीं आधा घण्टा खड़का, टन डम्। सरदी की धुन्धली रात में उस स्वर ने रतन को चौंका दिया। उसके बाद ही उसे लगा कि पास कहीं खटका हो रहा है। शायद लोग जाग उठे हैं। शायद अभी उसकी चोरी पकड़ी जायेगी। शायद—

वह लपककर सड़क के पार हो लिया। वहां एक छोटी-सी झोंपड़ी थी, जिसके छोटे से झरोखे से टिमटिमाती-सी रोशनी बाहर झांकने की कोशिश कर रही थी। रतन जानता था कि प्रकाश की ओट में अन्धेरा अधिक मालूम होता है, वहां पड़ी चीज़ दिखती नहीं; इसलिए वह उस झरोखे से ज़रा आगे बढ़कर ही, फूस के छप्पर के नीचे दबककर, बैठा रहा।

पहले तो उसे लगा कि वह यों ही डर गया। अपने हृदय की धक् धक् के सिवाय कोई स्वर उसे नहीं सुन पड़ा। लेकिन बैठे-बैठे जब तक धड़कन ज़रा कम हुई, तब उसे जान पड़ा कि सचमुच कहीं कोलाहल हो रहा है। पर वह बहुत दूर पर है, जिस मकान में रतन ने चोरी की है उससे बहुत आगे कहीं। उस शोर का रतन से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

पर—यह स्वर तो बहुत पास कहीं है ! रतन ने सुनने की कोशिश की कि वह किधर से आ रहा है, पर ऐसा लगता था, मानो सभी ओर से धीरे-धीरे की जा रही बातचीत का स्वर आ रहा हो—कोई खास दिशा उस को जान नहीं पड़ रही थी...

क्या मैं सो तो नहीं रहा—स्वप्न तो नहीं देख रहा ? रतन ने अपने को कुछ हिलाया, ज़रा आगे बढ़कर झरोखे के बिल्कुल पास आकर आगे देखने की कोशिश करने लगा।

आगे झुकते ही स्वर साफ हो गया, रतन ने जान लिया कि वह झरोखे में से होता हुआ झोंपड़े के भीतर से आ रहा है। और वह बिना खास चेष्टा किए हुए भी उसे ध्यान से सुनने लगा।

एक पुरुष का स्वर, जो अपने से ही बात करता मालूम होता है। उस स्वर में दुःख है, निराशा है, थोड़ी-सी कुढ़न भी है।

'मैं और क्या करूं अब। अब तो उधार भी नहीं मिलता। ताने मिलते हैं सो अलग।'

थोड़ी देर बाद एक दूसरा स्वर—क्षीण, कुछ उदास, लेकिन साथ ही जैसे एक वात्सल्य भाव लिये—

'तुम भी क्यों फिक्र किये जाते हो ? ऐसे तो तुम भी बीमार हो जाओगे। मेरी दवा का क्या है ? सरकारी अस्पताल से ले आया करो—वहाँ तो मुफ्त मिल जाती है।'

'पिछली बार वहीं से तो लाया था। पर फ़ायदा नहीं होता। हो कैसे, डाक्टर देखे मरीज़ को तब न दवा हो ? वह यहाँ आता नहीं, बुलाने को पैसे नहीं हैं।'

'डाक्टर को बुलाकर क्या होगा। अब तो मुझे मरना ही है। मेरे करम ही खोटे थे—तुम्हारी सेवा तो की नहीं, उलटे दुःख इतना कर दिया। यही था, तो पहले ही मर जाती, तुम्हें इतना तङ्ग भी न करती और—'

'ऐसी बात न करो, प्रेमा ! मैं—'

काफी देर तक मौन रहा। आगे कुछ बात हो, उसकी प्रतीक्षा में बैठे-बैठे रतन ऊब गया, तब उसने झरोखे के पास सरककर भीतर झाँका। एक

ही झाँकी में भीतर का दृश्य देखकर वह एक दम पीछे हट गया—डरकर नहीं, कुछ सहमा हुआ-सा...

एक टुटियल चारपाई पर एक स्त्री लेटी हुई थी। उसका सारा शरीर और चारपाई का भी काफी-सा हिस्सा, एक मैली लाल गाढ़े की रजाई से ढंका हुआ था; केवल नाक और सिर बाहर दीखते थे। नाक की पीली पड़ी हुई त्वचा प्रकाश में अजब तरह से चमक रही थी। पीछे हटाये हुए बहुत रूखे और उलझे हुए बालों के भूरेपन के कारण माथा बहुत सफेद और बहुत चौड़ा लग रहा था। और आँखें—आँखें एक स्थिर, खुली, अर्थभरी दृष्टि के सिरहाने बैठे पुरुष के मुँह पर लगी हुई थीं।

और पूरुष उस स्त्री के सिर के पास, दोनों पैर समेट कर चारपाई की बाँहीं पर बैठा हुआ था। एक हाथ उसका घुटनों पर था जिस पर उसने ठोडी टेक रखी थी; दूसरा जैसे निरुद्देश्य, भूला हुआ-सा, स्त्री के सिरहाने पड़ा हुआ था।

रतन सहमा हुआ-सा बैठा था। उसका मन न जाने कहां-कहाँ दौड़ने लगा था, बिजली के तीव्र वेग से; पर बाहर से वह बहुत शान्त स्तब्ध-सा हो गया था। जैसे लट्टू जब बहुत तेज़ी से घूमता है तो धुरी पर बिल्कुल स्थिर हो जाता है, वैसे ही रतन का मन अतीत और भविष्यत् में पागल-सा भटकता हुआ एक धुरी पर स्थिर हो गया था—उस स्त्री प्रेमा की आंखों पर, जिनमें मानो सरस्वती बस रही थी—इतनी अर्थपूर्ण हो रही थीं वे...

उस सारगर्भित मौन में रतन ने एक-एक लम्बी साँस की आवाज़ सुनी। उसके बाद फौरन ही पुरुष का स्वर आया—अब पहले-सा शिथिल नहीं, अब जैसे प्रबल आवेग से भरा हुआ, गूंजता हुआ सा—

'प्रेमा, कभी जी में आता है, कहीं डाका डालूँ—ये जो पड़ोस में मोटे-मोटे लाला लोग रहते हैं, इनको मार डालूँ और इनकी हवेलियां लूट लूँ—या उस सरकारी डाक्टर को चुटिया पकड़ कर घसीट लाऊँ, जिसने आने की बात पर अकड़-कर कहा था कि सरकारी डाक्टर कोई रास्ते की धूल नहीं है जो हर कोई उठा ले जाये। कभी सोचता हूं कि...लेकिन फिर ख्याल आता है, जो लोग सरकारी डाक्टर

को बुला सकते हैं, वे भी तो कभी कुढ़ते होंगे कि विलायत से डाक्टर बुलाकर शायद इलाज ठीक हो सकता! यह रोग तो ऊपर से नीचे तक लगा है, मैं एक लाला को लूटकर क्या कर लूँगा? पर प्रेमा, किसी तरह तुम्हें अच्छा कर सकूँ तो—[1]

पुरुष एकदम चुप हो गया। रतन ने फिर झांककर देखा—प्रेमा का एक हाथ पुरुष के कन्धे पर था और दूसरा शायद उसके ओठों को छूने की कोशिश कर रहा था। रतन फिर पीछे को हट गया, और शून्य की ओर देखने लगा।

पुरुष का स्वर फिर बोला—'प्रेमा, अगर चोरी करके, या लूटकर...... तुम्हें अच्छा भी कर लूंगा तो भी सुखी नहीं होऊँगा। मुझे लगता है—'

थोड़ी देर रुककर फिर—'शायद हमारे मन में पाप का झूठा डर होता है—डर ही से पाप बनते हैं। पर जाता भी नहीं वह! मैं जान देकर तुम्हें अच्छा कर—दूँ' इस बीच में स्वर फिर रुक गया, मानों किसी के मुँह के आगे हाथ रख दिया हो—'पर एक छोटी-सी चोरी नहीं होती।'

एक शब्द सुनकर रतन ने फिर भीतर झाँककर देखा। पुरुष उठकर खड़ा हो गया था। एक हाथ से सिरहाना पकड़ते हुए, दूसरे से अपना माथा, वह सिर उठाकर छत की ओर देख रहा था। एकाएक उसने कहा–'भगवन्!' उसके हाथ शिथिल-से हो गये, कन्धे लटक गये और वह एक ओर को हटने लगा। तभी प्रेमा ने हाथ बढ़ाकर, गर्दन जरा मोड़कर, आर्द्रस्वर से पुकार कर कहा—मेरे पास आओ।' गर्दन मोड़ने से दिये का पूरा प्रकाश उसके मुंह पर चमक उठा।

एक ज़रा-सी बात से मानो रतन का हृदय हज़ारों और करोड़ों बरसों का व्यवधान पार कर गया—एक ही बहुत बड़ी-सी धड़कन में वह रतन का हृदय न रहकर उस आदम का हृदय हो गया, जो अपने पाप के लिये दण्ड पाकर अंधियारे में अपनी आदिम प्रेयसी को खोज रहा था—और उसे लगा कि सारा संसार उस स्त्री की आवाज़ में चीख़ कर पुकार उठा है, 'मेरे पास आओ!'—उस स्त्री की, जो सुन्दरी नहीं है, लेकिन जिसकी उस दृष्टि के लिए रतन एक बार नहीं, हज़ार बार चोरी कर सकता और दण्ड भी भुगत सकता!

---

१. संवादों में भी मनोविश्लेषण, गरीब की मन: प्रतिक्रिया।

रतन ने अपने को संभालने के लिए झरोखे का चौखटा पकड़ लिया—और फौरन ही छोड़ दिया। जिस हाथ से उसने चौखटा पकड़ा था, उसी में नोटों और रुपयों की पोटली थी।

रतन ने एक बार उस पोटली की ओर देखा, एक बार प्रेमा की ओर, एक बार उस पुरुष की ओर, फिर धीरे से कहा—'नालायक !'

फिर उसने पोटली झरोखे में रख दी। एक बार चारों ओर झांक कर देखा, और लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ वहाँ से हट गया।

(३)

रतन का शरीर ढीला पड़ गया। वह इस हद तक खुश भी हो गया कि किसी किस्म की कोई फ़िक्र उसके मन में न रही। एक हलवाई की दूकान के बाहर पड़ा तख्त देखकर वह रुक गया। तख्त पर बैठकर उसने अपने गीले जूते उतारे, उन पर अपनी चादर का एक छोर रखकर, इस तकिये पर सिर रखकर लेट गया। बाकी चादर अपने ऊपर ओढ़कर वह अकाश की ओर देखने लगा।

तारे थे। बहुत साफ़ नहीं दिखते थे, धुन्ध के कारण कभी छिप भी जाते थे, पर थे। कभी पांच, कभी चार, कभी आठ दस—वे दिखते और मिट जाते थे। मिटते और फिर दिखने लगते। धुन्ध के इस खेल में मानो रतन भी घुलने लगा। उसकी आंख लग गई।

नालायक वह ?

चौंककर रतन उठ बैठा। क्या उसने कुछ देखा, या कुछ सोचा, या, कुछ याद आ गया? कोड़े की मार से आहत-सा वह उठ बैठा।

नालायक वह ? और मैं नहीं नालायक, जिसने एक तो चोरी की, दूसरे अपनी बहन को भुलाया और तीसरे हाथ आई हुई दौलत फेंक दी ?

चोर। दस नम्बर का बदमाश। और—बेवक़ूफ़ !

चोरी मैंने किसलिए की थी ? क्या यशोदा के लिये ? क्या चोरी करने ही के लिए नहीं की मैंने चोरी ? और फिर रुपये वहां क्यों पटक आया ? उस आदमी को दे आया जो—जो प्रेमा को मरती देख सकता है और हाथ पैर नहीं हिलाता ?

उसका कुछ उसूल तो था। नहीं करता चोरी, तो नहीं करता। फिर चाहे कोई मर जाय। कुछ बात तो हुई।[1]

प्रेमा की शक्ल यशोदा से मिलती थी। झूठ—प्रेमा तो ऐसी कुरूप थी। लेकिन उसका गर्दन मोड़कर पुकारना—यशोदा भी तो ऐसे पुकार उठती थी जब मैं पास नहीं होता था !

मेरे पास फिर रुपये आते, मैं फिर दे देता—सौ बार दे देता। हाँ, क्यों नहीं दे देता। चोरी के ही तो थे रुपये। चोरी के रुपये से पुण्य कमाना चाहता हूँ। कुछ कमाकर दिये होते, तब भी बात होती।

दिये भी कब मैंने यशोदा की याद को ? मैंने प्रेमा को दिये, प्रेमा की आंखों को दिये, उस प्रेमा को, जो मेरी बहन नहीं, किसी दूसरे की घरवाली है। पाप को दिये।

लेकिन प्रेमा सुन्दरी कब थी ? पाप करने में भी अक्ल ख़र्च होती है। मैंने रुपये फेंक दिये। नालायकी की। बेवकूफी की। चोरी तो की थी, पकड़ा भी नहीं गया था। रुपये काम आते। अच्छी तरह रहता, मौज करता, दुनिया को दांत दिखलाता, उस बुच्ची दाढ़ी वाले सिपाही को दांत दिखाता, सब की ऐसी की तैसी करता, जो मुझे दस नम्बर का बदमाश समझते हैं। और जब चुक जाते तब जेल तो कहीं गया ही नहीं था—या शायद बच भी जाता।

लेकिन प्रेमा की आँखें वैसी क्यों थीं ?

नहीं थीं आँखें। रतन ही अन्धा था, अन्धा है। लेकिन...

गलियों में चक्कर काटते हुए रतन ने फैसला कर लिया कि वह लौटकर जायेगा और अपनी पोटली वहाँ से उठा लायगा जहाँ उसे छोड़ आया था। अभी रात खत्म नहीं हुई थी—अभी पोटली किसने उठा ली होगी ? दिन निकलने के बाद, बल्कि और भी देर से, जब घर की सफाई होने लगेगी, तभी कोई उसे उठायेगा, यही सोचकर वह उल्टे पांव लौट पड़ा।

---

१. **फिर अन्तर्द्वन्द्व**

लेकिन इन पिछले दो घण्टों में वह कितनी गलियों में से होता हुआ भटक आया था, इसका उसे कुछ अनुमान नहीं था। वह याद करने की कोशिश करता, कहाँ से वह किधर को मुड़ा था, ताकि उसी रास्ते लौटे, लेकिन जिस भी गली को वह कुछ पहचान कर आगे बढ़ता, उसी में थोड़ी दूर जाकर पाता कि वह तो कोई और ही रास्ता है, दाईं ओर को जो हरे किवाड़ हैं वे तो उसके रास्ते में नहीं आये थे, या बाईं ओर को जो बहुत बड़ा-सा साइनबोर्ड किसी वैद्य का लगा हुआ है वह तो उसने नहीं देखा था, और सामने की दीवार से जो बड़े-बड़े अक्षर मानो मुँह बाए अपने काले हलक से यह सूचना उगले दे रहे हैं कि अमुक तेल सब चर्मरोगों की अचूक दवा है, उसे देखकर कोई क्या भूल सकता? फिर भी मुट्ठियां भींच कर अपनी थकान को वश में कर लेने की कोशिश करता हुआ रतन चलता जा रहा था और सोच रहा था कि कभी तो वह झोंपड़ी मिलेगी ही।

धीरे-धीरे रात का रंग बदल चला। **हवा में एकाएक शीतलता भी बढ़ गई और नमी भी, उस गीले स्पर्श से मानो एकाएक रात ने जान लिया कि वह नङ्गी है और लज्जित होकर, कुछ सिहरकर धुन्ध के आवरण में छिप गई।**[1] मैला-सा कुहासा रतन की नासाओं में भरने लगा, आँखों में चुभने लगा, उसने एक बार आंख मलकर सामने देखा, फिर यह समझकर कि अब सवेरा होने वाला है और उस झोंपड़े की तलाश बेकार है, वह एक ओर मुड़ने को हुआ ही था कि उसने देखा, उसकी बगल में वही मकान है जिसमें से उसने चोरी की थी।

वह अब पहचाने हुए पथ पर जल्दी-जल्दी झोंपड़ी की ओर बढ़ने लगा। चारों ओर कुछ अस्पष्ट-सा शोर था—शहर जाग रहा था। ऐसे समय कोई आता-जाता किसी का ध्यान आकृष्ट नहीं करेगा, यह सोचकर रतन बढ़ा जा रहा था।

झोंपड़ी से कुछ दूर पर ही कोलाहल सुनकर रतन ठिठक गया। आँखें सिकोड़कर सामने देखकर उसने पहचाना। आगे भीड़ लग रही है।

---

१. **प्रकृति का मानवीकरण**

चोरी का पता लग गया है और चोर भी पकड़ा गया है।

रतन स्तंभित रह गया।

लेकिन फ़ौरन ही एक विद्रूप की लहर-सी उस पर छाई—बहुत ठीक हुआ। यही होना चाहिए था। साले में इतनी हिम्मत नहीं थी प्रेमा की जान बचाये—चोरी करने से डरता था ! मेरी चोरी का माल उसे पचता कैसे—भुगते अब !

प्रेमा की आँखें—मैंने चोरी करके अपनी जान जोखिम में डाली थी, उसका फल वह कैसे लेता ? वह तो नालायक है, बेवकूफ है—हिजड़ा है ! चोर पकड़ा गया है, चोरी की सजा काटे। प्रेमा का पति होने का दावा करता है—प्रेमा—का पति ? यह ?

रतन ने लपककर चौकी के सिपाही के हाथ से उस आदमी का हाथ छुड़ाकर, सिपाही को पीछे धकेलते हुए उद्धत और कर्कश स्वर में कहा, 'हटो तुम ! चोरी मैंने की थी। वह पोटली मैं यहाँ भूल गया था और अब लेने आया हूँ।'

सिपाही हक्का-बक्का-सा हो गया। रतन की बाँह पकड़ने की कोशिश करते हुए किसी तरह उसने कहा—'तुम पागल हो क्या ?' लेकिन इससे पहले कि रतन अपने भिचे हुए दाँतों में से पीसकर कहे—'हां, हूँ पागल !' उस सिपाही की आँखों में पहचान की एक बिजली-सी दौड़ गई और उसने एकदम से अपनी बुच्ची दाढ़ी लटकाकर ढीले मुंह से कहा—'अच्छा, तुम !'

(चरम सीमा पर समाप्त)

प्रष्टव्य

१. 'नम्बर दस' कहानी के आधार पर अज्ञेय की कहानी-कला पर प्रकाश डालिए।

२. रतन के चरित्र व अन्तर्द्वन्द्व को स्पष्ट कीजिए।

३. 'नम्बर दस' कहानी के उद्देश्य को स्पष्ट करें।

श्रीमती होमवती देवी (जन्म सन् १६०६—मेरठ)

महिला-लेखिकाओं में श्रीमती होमवती देवी का भी महत्वपूर्ण स्थान है। आप की कहानियाँ हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में बराबर निकलती रहती हैं। आप मुख्य रूप से पारिवारिक और सामाजिक संवेदनाओं को अपनाकर ही लिखती हैं। जीवन की मर्म-व्यथाओं को आपने पूर्ण आत्मानुभूति के धरातल से व्यक्त किया है। हिन्दू-गार्हस्थ्य जीवन की विषम समस्याओं—जैसे, वैधव्य-जीवन, विमाता का अत्याचार, दहेज, सास-पतोहू आदि के झगड़े—का सजीव चित्रण करने में आपको अपूर्व सफलता मिली है। आपकी कहानियों की करुणा-पूर्ण संवेदनाएं आपके निजी-जीवन की करुण अनुभूतियाँ हैं। आपके अब तक चार कथा-संग्रह निकल चुके हैं—निसर्ग, धरोहर, स्वप्नभंग और अपना घर।

प्रस्तुत कहानी :—'मां' कहानी श्रीमती होमवती देवी की एक श्रेष्ठ पारिवारिक-सामाजिक कहानी है। विमाता की निष्ठुरता एवं अत्याचार अत्यंत प्राचीन गार्हस्थ्य समस्या है। देवी जी ने इसी करुणापूर्ण संवेदना को कहानी में सजीव किया है। हमारा जीवन कितना निष्ठुर और पाखंडपूर्ण हो गया है! कृपाशंकर की पहली पत्नी एक फूल-से बालक अनुराग को छोड़कर चल बसती है। "बाबू कृपाशंकर के लिए तो एक क्या अनेक स्त्रियाँ थीं। स्त्री के मरने के साथ-ही-साथ रिश्ते आने लगे, **बल्कि बहुत से लड़की वालों ने तो उसकी बीमारी की हालत में ही निगाह ठहरा ली थी।**" पुरुष-प्रधान समाज की कैसी निष्ठुरता है! पिता ने भी पुत्र कृपाशंकर को तेरहवीं होते ही कहा—सोच लो, किस लड़की को कितने नम्बर देते हो।" बाबू कृपाशंकर ने आशंका प्रकट की, न-जाने बच्चे को कोई कैसे रखे। उन्हें अपनी विमाता का अत्याचारपूर्ण व्यवहार याद आ गया। परन्तु उनके पिता तो संसार का कोना-कोना छाने हुए थे। भला देर कैसे करते—"देर करने से तो रुला-खुला कूड़ा-कचड़ा ही हाथ लगता!" विमाता आती है। अनुराग की भरपूर उपेक्षा होने लगती है। वह सारा दिन मारा-मारा इधर-उधर भटकता रहता है, उसकी परवाह ही कौन करे! विमाता एक पुत्र को जन्म देती है।

वह तो पुत्रवती अब ही हुई। अनुराग उसका पुत्र थोड़े ही था! अपने पुत्र की शुभ-कामना के लिए विमाता होली का तागा बंधवाती है। पहली दो होलियों में तो उसने अनुराग का शुभ नहीं चाहा। जहाँ शुभ-कामना नहीं, स्नेह नहीं, है केवल उपेक्षा ही उपेक्षा, वहां बेचारे अनुराग की आत्मा कैसे बसेरा बनाए रहती! अम्माँ के प्रेम का भूखा बेचारा चार साल का फूल 'अ...म्माँ... आँ...आँ...!' करता मुर्झा गया। निठुर विमाता उसकी ओर देखकर भी नहीं देखती। वह तो अपने लाल को छाती से लगाए खर्राटे मारती रहती है। कृपाशंकर सोच रहे थे—माँ? माँ है यह? हाँ, अम्माँ। पर अनुरागी की नहीं।" कैसी यथार्थ कहानी है! हमारी नारियों का कैसा संकुचित मातृत्व है! उनका दया, माया, ममता का हृदय कहाँ गया? अनुरागी अर्थात् प्रेम की माता वे क्यों नहीं? श्रीमती होमवती देवी ने इस प्रकार एक ओर पुरुष-प्रधान समाज की निठुरता और कुरीतियों पर चोट की है, दूसरी ओर नारी के संकुचित अनुदार निष्ठुर मातृत्व का पर्दाफ़ाश किया है। कहानी अपने उद्देश्य में पूर्ण सफल है। सारी संवेदना घनीभूत होकर अंत में चरम सीमा पर बरस पड़ती है। कथा की गति बड़ी स्वाभाविक और सीधी है।

इस कथा में देश-काल-वातावरण अर्थात् विवाह के नेग-आचार, रीति-रिवाज, होली आदि पर्वोत्सव पर तागा बंधाने आदि की प्रथा का भी स्पष्ट उल्लेख हुआ है। सामाजिक मनोवृत्ति पर अच्छा प्रकाश पड़ा है। संवाद बड़े स्वाभाविक, पात्र-परिस्थिति के अनुकूल हैं। अपने शिल्प-विधान, यथार्थ सामाजिक-पारिवारिक संवेदना, सरल भाषा-शैली आदि की दृष्टि से श्रीमती होमवती देवी की कहानियां प्रेमचन्द-संस्थान की ही ठहरती हैं। लेखिका की भाषा सरल, सुबोध, सरस और प्रवाहपूर्ण है।

माँ

१

बड़ा भोला-भाला, स्वस्थ और आकर्षक बालक था वह। आयु होगी लगभग दो-ढाई वर्ष की, जब उसकी माँ मरी थी। जिस समय कुन्तला की

अर्थी सजाई जा रही थी, अनुराग कौतूहल से नौकर की गोद में चढ़ा देख रहा था। तभी दो-एक बड़े-बूढ़ों ने कहा—"इसे अलग ले जा रे, बच्चा है, जी में दहल जायगा।" और तब उसका नौकर सिरिया उसे कलेजे से चिपकाए दूर कुएँ की जगत पर बैठा आँसू बहाता रहा—"मालकिन क्या थीं, देवी का स्वरूप और अन्नपूर्णा का मन पाया था। ऐसी क्या कोई सात जन्म में भी मिल सकती है इन्हें। इतने बड़े घर की बेटी और मिजाज़ नाम को भी नहीं था।" सिरिया की बात के समर्थन में मेहतर ने सिर हिला दिया और फिर मृतक के कपड़े, खाट, बिस्तर आदि सहेजने में लग गया।

तेरह दिन तक घर में शोक का साम्राज्य बना रहा—विशेष रूप से तीन दिन तक अधिक रोना-पीटना चलता रहा। फिर क्रमशः वातावरण कुछ शान्त होने लगा। बहू की माँ, बहन, भावज सब छाती पीट-पीटकर थक गईं; पर जाने वाला क्या रुकता थोड़े ही है। सास, ससुर, ननद और नाते-रिश्ते के सभी अपना-अपना कर्तव्य पालन करके चुप बैठ गए; किन्तु इससे क्या बना? वह तो सदा के लिए चली गई—बच्चे से माँ बिछुड़ गई।

बाबू कृपाशंकर के लिए तो एक क्या अनेक स्त्रियाँ थीं। स्त्री के मरने के साथ-ही-साथ रिश्ते आने लगे, **बल्कि बहुत-से लड़की वालों ने तो उसकी बीमारी की हालत में ही निगाह ठहरा ली थी।** जब तेरहवीं के ब्राह्मण जीम चुके, तभी कृपाशंकर के पिता ने लड़के की पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा—"बहू क्या थी बेटा, लक्ष्मी थी; पर मरना-जीना तो अपने हाथ की बात नहीं। हमें ही देखो, तीन-तीन शादियाँ किये बैठे हैं—एक तुम्हारी माँ से पहले और एक बाद में। क्या किया जाय, हरी की इच्छा··· **। अब तुम सोच लो, किस लड़की को कितने नम्बर देते हो।"**

कृपाशंकर ने अनमने भाव से कहा—"अभी जल्दी ही क्या है, बाबू जी! **न जाने बच्चे को कोई कैसे रखे···।"**

(जिज्ञासा)

वे बोले—"बच्चे तो सब रहते ही हैं, भाई! आखिर तुम्हें भी तो किसी ने रखा ही था। तुम्हारी इतनी ही उम्र रही होगी बस, जब माँ मरी थी।"

कृपाशंकर के सामने दो युग पीछे का संसार घूमने लगा। किस प्रकार उसे मार-मारकर कपड़े धोने के लिए बाध्य किया जाता था। पिता की आँखों में भी खून उतर आता था। उसे देख-देखकर कितनी शिकायतें प्रतिदिन सामने खड़ी रहती थीं। उसे गिन-गिनकर रोटियाँ मिलती थीं खाने को। गिन-गिनकर कपड़े दिये जाते थे पहनने को।[1] ···और तब उन्होंने सहसा कह दिया—"मैं शादी नहीं करूँगा।"

पर बाबू बनवारीलाल पुराने मँजे हुए वकीलों में से थे। उनकी तीव्र दृष्टि संसार का कोना-कोना छाने हुए थी। लड़के को भी वकालत पास कराके उन्होंने अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया था। यद्यपि परिवार तो छोटा ही था—दो जने स्वयं और दो ये लड़के कृपाशंकर और दयाशकर—पर रुपया कमाने में वे इतने दक्ष थे कि कीचड़ से भी पैसा निकाल लें। उन्होंने अथक परिश्रम करके अपने ही बाहु-बल से यह घर बनाया है। लड़के के मुख पर दृष्टि गड़ाकर वे बोले—"बावला हो गया है, कामिनी और कंचन का मोह तो बड़े-बड़े ऋषि भी नहीं छोड़ सके, भैया। हम जैसों की क्या बात है? फिर कसूर-बिगाड़ पर अपनी माँ क्या डाटती-मारती नहीं है? अच्छी लड़की होगी, तो इसे अपने बच्चे के समान रखेगी। फिर हम पहले ही सब बातें ठहरा लेंगे। और हम तो मौजूद हैं। हमारे पास रहेगा यह। बस, तुम तय कर लो जल्दी क्योंकि देर करने से रुला-खुला कूड़ा-कचड़ा ही हाथ लगता है बस। देखो, भिक्का पंसारी की लड़की देखने में भी बुरी नहीं सुनते, और कहता है, शादी में कम-से-कम आठ-दस हज़ार रुपया खर्च करेगा। चाहे पाँच नक़द ही ले लो। दूसरा रिश्ता भट्टे वालों का भी अच्छा है। लड़की इसकी ज्यादा अच्छी सुनते हैं। कुछ पढ़ी-लिखी भी है। खानदान भी अच्छा है; पर देना-लेना तो ऐसा ही रहेगा। नाम बड़े और दर्शन थोड़े। छः बहनें हैं। तय कर लो, फिर मुझे एक मुक़दमे के चक्कर में बाहर जाना है।···' यह कहकर बड़े वकील साहब बाहर चबूतरे पर टहलने लगे। और छोटे वकील

---

1. विमाता का निर्दय व्यवहार।

बाबू नई गृहस्थी की उलझन को सुलझाने में व्यस्त हो गए। तभी अनुराग ने आकर घर का कोना-कोना ढूँढ़ना शुरू कर दिया। शायद वह अपनी माँ की तलाश में था। फिर जहाँ रोगिणी का पलंग बिछा रहता था, वहाँ खड़ा होकर वह रो पड़ा—"अम्माँ···अम्माँ!" बाबा ने गोदी में उठाकर उसे दुलारते हुए कहा—"अब तुम्हारी अम्माँ को जल्दी ही लाने की बात सोच रहे हैं, बेटा ?"

२

महीना पूरा होते ही कृपाशंकर की माँ मिलाई ले आई। वर ने दूसरी लड़की ज्यादा पसन्द की। पंसारी की लड़की तो ज़रा भी पसन्द नहीं आई। विवाह की तारीख तय होगई। केवल आठ ही दिन शादी के रह गए। मृत्यु का सन्नाटा विवाह की धूम-धाम में बदल गया। आस-पास के रिश्तेदारों को पत्र लिखे जाने लगे। घी, आटा, दाल, मैदा, मेवा, मिसरी आदि सामान जुटाने का प्रबन्ध होने लगा। कलावे भी रँगने को दे दिये गए, चूड़ियों के जोड़े बँधने लगे। पिछली बहू के जेवर निखारने के लिए सुनार के यहाँ भेज दिये गए। आखिर वर की दूसरी शादी सही, पर कन्या की तो पहली ही ठहरी। गुड़िया-गुड्डों के विवाह में भी तो चार चीज़ें जुटानी ही पड़ती हैं।

कृपाशंकर की माँ दो-चार भारी साड़ियां और गहने दयाशंकर की बहू के लिये रोककर विवाह के काम में तन-मन से जुट गईं। "आज न सही, दस साल बाद छोटे का विवाह भी उन्हें करना ही है। इस महँगी के ज़माने में कौन इतना ज़ेवर-कपड़ा चढ़ाता है ? फिर यह तो दूसरी शादी ठहरी।" यही सब दूर की बातें सोचकर लगन के चढ़ावे में भी इस बार उन्होंने दो के बजाय एक ही अँगूठी भेजने का निश्चय किया। कल लगन आयगा, परसों सामान जायगा और फिर बान-तेल-मढ़ा सब होगा। चाहे जो भी हो, सगुन के काम तो करने ही पड़ेंगे। मन-ही-मन हिसाब जोड़कर उन्होंने पति से सम्मति लेकर तय किया कि इस विवाह में ज्यादा-से-ज्यादा पाँच सौ रुपये खर्च करने चाहियें, बस। लड़की वाले ने मिलाई में कुल मिलाकर साढ़े सात

सौ रुपये नक़द और घड़ी, अँगूठी, बर्तन वगैरह दिये हैं। सगाई तो अच्छी ही करेगा। फिर बाद में कौन देता है? **देना-लेना तो भाँवरें पड़ने से पहले तक ही रहता है, फिर तो सब लड़की वाले अँगूठा ही दिखाते हैं, इसलिए देख-भालकर ही खर्च करना चाहिए।**[1]

अनुराग के लिए भी नए कपड़े और जूतों का इन्तज़ाम करना था। वह बहुत खुश था। विवाह की चहल-पहल में जैसे उसका भी पुराना स्वप्न भंग होने लगा। जिस दिन कृपाशंकर को तेल चढ़ाया गया, वह भी चौकी पर आ बैठा और तेल चढ़वाने के लिये मचल उठा। दादी ने सहानुभूति दिखाते हुए कहा—"इसके ऊपर भी दो छींटे डालकर बहला दो, नहीं तो रो पड़ेगा और फिर चुप करना मुश्किल हो जायगा।" सिरिया ने झट आकर उसे गोदी में उठा लिया। "आओ भइया, पतंग उड़ायेंगे।" कहकर वह उसे छत पर ले गया। पर अनुराग को रट लगी थी—"हम भी कँगना बँधवायेंगे।"

सिरिया के पास ही बैठी महरी मसाला साफ़ कर रही थी, बोली—"किसका ब्याह है, मुन्ना?"

अनुराग ने तुरन्त उत्तर दिया—"बाबूजी का।"

पता नहीं, नीचे वालों ने बच्चे की बात सुनी या नहीं; पर ऊपर वाले स्तब्ध रह गए और तभी उनकी आँखों से आँसू टपक कर भू पर बिखर गए।

३

दीवार पर गेरू का थापा और उसके सामने जो मंगल-घट रखा गया था, उसी के सम्मुख वर-वधू को बैठाकर पूजन कराया जा रहा था और अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार आई-गई स्त्रियाँ न्योछावर करके माँ जी के हाथ पैसों से भरे दे रही थीं। कृपाशंकर की बाईं ओर बैठी सोलह साल की भामा नववधू के रूप में घूँघट में ही मुस्करा रही थी। रूप जैसे सँभाले सँभल नहीं रहा था। सभी ने उसके रूप की प्रशंसा की—और चाहे जो हो, पर पहली बहू से देखने में अच्छी है।"

---

१. **यथार्थ सामाजिक मनोवृत्ति**

कृपाशंकर का मन भी अपनी परख पर फूल उठा। बोले—"खुद जो पसन्द की है मैंने।"

माँ ने अभिमान से कहा—"और वह बाप की पसन्द थी। आगे चलकर पता लगेगा कि किसकी पसन्द अच्छी रही। अब उस बेचारी का क्या ज़िक्र, आज पूरा सवा महीना हो गया...।"

प्रसंग को बदलता देखकर कृपाशंकर ने गठबन्धन का दुपट्टा कन्धे से उतारकर नीचे रख दिया। "अच्छा, अब मैं उठ जाऊँ न ?" कहते हुए वे उठने को उद्यत हुए। तभी नाते की एक भोजाई ने कहा—"अभी तो मुँह जूठा कराना है। ठहरो, भाग नहीं सकते...। बुरा न मानो लालाजी, छोटे लालाजी के लिये भी तुमसे ही बहू पसन्द कराई जायगी। सचमुच सैकड़ों में एक है...।" अपने हाथ-पैरों पर एक गम्भीर दृष्टि डालते हुए युवती लड्डू-बताशे और पान लेने चली गई। फिर वातावरण में एक रंगीनी-सी छा गई। कृपाशंकर ने धीरे-से कहा—"तुम क्या बुरी हो ?"

युवती ने तनिक संकोच के साथ देवर के सामने तश्तरी रख दी और बहू का भी हाथ थामकर तश्तरी में रख दिया। इतने ही में अनुराग की आवाज़ सुनाई दी—"बाबूजी, बाबू जी, कहाँ हैं, हम बन्दर का तमाशा देखेंगे।" और आवाज़ के साथ ही वह भागा-भागा आकर कमरे में दाखिल हो गया। वहाँ आते ही जैसे वह सब-कुछ भूलकर पिता से गज़-भर-दूर खड़ा-का-खड़ा ही रह गया। दादी ने एक इकन्नी उसकी ओर बढ़ाते हुए कहा—"जा, करा ले बन्दर का तमाशा...।" पर उसने जैसे उनकी बात ही नहीं सुनी, इकन्नी लेना तो दूर रहा।

बुआ ने उसे गोद में उठाकर पूछा—"तुमने बहू देखी, भैया ?"

अनुराग ने सिर हिलाकर उत्तर दिया—"नहीं।"

"देखोगे ?" बुआ ने फिर पूछा।

बालक ने सिर हिलाकर कहा—"हां।"

लड़की ने नई लड़की के घुटने पर उसे बैठाकर बहू का घूँघट थोड़ा ऊपर करते हुए कहा—"लो, देखो।"

अनुराग ने थोड़ा झुककर घूँघट में कुछ देख लिया और खड़ा हो गया। ताई ने पूछा—"किसकी बहू है, भइया ?"

अनुराग ने सहसा उत्तर दिया—"बाबूजी की।"

सबके खिले हुए चेहरे उतर गए। वे न-जाने किस उत्तर की आशा में थे। कृपाशंकर भी उठ खड़े हुए और बच्चे की उंगली पकड़कर बोले—"चलो, बाहर बन्दर का तमाशा देखेंगे।"

लड़के की शादी करके बाबू बनवारी लाल ने जैसे गंगा नहा ली हो। उन्होंने वकालत छोड़कर कानपुर में ठेकेदारी का काम शुरू कर दिया। वे छोटे लड़के को लेकर वहाँ चले गए। अनुराग को भी वे साथ ले जाना चाहते थे। पर फिर उन्होंने सोचा—यहाँ रहकर माँसे हिल-मिल जायगा, पास रहने से माँ की ममता भी इसमें होगी।

भामा ने आते ही घर-गृहस्थी सँभाली। अनुराग भी जैसे धीरे-धीरे सब-कुछ समझने की चेष्टा करने लगा। अब वह उतना हंसता नहीं और न पहले-जैसा शोर मचाता है—वह एकदम मानो साठ साल का बूढ़ा बन गया है—बहुत गम्भीर और शान्त। पड़ोस के जिन बच्चों में वह नित्य खेला करता था, अब कभी उनके पास जाता भी है, तो चुपचाप किवाड़ के पीछे या दीवार की ओट में दरवाज़े पर ही ठिठककर खड़ा रह जाता है। बहुत बुलाने पर कभी आ जाता है और कभी हफ़्तों घर से निकलता ही नहीं। अक्सर उसके रोने की आवाज़ सुनकर मुहल्ले के बच्चे उसके घर के आगे जा खड़े होते हैं और उसे आवाज़ें लगाते हैं; पर जब से नई गृहिणी आई हैं, इस घर के अन्दर जाने की वह हिम्मत नहीं करते।

इसी प्रकार धीरे-धीरे दो वर्ष बीत गए। अचानक एक दिन सुना, वकील साहब के घर लड़का हुआ है, उसकी आज छठी है। ढोलक और मँजीरों की ध्वनि से सारा मुहल्ला गूँज उठा। कृपाशंकर के दोस्त दावत का तकाज़ा करने लगे, नाइन और कहारिन कड़ों की फरमाइश करने लगीं और महतरानी नई धोती के लिए झगड़ने लगी। जिसे देखो, वही उनके सिर था। पर कोई परेशानी की बात इसलिए सामने नहीं थी कि सभी

चीजें महँगी होने के अलावा कण्ट्रोल के अन्तर्गत थीं। दावतें तो कभी की बन्द हो चुकी थीं। महँगी होने के अलावा कपड़ा मिलता ही नहीं था। खाना अपने ही पेट को काफ़ी नहीं मिलता, फिर किसी दूसरे को क्या ख़ाक खिलाया जाय ?

लेकिन इतना हेर-फेर अवश्य हो गया कि पड़ोस की दो-चार स्त्रियों का आना-जाना इस नए बच्चे के जन्म से शुरू हो गया। कभी-कभी कोई बच्चा भी जा खड़ा होता। अनुराग भी अब थोड़ा-थोड़ा घर से निकलने लगा। फिर ऐसा हो गया कि दिन-दिन-भर घर जाता ही न था। कहीं किसी के घर खा लेता और खेलता रहता। शाम को जब कृपाशंकर के कचहरी से आने का समय होता, तब उसकी ढुँढ़ाई होती और नया नौकर टीका उसे खींच-तानकर कभी दूध पीने के बहाने और कभी अनार-सन्तरे या खरबूज़े खाने का लालच दिखाकर घर ले जाता।

अब वह पूरे चार वर्ष का हो चुका था; पर बोलता अब भी बहुत कम था। उसकी गम्भीरता दिन-दिन बढ़ती जाती थी। जब कभी उसके कपड़े वग़ैरह बदले जाते, तब वह दुबला-पतला होने पर भी और सुन्दर लगने लगता था। उसे परिचित-अपरिचित सभी प्यार करते थे। सहानुभूति अमूल्य होने पर भी उसका मूल्य दीनता से बढ़कर क्या हो सकता है ?

(कथा में देश-काल—रीतिरिवाज)

उस दिन होली का दिन था। अनुराग की अम्माँ ने सन्तोष की बुआ को बुलावा भेजा—"जरा कहानी सुनाकर तागा बँधवा देंगी।" **वे पहले तो सोचती ही रह गई—यह तीसरी होली है, इसने पिछले दो वर्षों से तागा क्यों नहीं बाँधा ? आख़िर लड़का तो आगे था ही—अपना या पहली का।** पर करती भी क्या ? चली गईं। तब तक एक सँराई में आटा और गुड़ रखकर गृहिणी ने कच्चे सूत की पिंदिया उनके सामने रख दी। वे तागा पूरते-पूरते कहानी सुनाने लगीं—"एक राजा था। उसके नगर में ऐसा नियम था कि जब तक नर-बलि न चढ़ाई जाय, तब तक मिट्टी के बर्तनों का आवा पकता ही न था। उसी शहर में एक बुढ़िया रहती थी। उसके एक ही लड़का था। होली का

व्रत रखकर उसने तागा बाँधा और पूजन किया। शाम को राजा के सिपाही आए और उसके लड़के को पकड़कर ले गए। अब की उसी की बारी थी। रोती-बिलखती बुढ़िया ने बेटे को विदा किया और जौ के दस दाने उसे देकर कहा—'जा, भगवान् मेरे इस कच्चे धागे की लाज रखेंगे।' हमेशा आवा ६ महीने में उतारा जाता था और जिसे बर्तनों के साथ चिना जाता था, उसकी हड्डियां तक भस्म हो जाती थीं पर अब की बार तीन ही दिन में आवा पक गया और बुढ़िया का बेटा हँसता-कूदता आवे से बाहर निकल आया। नगर के लोगों में इसकी बड़ी चर्चा हुई कि बुढ़िया जादूगरनी है और जादू के ज़ोर से उसने अपने बच्चे को बचा लिया। बुढ़िया ने अपने बच्चे को तागे और व्रत की महिमा का वर्णन करते हुए कहा—'नगरकी सभी स्त्रियों को, जो लड़के की माँ हों, यह तागा बाँधना चाहिए।' और तभी से यह रिवाज चला आ रहा है।"

कहानी पूरी करते हुए सन्तोष की बुआ ने कृपाशंकर की बहू से कहा—**"तुमने पारसाल तो तागा बांधा नहीं ?"**

नई गृहिणी ने गोद के शिशु की ओर इशारा करते हुए कहा—**"तब यह कहां था ?"**[1]

(उत्सुकता की तीव्रता)

सन्तोष की बुआ को जैसे अब आगे कहने के लिए कोई बात नहीं रह गई थी। इतना स्पष्ट और सम्पूर्ण उत्तर पाकर वे खड़ी हो गईं। बहू ने उनके पैर छुए। उन्होंने 'सतपूती हो' कहकर घर का रास्ता लिया।

उसी रात अनुराग को बड़ा तेज़ बुखार चढ़ा और बुखार के साथ ही उसके प्रलाप की मात्रा भी बढ़ती गई। कृपाशंकर बड़ी परेशानी के साथ कभी उसकी नाड़ी टटोलते और कभी दिल की धड़कन देखते। डाक्टर सावधानी से उसकी देख-भाल करने का आदेश दे और नुस्खा लिखकर चले गए। **नई मां गोद के बच्चे को कलेजे से चिपकाए आंगन में खर्राटे ले रही थी।** अनुराग बराबरमें बक रहा था—"अरे...अ...यह देखो, किसने सिगरेट जला दी जाने! मेरा कुर्त्ता जल गया..जल गया...जल गया !...बाबू जी, जल्दी आ जाओ...इक्का खड़ा है...मैं भी जाऊँगा।..."

---

१. विमाता अनुराग को अपना पुत्र नहीं समझती।

यह सब सुनकर पड़ोसियों तक का दिल बैठा जा रहा था। कृपाशंकर ने उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—"अनुराग क्या बात है, बेटा? सो जाओ, तुमने तो परेशान कर रखा है !"

और अनुराग बराबर बकता जा रहा था—"**अम्मां···अम्मां ! मुझे गोदी में ले लो**"। वह देखो, तोता उड़ जायगा।···बन्द करो···बन्द करो। मैं नहाऊँगा। रोटी···रोटी···जल्दी···आओ···अम्मां···अम्मां !" कहते-कहते वह सहसा मौन हो गया।

कृपाशंकर ने उसका माथा छूकर देखा, पसीना आ रहा है, बुखार भी अब कम मालूम होता है। पर यह क्या? एकदम निढाल और निश्चल-सा हुआ जा रहा है अनुराग ! पुरुष का हृदय भी कातर हो उठा। कृपाशंकर ने पलंग की पाटी पर अपना सिर दे मारा—"तुझे क्या हो गया, अनुराग !"

बच्चे के होंठ हिले—"अ···म्माँ आँ···आँ···!"

कृपाशंकर ने आँगन में पड़ी गृहिणी को झकझोर कर कहा—"उठो, देखो तो अनुराग कब से अम्माँ-अम्माँ पुकार रहा है? अरे भामा, उसकी हालत बड़ी खराब होती जा रही है। तुम ज़रा उसे देखो मैं डॉक्टर के यहाँ जाऊँ।"

पर युवती जैसे अपने भीने स्वप्नों को भंग नहीं करना चाहती थी। बोली—"**सोने दो, मेरे पेट में बड़ा दर्द है।**"

कृपाशंकर ठगे हुए-से स्तम्भित खड़े-खड़े सोच रहे थे—'**मां ? मां है यह ? हां, अम्माँ। पर अनुरागी की नहीं।**" और फिर सहसा उनकी आँखें युवती के पास पड़े हुए शिशु पर जाकर ठहर गईं।

(चरम सीमा पर समाप्ति)

प्रष्टव्य

१. 'माँ' कहानी की मूल संवेदना को प्रकट कीजिए।

२. 'माँ' कहानी की संक्षिप्त आलोचना कीजिए।

श्री यशपाल

हिन्दी के प्रातिभ कलाकार श्री यशपाल जी का जन्म सन् १९०३ में ज़िला फ़िरोज़पुर (पंजाब) में हुआ। आपने गुरूकुल कांगड़ी, डी० ए० वी० कालेज तथा नैशनल कालेज लाहौर में शिक्षा पाई। आप आरम्भ से ही क्रांतिकारी विचार रखते थे। श्री अज्ञेय की तरह आप भी बी० ए० के पश्चात् राजनीतिक आन्दोलनों के सिलसिले में अपनी पढ़ाई जारी न रख सके। प्रसिद्ध असैम्बली बम-केस में आप भी अभियुक्त रहे। आप का सम्बन्ध सरदार भक्त सिंह, राजगुरू, चन्द्रशेखर जैसे प्रसिद्ध क्राँतिकारियों से रहा है। आप का यौवन जेल के सीखचों में ही बन्द रहा है। जेल में आपको अध्ययन और मनन का अच्छा अवसर मिला। आप बड़े अध्ययन-शील तथा प्रगतिशील, मौलिक विचारक हैं। मार्क्सवादी विचारधारा का आप पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। अतः आप ने हिन्दी कथा-साहित्य को—विशेषकर उपन्यास और कहानी—एक नया यथार्थवादी, प्रगतिवादी मोड़ दिया है।

हिन्दी के वर्तमान कहानीकारों में यशपाल जी का प्रमुख स्थान है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, वे हिन्दी की प्रगतिवादी सामाजिक कथा-धारा के अग्रणी प्रतिनिधि लेखक हैं। आप खूब लिखते हैं, और बढ़िया लिखते हैं। अबतक आपके लगभग १५ कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। आपकी कहानियों का धरातल मुख्यतः सामाजिक है। सामाजिक विषमता, वर्ग-चेतना और वर्ग-संघर्ष आपकी कहानियों की विशेषता है। आपने प्राचीन सामाजिक रूढ़ियों, परम्परागत प्रतिक्रियावादी विचारों तथा धार्मिक और सामाजिक आडम्बरों और पूँजीवादी-सामंतीय व्यवस्थाओं की कटु आलोचना की है और सुन्दर, सूक्ष्म मीठे-तीखे व्यंग्य कसे हैं। आप की कहानियों से आपकी मौलिक प्रतिभा का स्पष्ट अमुमान हो जाता है। आपने समाज का अध्ययन अधिकतः आर्थिक समस्या के आधार पर किया है। आप की कहानियां समस्या-प्रधान हैं। चरित्रों की अवतारणा भी आप वर्ग-

विषमता, वर्ग-चेतना और वर्ग-संघर्ष की दृष्टि से करते हैं। प्राय: एक उच्च वर्ग के पूँजीवादी बुर्जुआ पात्र रहते हैं, दूसरे सर्वहारा वर्ग के। किन्तु इससे यह अभिप्राय नहीं कि उनकी पात्र-सृष्टि सीमित और संकुचित है। अपनी सांस्कृतिक कहानियों में आपने इतिहास, पुराण, कल्पना सब क्षेत्रों से अन्यान्य चरित्रों को भी लिया है। चरित्रों में सजीवता, व्यक्तित्व, अन्तर्द्वन्द्व और विद्रोह की भावना है। आपकी कहानियों की कथा-शैली सीधी, गठित और कलात्मक होती है। भले ही आपने कथाविधान में विविध प्रयोगों की प्रवृत्ति नहीं दिखाई, तो भी आपकी कहानियों में प्रभाव की अपूर्व तीव्रता पाई जाती है। आपकी भाषा अत्यन्त सरल और संवेदना के अनुकूल रहती है। अलंकरण की प्रवृत्ति उसमें नहीं, व्यंग्य-वक्रता कहीं-कहीं अच्छी रहती है। आपके व्यंग्य बड़े सशक्त और प्राणवान् होते हैं। आपकी प्रकाशित रचनाएँ ये हैं —

कहानी संग्रह—अभिशप्त, वो दुनिया, ज्ञान-दान, पिंजरे की उड़ान, तर्क का तूफान, भस्मावृत्त चिनगारियाँ, फूलों का कुर्ता, धर्म-युद्ध, उत्तराधिकारी, चित्र का शीर्षक, देखा, सोचा, समझा, बात-बात में बात, तुमने क्यों कहा था, मैं सुन्दर हूं, उत्तमी की माँ।

उपन्यास :—देशद्रोही, दिव्या, पार्टीकामरेड, दादा कामरेड, मनुष्य के रूप, पक्का कदम, अमिता।

राजनैतिक निबंध :—मार्क्सवाद, चक्कर क्लब, न्याय का संघर्ष, सत्य और अहिंसा की परख, गांधीवाद की शव-परीक्षा।

गुडबाई दर्दे-दिल...! 'वो दुनिया' संग्रह की प्रस्तुत कहानी यशपालजी की प्रतिनिधि कहानी कही जा सकती है। इसमें आर्थिक विषमता और वर्ग-संघर्ष का सुन्दर चित्रण हुआ है। किस प्रकार समाज का एक वर्ग है कि अपना खून-पसीना बहाकर भी अपना पेट नहीं पाल सकता, दूसरी ओर उच्च वर्ग के लोग कोठियों में रहते हैं, क्लब पार्टियों में गुल-छर्रे उड़ाते हैं। गरीब के बच्चे भूखे बिलखते हैं, जूठन पर झगड़ते हैं। अमीर-बुर्जुआ लोग गरीबों

को मानव ही नहीं समझते, उनके साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार करते हैं। मज़दूरी हाथ में भी नहीं देते, नीचे फेंक देते हैं। उनके मरने-जीने की बुर्जुआ लोगों को कोई परवाह नहीं। इस कहानी में रणजीत और केशव की बुर्जुआ मनोवृत्ति पर सजीव प्रकाश डाला गया है। रणजीत को गरीब कुली के गिर कर मरणासन्न हो जाने का कोई दुःख नहीं है, चिंता है, तो अपने कपड़ों की, अपने रैक्टों की। मानवीय निष्ठुरता का कैसा नग्न-प्रदर्शन है! पैसे वाले सब कुछ खरीद सकते हैं। रणजीत केवल ५) में गरीब की लाश खरीदता है—वह भी अपने रोमांस बिगड़ने की आशंका से, शशि का भाई गरीब बावर्ची की लड़की की इज्ज़त खरीद लेता है। गरीब विवश है, लाचार है। अपने पेट के लिए हैवानों का काम करता है। उसे मरते हुए को भी हस्पतालों में प्रवेश नहीं मिलता—न आदमियों के में, न जानवरों के में। जीवन की कैसी विषमतापूर्ण करुण कहानी है! छाती पर हाथ रखकर दर्दे-दिल की बात करने वाले बुर्जुआ रणजीत की कैसी खिल्ली शशि ने उड़ाई है—"मैं सोचती, यह दर्दे-दिल की दवा है...यह इन्सान के दिल और जिस्म का मोल है! सब कुछ खरीदा जा सकता है...।" शशि उसे व्यंग्य से "गुडबाई दर्दे-दिल!" कहती हुई चली जाती है। लेखक ने इस प्रकार के 'दिल फेंक' बुर्जुआ व्यक्तियों के प्रति घृणा प्रकट करके मानवीय संवेदना को जागृत किया है। कथा में उत्सुकता और रोचकता खूब है। कहानी की व्यंग्यपूर्ण चरम सीमा बहुत मार्मिक है। यशपालजी ने शशि के मनोभावों का अत्यन्त संक्षिप्तता के साथ सांकेतिक रूप में प्रकाशन किया है। भाषा-शैली सरल, सुबोध है और लेखक के हस्तलाघव को प्रकट करती है। लेखक ने बुर्जुआ पात्रों की ही उक्तियों से उन पर व्यंग्य किया है। भाषा भी मंसूरी, शिमले के साहब लोगों की हिन्दी है—पात्रानुकूल। संवाद बड़े सार्थक, संक्षिप्त, सजीव, व्यंग्यपूर्ण और रोचक हैं। कथा अपने शिल्प और लक्ष्य में पूर्ण सफल है। कथा का शीर्षक शशि का अंतिम वाक्य है, जिस में कृत्रिम दर्दे-दिल का ढोंग रखने वालों पर करारा व्यंग्य है! कथा की यह समाप्ति ठीक चरम सीमा पर हुई है।

गुडबाई दर्दे-दिल…… !

(घटना-वर्णन से कथा-आरंभ)

मंसूरी की एक खूब ढलुआ सड़क पर रिक्शायें आ-जा रहीं थीं। कुछ लोग पैदल आ-जा रहे थे। नीचे की तरफ़ जानेवाले लोग तेज़ी से जा रहे थे और ऊपर की ओर जानेवाले हाँफते हुए। रिक्शा की घंटियों की आवाज़, पहियों की घरघराहट और रिक्शा-कुलियों के हाँफने की आवाज़ आ रही थी। कुलियों के शरीर से पसीना बह रहा था। कुली बार-बार चिल्लाते थे—"बच के बाबू साब! बचो हुज़ूर! रोक के!…जोर लगाओ! दायें ओर!……बायें खींचो!"

एक रिक्शा जिसमें दो युवक सवार थे बहुत धीमे चल रही थी। रिक्शा का एक सवार क्रोध में कुलियों से बार-बार जल्दी चलने के लिए कह रहा था। कुली और ज़ोर से हाँफते थे और आपस में एक दूसरे के ज़ोर न लगाने की शिकायत करते थे।

दोनों सवारों में से एक ने कहा—"रणजीत, यार उतर जाओ। इससे तो कहीं जल्दी पैदल पहुँच जाते। यह लोग नहीं खींच सकेंगे। चढ़ाई ज़्यादा है।"

रणजीत ने उत्तर दिया—"**नहीं तुम बैठो, ए कुली! चलता क्यों नहीं? ……तमाशा करता है?**"

कु०—"हुज़ूर बहोत सखत ऊँचा है। चढ़ाई में हुज़ूर ऐसा ही जाता है।"

—"उतरो यार रणजीत!………हटाओ इस झगड़े को!…… बहुत बुरा मालूम होता है।"

र०—"**नहीं केशव, धूल से कपड़े और पैण्ट ख़राब हो जायेंगे।**… …अभी पहुँचे जाते हैं……।" कुलियों को सम्बोधनकर उसने डाँटा—"नहीं

चलेगा तो हम अभी उतर जाएगा—क्यों तुम कमज़ोर आदमी लाता है ? देखो, कितनी रिक्शा आगे चली गई ?"

(उच्च वर्ग का निर्दयतापूर्ण व्यवहार)

के०—"अरे ज़ोर क्यों नहीं लगाता तुम लोग ?"

कुली और ज़ोर से हाँफने लगे। रिक्शा दाईं ओर घूमकर खट से पहाड़ की चट्टान से टकरा गई।

"हैं, यह क्या ?" कहकर रणजीत रिक्शा से कूद गया।

के०—"हैं, कुली गिर गया ?—अरे देखो-देखो क्या हो गया इसे ?"

एक कुली—मर गया;······बेहोश हो गया !"

दूसरा कुली—"साँस चलता है·········ओ रमियाँ तू जा जल्दी पानी ला।"

(उत्सुकता और करुण कौतूहल)

रणजीत ने खिन्न स्वर में केशव से पूछा—"अब क्या होगा ? यहां रिक्शा कैसे मिलेगी ?···पहुँचेंगे कैसे ? यह लोग बड़े बदमाश हैं।······ केशव अब क्या करेंगे ? इन बरसाती कोटों और टैनिस के रैकटों को कौन उठायेगा ?

(मरते ग़रीब की चिंता नहीं, रैक्टों का फ़िकर)

—"देखो रणजीत, अब पैदल ही चले चलो !"

—"नहीं—नहीं,···ए कुली, किधर जाता है वो ?"

कु०—"हुज़ूर कुली गिर पड़ा, उसके लिए पानी लेने जाता है।"

र०—"उसे बोलो एक रिक्शा लेकर आये !"

के०—"क्या करते हो रणजीत ! जब तक रिक्शा आयेगी, हम कोठी पर पहुँच जायेंगे।"

जाती हुई एक खाली रिक्शा की ओर संकेत कर रणजीत ने कहा—"वह लो ! आ गई खाली रिक्शा।"

"वैल रिक्शा, घुमाओ ! पीछे को लौटो"--उसने नई रिक्शा को पुकारा।

दोनों व्यक्ति रिक्शा में बैठकर चल दिये।

(हृदयहीनता की हद)

पहली रिक्शा के एक कुली ने पुकारा—हुजूर हमारा पैसा ?"

र०—"तुम्हारा पैसा कैसा ? तुमने हमको रास्ता में छोड़ा...हमारा वक्त ख़राब किया......कोई पैसा नहीं।"

रिक्शा के चले जाने के बाद चुटिया कर गिरे क़ुली के चारों ओर आदमी इकट्ठे हो गये। एक पैदल जाने वाले सज्जन ने उस ओर देख कर पूछा—"इस कुली को क्या हुआ ?"

कु०—"हुजूर गिर गया—दम फूल के गिर गया।"

झुककर यह सज्जन बोले—"इसका सांस तो चलता है, मुँह में पानी डालो। इसके मुँह से खून कैसा गिर रहा है ?"

कुली—"सड़क का पत्थर लग गया हुजूर !"

दूसरे सज्जन—"**क्यों, तुम लोग यह जानवर का काम क्यों करता है ? तुम जानवर है जो गाड़ी खींचता है ?"**

—"**हुजूर पेट का** वास्ते......।"

दूसरा सज्जन—"**अरे भाई इनका कसूर क्या ?......कसूर है उन लोगों का जो इनकी ग़रीबी का फ़ायदा उठाकर इन्हें इन्सान से हैवान बना देते हैं ?"**[1]

भीड़ में से एक सज्जन ने द्रवित स्वर में कहा—अरे इसे हस्पताल क्यों नहीं पहुँचाते। शायद बच ही जाय।...मि० सिनहा, तुम चले जाओ, इन कुलियों के साथ। इसे हस्पताल पहुँचवा दो !"

सिनहा—"**हस्पताल ले जाऊँ ?......पर कौन से हस्पताल ? इन्सानों के या हैवानों के ?···और अगर दोनों ही हस्पतालों ने इसे लेने से इन्कार कर दिया......?"**

(जीवन की विषमता का कैसा कटुतापूर्ण सत्य है)

दर्द भरे स्वर में गाते हुए वे चले गये :—

"दर्दे दिल के वास्ते पैदा किया इन्सान को, वर्ना ताअ्रत[2] के लिये कम न थे कर्रोबियाँ[3] !"

× × ×

---

१. **वर्ग-विषमता और वर्ग-चेतना का संकेत**

२. **आज्ञा-पालन और प्रार्थना** ३. **उच्च फ़रिश्ते।**

(समाज के उच्च वर्ग का हाल देखिए)

बंगले के सामने लॉन में टेनिस का खेल ख़त्म होने के बाद लोग चाय पी रहे थे।

एक युवती ने पुकारा—"लिली, तुम्हारी इन्तज़ार में तो चाय ठंडी हो गई।"

लि०—"दीदी आई, एक मिनट......!"

समीप ही ग्रामोफोन पर रिकार्ड बज रहा था—

"उमरिया बीत गई सारी, न आया मन का मीत......
धोखा खानेवाले नयना हरदम धोखा नहीं खाते हैं......।"

हँसकर लिली ने कहा—"शशि दीदी, धोखा नहीं !...देखो,... सचमुच...वो आते हैं।"

कुत्ते के भोंकने और रिक्शा की घण्टी की आवाज़ सुन लिली ने पीछे घूम आती रिक्शा की ओर देखा—रणजीत और केशव रिक्शा में से उतरकर आ रहे थे।

रणजीत ने रिक्शा में दो रुपये फेंक दिये।

कुली—"हुजूर कुछ बकशीश मिलता !"

केशव—"अरे आठ आना तुम को बकशीश दिया और क्या लेगा ! जाओ, तुम्हारे लालच का ठिकाना नहीं।"

पहली रिक्शा का कुली जो साथ-साथ दौड़ता आया था, उसने पुकारा—"हुजूर हमारा रिक्शा का पैसा। हमारा रिक्शा तो हुजूर ने पहले किया था !"

र०—"किया था तो तुमने हमको पहुँचाया ? हम पैसा उसको देगा जो हमको पहुँचायेगा !"

केशव ने विस्मय से कहा—**"क्या जानवर है, मरते आदमी की फिक्र नहीं !......पैसे के लिये दौड़ा आया है।"**

(लेखक का लक्ष्य वक्ता ही है)

कु०—"हुजूर हमारा आदमी मर जायेगा तो हम क्या करेगा ?"

लिली के पिता ने सहमकर पूछा—"हैं ? क्या आदमी मर गया ?... ...आदमी कैसे मर गया ?"

उपेक्षा से रणजीत ने कहा—"ओ, नथिंगलाइक दैट...ऐसे ही दम फूल कर गिर पड़ा।"

वृद्ध ने कुली की ओर देखकर पूछा—"क्या तुम्हारी रिक्शा का कुली था ?"

कुली की ओर देखकर रणजीत ने उत्तर दिया—"जी हां, देखिये तो **इन लोगों का लालच ! जिस्म में ताक़त नहीं है तो तुम रिक्शा खींचने क्यों आते हो ? अपने पैसों के लिये दूसरे आदमी का वक्त ख़राब करेंगे.. बेशरम कहीं के !"**

कुली को धमकाने के लिये केशव ने कहा—"**क्यों तुम ऐसा कमज़ोर आदमी लाया ! तुमने हमारा सवा घण्टा ख़राब कर दिया।"**

लिली—"सवा घण्टा ?...डैडी, हम तो लायब्रेरी से यहां सैंतीस मिनिट में पहुँच जाते हैं। और रणजीत भाई रिक्शा पर सवा घण्टे में !"

उसकी बात न सुन केशव ने कहा—"कई दिन से कुछ कसरत नहीं हो पाती। बैठे-बैठे बदन मिट्टी हो रहा है।"

लिली के समीप पहले से बैठे हुए युवक ने कहा—"लेकिन लायब्रेरी बाज़ार से यहां तक पैदल आने में तो पूरी कसरत हो जाती है।"

रणजीत ने इस तिरस्कार का उत्तर देते हुए कहा—"**पैदल चलना एक बात है, कसरत दूसरी बात। सड़क पर पैदल आवारागर्दी करना क्या अच्छा लगता है ?**...Does not look decent !'

किसी को भी न सुनाकर वृद्ध ने नेत्र मूँद प्रार्थना की—भगवान ! इससे पहले कि मुझे लोगों के कन्धों पर चढ़कर चलना पड़े, मुझे इस दुनिया से उठा लेना ?"

शशि अब तक चुपचाप सुन रही थी। सीने पर हाथ रखकर घबराहट से उसने कहा—"मैं ज़रा जाऊँगी !"

रण०—"क्या बहुत थक गई टेनिस में !"

लिली ने धीमे से बताया—"नहीं, दीदी का दिल बहुत कमज़ोर है, उस दिन बिल्ली ने कबूतर को पकड़ लिया था तो दीदी रो पड़ी थीं।"

परिस्थिति संभालने के लिए रणजीत ने कहा—"हूँ ?...ए कुली, यह लो पाँच रुपया ! जाओ सिर न खाओ !"

(रुपये गरीब के प्रति दर्देदिल ने नहीं दिए हैं, बल्कि रोमांस के कृत्रिम दर्दे-दिल में विघ्न की आशंका से दिए गए हैं)

× × ×

शशि और रणजीत लान में देवदारों की टहनियों में से छनकर आती हुई चांदनी में बेंच पर बैठे थे। निस्तब्धता भंग करते हुए रणजीत ने कहा—"शशि,......शशि !......क्यों, चुप क्यों हो ?"

शशि—"हाँ, क्या कहते हैं ?......कहिये !"

गहरी सांस लेकर रणजीत ने कहा—"मैं चाहता हूँ...आज तुम ही कहो...मैं तो कई दफे कह चुका हूँ ?"

उसकी ओर न देख कर सिर झुका कर शशि ने पूछा—"आज क्या थक गये ?"

रण०-"कैसी बातें कर रही हो शशि ?...तुमसे कहने में थक जाऊँगा मैं ?...यही तो ज़िन्दगी की एक साध है ?"

बँगले से गाने की आवाज़ आ रही थी—

'उम्र' दराज़ माँगकर लाये थे चार दिन
दो आरज़ू में कट गये दो इन्तज़ार में ?'

रणजीत ने मुस्कराकर कहा—"देखो शशि, लिली मेरी वकालत कर रही है।......क्या सचमुच मेरी ज़िन्दगी आरज़ू और इन्तज़ार में ही कट जायेगी ?"

दूर क्षितिज की ओर देखकर शशि ने उत्तर दिया—"आरज़ू और इन्तज़ार !...मैं सोचती हूँ, एक बहुत बड़ी आरज़ू दिल में पैदा करूँ और फिर

एक मुद्दत तक इन्तज़ार करती रहूँ। छोटी-छोटी आरज़ूएँ किस काम की। आये दिन वह पूरी हो जाती हैं और **फिर ज़िन्दगी ऐसे भटकने लगती है जैसे इसका कुतुबनुमा खो गया हो।**"[1]

लम्बी सांस लेकर रणजीत ने कहा—"लेकिन मेरी जिन्दगी की आरज़ू इतनी मुश्किल है कि शायद उसे दिल में लेकर ही एक दिन मैं आंखें बन्द कर लूँगा...और शशि, उसके लिये कुछ ग़म भी नहीं...अगर एक आरज़ू में ज़िन्दगी ख़त्म हो जाय तो क्या बुरा है...मुझे इसी में संतोष है। **दर्देदिल की दौलत ज़िन्दगी में मैंने पाई है, उसी को लेकर ज़िन्दगी काट रहा हूँ।**"

शशि—"दर्द......दर्दे-दिल......कितना प्यारा शब्द है रणजीत ! जिसके मज़े में तमाम ज़िन्दगी गुज़ार दी जा सकती है। सच कहती हूँ रणजीत ! जब तुम विलायत में थे, तुम्हारी चिट्ठी के लिये मैं बरामदे में बैठी पोस्टमैन का इन्तज़ार किया करती थी। खाना खाने के लिये लोग बुलाते तो मालूम होता, फ़िज़ूल तंग कर रहे हैं। इन्तज़ार में कभी घड़ी की तरफ देखती—कभी पेड़ों की छाया की तरफ......।

"और जब पोस्टमैन आता सिर्फ़ दूसरी चिट्ठियां लिये, तब मैं बिस्तर पर औंधे मुँह लेट जाती। अब याद आता है तो सोचती हूँ—कितने मीठे और अच्छे दिन थे वे...!"

उत्साह से रणजीत ने पूछा—"और फिर......!"

शशि—"और फिर मैं सुबह चाय पीने न जाती। खानसामा चाय की ट्रे मेरे कमरे में रख जाता। मैं खाने का सामान उठाकर खिड़की से बाग में फेंक देती......!"

एक लम्बी साँस लेकर रणजीत ने कहा—"फिर...?"

शशि—"**फिर माली और साइस के बच्चे उन टुकड़ों के लिये झगड़ते और उनकी माँयें इस वजह से आपस में झगड़तीं।**"

(वर्ग-विषमता)

रस भंग से विक्षिप्त हो रणजीत ने कहा—"**जानवर कहीं के, फिर !**"

---

1. **सुन्दर उत्प्रेक्षा**

शशि—"फिर मैं सोचती; काश यह लोग दर्दे-दिल का मजा जानते तो इन टुकड़ों पर जान क्यों देते।"

रण०—"खूब ! शशि तुम बड़ी मसखरी हो.. फिर !"

शशि—"फिर मुझे नींद न आती। मैं खिड़की में सिर रखे पड़ी रहती और सुनती...।"

उत्साह से रणजीत ने पूछा—"क्या सुनतीं !"

शशि—"भैया कब से आधी रात गये आते गुनगुनाते हुए...लख्ते जिगर खाने को है, खूने जिगर पीने को। यह गिज़ा मिलती है लैली तेरे दीवाने को !" एक और बहुत धीमी-सी आवाज़ आती—"हुजूर आ गये ?" इस आवाज़ को मैं पहचानती थी..."

कौतूहल से रणजीत ने पूछा—"किसकी आवाज़ थी वह शशि ?"

शशि—"हमारे कश्मीरी बावर्ची की बड़ी लड़की की।"

आश्चर्य-कौतूहल से रणजीत ने कहा, 'सचमुच फिर...?'

शशि—"फिर भैया कोमल स्वर में कहते, नसीरन, अभी तक जाग रही हो ?...उदास क्यों हो नसीरन ?...अच्छा मुस्कराओ एक बार ?"

रणजीत ने उत्साह से कहा—"यह बात ! सचमुच, बड़े दिल-फेंक हैं ! अच्छा फिर !"

शशि..."मैं सोचती, यह दर्दे-दिल की दवा है...यह इन्सान के दिल और जिस्म का मोल है !...सब कुछ खरीदा जा सकता है...।"

रण०—"शशि, मेरा यह दर्द से भरा दिल तुम्हारे क़दमों में...।"

शशि—"हाँ; और तुम्हारे कदमों में पाँच रुपये में खरीदे हुए आदमी की लाश......?"

चौंककर रणजीत ने पूछा—"क्या मतलब......?"

शशि उठकर बंगले की ओर चल दी।

व्याकुलता से रणजीत ने पुकारा—"सुनो, कहां जाती हो ! एक बात सुनो ! एक बार...!"

हाथ हिलाकर शशि ने उत्तर दिया—"**गुडबाई दर्दे-दिल !**"

(व्यंग्यपूर्ण चरमसीमा पर समाप्ति)

प्रष्टव्य

१. 'गुडबाई दर्दे-दिल' कहानी में लेखक के उद्देश्य पर प्रकाश डालिए।

२. 'गुड बाई दर्दे-दिल' कहानी में यशपाल जी ने वर्ग-विषमता का बड़ा सुन्दर सजीव चित्रण किया है।"—इस कथन की पुष्टि कीजिए।

३. 'गुडबाई दर्द दिल' की संक्षिप्त समीक्षा करते हुए यशपाल जी की कहानी कला पर प्रकाश डालिए।

श्री अनन्त गोपाल शेवड़े (जन्म सन् १९१३)

बड़े हर्ष की बात है कि राष्ट्र-भाषा-हिन्दी की समृद्धि में अहिन्दी-भाषा-भाषी भी पिछले कई वर्षों से महत्त्वपूर्ण सहयोग दे रहे हैं। श्री अनन्त गोपाल शेवड़े ऐसे हिन्दी-सेवियों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मराठी-भाषा-भाषी होने पर भी, आप ने हिन्दी भाषा और साहित्य की समृद्धि में महत्त्वपूर्ण योग दिया है, और दे रहे हैं। बचपन से ही हिन्दी के प्रति आपकी रुचि थी। अपनी एम० ए० तक की शिक्षा प्राप्त करके आप पत्रकारिता की ओर लगे। लिखने-पढ़ने का शौक़ था। देश के स्वातंत्र्य संग्राम में भी आपने सक्रिय भाग लिया है। आप '४२ के राजनीतिक आन्दोलन में कैद हुए। कारागृह में अवकाश का समय आप लिखने-पढ़ने में ही लगाते थे। उसी जेल-जीवन में कई कहानियों, लेखों और दो-तीन उपन्यासों की आपने रचना कर डाली। आप बड़े प्रतिभा-सम्पन्न लेखक हैं। मराठी, अंग्रेज़ी और हिन्दी तीनों भाषाओं पर आपका पूर्ण अधिकार है, तीनों में लिखते हैं। पत्रकारिता के क्षेत्र में भी आपने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। आपने 'इंडिपेनडेंट' नामक एक अंग्रेज़ी साप्ताहिक की स्थापना भी की थी। सन् १९४७ में आप अंग्रेज़ी दैनिक 'नागपुर टाइम्स' के सहकारी सम्पादक नियुक्त हुए। आजकल इस पत्र की व्यवस्था का सारा कार्य आप स्वयं करते हैं।

आपका प्रथम उपन्यास 'ईसाई बाला' सन् १९३२ में 'चांद' में प्रकाशित हुआ था। इसी समय के लगभग आपकी पहली कहानी 'सन्दूक का मालिक' निकली। तब से आप निरन्तर साहित्य-रचना कर रहे हैं। 'ईसाई बाला', 'मृगजल', 'पूर्णिमा', 'निशागीत', 'व्यवधान' आदि आपके श्रेष्ठ उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं और 'ज्वालामुखी' नामक कहानी-संग्रह में आपकी श्रेष्ठ कहानियां संकलित हैं। आपकी असाधारण प्रतिभा को देखते, हिन्दी-जगत को आपसे बड़ी आशा है। आप एक सफल कहानीकार हैं। मानवीय संवेदना को तीव्रतम रूप में प्रकट करने की आपमें बड़ी शक्ति है। 'प्रतिमा' कहानी

में कलाकार की आत्मविस्मृतकारी तन्मयता का आपने मार्मिक चित्रण किया है।

डायरी के पन्ने : पाठकों को कहानी की डायरी शैली से परिचित कराने तथा सिद्धहस्त कलाकार शेवड़े की सरल, स्वाभाविक, निश्छल भाव-संवेदना और अभिव्यक्ति-शैली से अवगत कराने के लिए हमने यह कथा प्रस्तुत की है। डायरी शैली और पत्र-शैली मिलती-जुलती-सी होती हैं। इन दोनों में यद्यपि कहानी का कथा-शिल्प पूरी तरह उतर नहीं पाता, फिर भी आत्मकथा शैली के ये दोनों रूप महत्त्वपूर्ण होते हैं। इनमें एक विशेष प्रकार का निजीपन रहता है। श्री अनन्त गोपाल शेवड़े की 'डायरी के पन्ने' इस शैली की हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ रचना है। यह कथा भाव-प्रधान है, जिसमें आदर्श दाम्पत्य जीवन की एक अत्यन्त मधुर झांकी प्रकट की गई है। पति-पत्नी का सहज, मधुर, त्यागपूर्ण आदर्श प्रेम इसमें दर्शाया गया है। 'बाबू साहब' की पत्नी सुशीला के भावपूर्ण प्रेम-अनुभाव ही उसकी डायरी के पन्नों में प्रकट हुए हैं। ऐसी प्रेम-पगी, पति-परायणा पत्नी के निधन पर 'बाबू साहब' शोकाकुल हैं। 'डायरी के पन्नों' को पढ़कर उनका दुःख और भी तीव्र हो जाता है, किन्तु उनका दिल पस्त नहीं होता। जीवन का दामन वे हाथों से नहीं छोड़ते। उन्हें गर्व है "कि पौने दो बरसों में उसने जो उत्कट प्रणय-सुख पाया है, वह भी कितने लोगों को नसीब होता है!" डायरी शैली में एक सीमित कथा-विकास रहता है, यही कारण है कि 'डायरी के पन्ने' में आत्मानुभूत प्रेम-भावनाओं का ही प्रकाशन हुआ है। घटनाओं का भी विशेष वैचित्र्य नहीं रहता। चरित्र-विकास भी सीमित रहता है, क्योंकि डायरी निजी अनुभव का चित्रण ही प्रस्तुत करती है। फिर भी श्री अनन्त गोपाल शेवड़े को इस कथा में पर्याप्त सफलता मिली है। भाषा-शैली भावानुरूप पूर्ण समर्थ है। सरलता और प्रवाह उसके विशेष गुण हैं। निरलंकृत होते हुए भी भाषा-शैली प्रभावपूर्ण है। डायरी के बीच-बीच में संवाद सुन्दर हैं।

डायरी के पन्ने

"बस, अब सारा पैकिंग तो प्रायः ख़तम ही होगया है। बैठक का सब सामान लद गया है। सिर्फ़ दीवार पर वह कैलंडर है, सो पड़ा रहे। खानेपीने के बरतनभांडे भी बन्द हो गए; कपड़ेलत्ते, कुरसी, पलंग, तिपाई—सब कुछ। यह सोने का कमरा और देखना बाकी रहा है। इसमें की बहुत सी चीज़बस्त गाड़ी पर लद गई हैं—सिर्फ़ सुशीला का यह सन्दूक रह गया है।"

और ज्यों ही उसने उस सन्दूक को हाथ लगाया त्योंही उसका गला रुंध गया, आंखें भर आईं और हृदय में घोर उथलपुथल मच गई। सारी मीठी और दर्दभरी स्मृतियां उसके दिमाग़ में उमड़ पड़ीं।

ये उसकी साड़ियां, ब्लाऊज़, चूड़ियां, कर्णफूल, दम्पति का फ़ोटो, उसका अकेले का फ़ोटो, ऊन बुनने की सलाइयां, रंगबिरंगे सूत के गोले, कांच की सुन्दर-सुन्दर डिज़ाइन की शीशियां—न जाने कहां से इकट्ठी कीं! मासिक पत्रों के फाड़े हुए सुन्दर चित्र, 'गृहलक्ष्मी' नामक किताब, एक-दो नोटबुक, सिंदूर की चांदी की डिबिया...

"ओफ़!"

उसके मुंह से एक गहरा और दीर्घ वाष्पोच्छ्वास निकल पड़ा। जेब से रूमाल निकाल कर उसने अपनी आंखें सोख लीं।

फिर उसने वह नीले रंग की जिल्द वाली नोटबुक हाथ में ले ली। खोल कर देखा तो लिखा था: 'मेरी डायरी'। ऊपर एक कोने में छोटे अक्षरों में लिखा था: 'सर्वथा निज़ी'।

उसका संस्कारी हृदय एक मिनट के लिए हिचकिचाया कि वह यह डायरी देखे या नहीं। उसे पता भी नहीं कि सुशीला ऐसी डायरी लिखती थी और न कभी उसने इसके बारे में पूछताछ ही की थी।

किन्तु सुशीला उसी की पत्नी थी—उसी के प्राणों का प्राण और श्वासों का श्वास, तब उसकी डायरी देखने में क्या हर्ज है?

कुछ बचपन की घटनाएं लिखीथीं—स्कूल की, सहेलियों की, मातापिता की, ये पन्ने उसने जल्दी-जल्दी पलटाए। फिर देखा, एक सफे के बीचोंबीच बड़े अक्षरों में लिखा था : 'जीवन का दूसरा अध्याय—परिणय'।

उसकी दिलचस्पी एकदम बढ़ गई। वैवाहिक जीवन के बारे में उसकी पत्नी के क्या विचार थे—यह फिर से जानने के लिए वह आतुर हो उठा। एकएक पन्ना धीरेधीरे उलटने लगा। एक सफ़े पर लिखा था :

२० नवम्बर

मां ने बिदाई के वक़्त कहा था, "बेटी, तू घबराना मत। सावित्री जैसा तेरा सौभाग्य अटल रहे। पति ही अब तेरा इष्टदेव है और उसी का घर तेरा घर है। संसार सुखदु:ख का मेला है। ईश्वर करे तो सब ठीक हो जाएगा।"

मां की चरणधूलि और आशीर्वाद लेकर निकली। पिताजी को भी नमस्कार किया और अपना प्यारा घर छोड़ा। आंखों में आंसू थे। साथ में वह थे। खुद लिवाने आए थे।

मन में कई उमंगें थीं, आशंकाएं भी थीं, आतुरता और उत्कंठा थी, अनिर्वचनीय भीति भी थी। ईश्वर के भरोसे मैंने अपने जीवन की पतवार उनके हाथ में सौंप दी।

फिर लिखा था :

२७ नवम्बर

शांति ने मुझे कैसा डरा दिया था। माना कि वह मुझ से दो साल बड़ी है और उसका विवाह भी एक साल पहले हो चुका है। लेकिन मायका छोड़ते वक़्त उसने मुझे अलग बुला कर धीरे से कान में कहा था, "सुशीला, ख्याल रखना, पुरुष पशु होते हैं। तुझे भी वही अनुभव होगा।" मैं कितना घबरा गई थी। दिल धक्धक् करने लगा और सारे बदन में पसीना आगया। लेकिन आज दावे से कह सकती हूं कि शांति का कथन सरासर ग़लत था। और पुरुष वैसे होते हों तो हों, वह ऐसे बिलकुल नहीं हैं। हे ईश्वर, मैं तुझे किस तरह धन्यवाद दूं! मेरे जैसा सौभाग्य तू हर स्त्री को क्यों नहीं देता ?

४ दिसंबर

कल रात मेरा सिर दर्द कर रहा था। घंटे भर वह उसे अपनी गोदी में ले कर दबाते रहे। मैंने कई बार रोका, पर ना माने। संकोच के मारे गड़ गई तो बोले, "सुशीला, हम अब जीवनसाथी हैं न ? तुम्हारा दुःख, सो मेरा दुःख, और मेरा सो तुम्हारा नहीं है ?"

मेरी छाती आनंद और अभिमान से फूल गई। उनके बड़े-बड़े स्नेहशील हाथों की थपकियों से मुझे कब नींद आ गई, सो पता न लगा। जब घंटाघर में चार बजे तो हड़बड़ा कर उठी और देखा कि वह अब भी बिस्तर पर बैठे हैं और मेरा सिर थामे हुए हैं। सारी रात उन्होंने इसी तरह बिता दी, इस कलमुंहे ज़रा से सिरदर्द के लिए। कृतज्ञता से मेरी आंखों में आँसू आ गए। मैंने ज़बरदस्ती उन्हें सुलाया, तब कहीं जाकर वह सोए। भगवान, मैं तेरे उपकारों को किस तरह चुकाऊं ?

७ जनवरी

आज उन्होंने कहा, "सुशीला माँ के पास कुछ दिन रह आओ।" मुझे मन-ही-मन प्रसन्नता तो हुई, क्योंकि इस स्वर्गीय सुख के बावजूद मुझे माँ की याद अकसर आ जाया करती थी—इन सत्तरह वर्षों में एक दिन भी माँ से अलग नहीं रही थी। पर मैं उनकी बात सुन कर आश्चर्यचकित हो गई। शांति कहती थी कि मायके आने के लिए उसे हमेशा पति से झगड़ा कर के आना पड़ा हैं, लेकिन यहां तो बात ही और है। बेचारी शांति !

मैंने उन से कहा, "क्यों, आप मुझ से ऊब तो नहीं गए ?"

"नहीं, रानी, नहीं। तुम्हें पा कर तो मुझे ऐसा अनुपम सुख मिला है कि भगवान् वैसा सुख सबको दे। ऐसा मैं मन से कहता हूं।"

"तो फिर मुझे क्यों भगा रहे हैं ?"

"भगाता नहीं हूँ—आराम करने के लिए भेज रहा हूं। आते ही तुम्हें मेरी इस ग़रीब गृहस्थी में जुतना पड़ा है। देखो तो इस मेहनत से तुम्हारे गाल कैसे पिचक गए हैं। जाओ, ज़रा मां के पास रह लो, फिर

जब जी चाहे हरीताजी हो कर चली आना। पहली बार ही माँ से इतना वियोग अच्छा नहीं है।"

और वह खुद ही जा कर मुझे मायके पहुंचा आये। वह मेरी रुचि-अरुचि का कितना ख्याल रखते हैं!"

११ जनवरी

आने को तो घर आ गई हूं। मां भी बहुत खुश है, पिताजी भी। लेकिन चित उन्हींके पास धरा है। क्या खाते होंगे, कौन नाश्ता कराता होगा? कल उनका पत्र आया। मेरे जीवन का पहला प्रेमपत्र था। उसे पढ़ कर मैं रोमाँचित और पुलकित हो उठी। बड़े अचरज की बात है। दो महीने पहले मैंने उनकी सूरत भी नहीं देखी थी। सिर्फ़ इतना ही जानती थी कि उन से मेरा विवाह तय हुआ है। पर इतने स्वल्प अवकाश में मैं इस तरह दीवानी कैसे हो गई कि उनकी ही मूर्ति मेरी आँखों के सामने हमेशा सोतीजागती रहती है। आए तीन दिन भी नहीं हुए हैं, इच्छा होती है कि वापस चली जाऊं। पर ऐसा करना क्या ठीक होगा?

१४ फरवरी

माँ से लड़झगड़ कर ज़बरदस्ती बिदाई करवा ली है। एक महीना तो किसी तरह बीता, लेकिन मेरा मन वहाँ नहीं लगता था, सो यहां चली आई। मैं तो उन्हें देखते ही खिल उठी, लेकिन वह? वह इन चौंतीस दिनों में सूख कर कांटा हो गए। हाय राम! अब तो कभी मायके नहीं जाऊंगी। जाने उन्हें क्या-क्या तकलीफ़ें बरदाश्त करनी पड़ी होंगी।

१५ फ़रवरी

मेरे आगमन के उपलक्ष्य में वह कल एक साड़ी खरीद लाए। मुझे बड़ा दु:ख हुआ। उनके पास सिर्फ़ एक ही धोती-जोड़ा साबुत है, बाक़ी सब फटे हैं। वह दफ़्तर जाते हैं, भला उनकी ज़रूरत ज्यादा है या मेरी? मैंने रोष्रो कर वह साड़ी वापिस करवा दी। पूछा, "क्या आप मुझे और स्त्रियों की तरह समझते हैं जो आभूषणों और वस्त्रों के लिए लालायित रहतीं हैं?

मेरे सब से बड़े अभूषण तो आप ही हैं।" वह गद्गद् हो गए, और हमारा झगड़ा मिट गया।

डायरी के उन अवतरणों को पढ़ने में वह लीन हो गया। **दिल को थामे और भावनाओं को लगाम लगाए वह आगे पढ़ता गया।**

२० मार्च

बेमौसिम की बारिश हुई और मुझे गए इतवार को बुखार चढ़ आया। इतने ही में उनका चेहरा फक पड़ गया। डाक्टर ने कहा कि इंफ़्लुएंज़ा मालूम होता है—सर्दीखांसी हो गई है। एक रात, दो रात, तीन रात जागते रहे। मैं शरम से मर गई। सुनते भी तो नहीं, बड़े ज़िद्दी हैं। इतनी सी बीमारी में इतना बेचैन होने की क्या ज़रूरत ? पर सच कहूं, उनकी यह एकाग्र शुश्रूषा देखकर दिल भर आता है। ऐसा पति पाने के लिए परम सौभाग्य चाहिए। पुराने जन्म का पुण्य होगा।

२७ अप्रैल

कल मालूम हुआ कि दवा और टानिक के लिए पैसे नहीं थे, इसलिए उन्होंने अपना क़ीमती फ़ाउंटेनपेन बेच दिया। हरे राम ! वह उनके अभिन्न दोस्त का दिया हुआ था और उसे वह बड़े यत्न के साथ रखते थे। यह नौबत आ गई, और सो भी मेरे कारण ! आग लग जाए इस बीमारी को। हम ग़रीबों का तो सत्यानाश कर देती है। पर उन्होंने तो यह घटना हंस कर टाल दी। मैं संकुचित हो उठी।

१५ मई

कल वह अकस्मात् पूजन के समय पीछे से आ कर खड़े हो गए। मैं ठाकुरजी को चंदन लगाकर उनकी फ्रेम में जड़ी हुई तसवीर पर फूल चढ़ा रही थी। वह बोले, "पगली, यह फोटो यहाँ क्यों लगाया है ? यह तो ठाकुरजी का अपमान है।" मैंने चट से जवाब दिया, 'नहीं, यह मेरे ठाकुरजी का उचित आदर है।" वह आनंद-विह्वल हो कर बोले, "सुशीला, मैं इस मानस-पूजा के लायक नहीं हूं।" मैंने कहा, "आप जिस लायक़ हैं उसका दसवाँ हिस्सा भी मुझ से नहीं हो पाता है।"

१० अक्तूबर

गए चारपांच महीने बाद मेरा स्वास्थ्य अच्छा रहा। वैसे मेरी सेहत बुरी नहीं है, लेकिन अब तो मैं उसकी फ़िक्र कर रही हूं। अब दीवाली आ रही है। मौसम बदलने के कारण तो और भी अच्छी तबीअत हो जाएगी।

२७ अक्तूबर

मैं दीवाली मनाने की तैयारियाँ कर रही थी, तो उन्होंने कहा, १८ नवंबर को हमारे मिलन की वर्षगांठ है, उसे ही मनाना चाहिए। वही हमारी दीवाली है। बड़ी अच्छी कल्पना है। विवाह को एक वर्ष हो रहा है, समय कितनी जल्दी बीत गया, मालूम तक न पड़ा। अगर यह स्वर्ग नहीं तो और क्या है? जीवन क्या एक व्यक्त संगीत है?

१९ नवंबर

कल विवाह की वर्षगांठ मनाई। मैंने वही साड़ी पहनी जो विवाह के दिन पहनी थी। उन्होंने भी वही पोशाक पहनी। वह बाज़ार से दो सुन्दर मोगरे के हार लाए थे। ठाकुरजी की मूर्त्ति की साक्षी में हम ने फिर वे हार एकदूसरे को पहनाए और उस मंगल दिवस की पुनरावृत्ति की। उस दिन उन्होंने मेरा नाम 'लक्ष्मी' रखा और कहा कि जब से मैं उनके घर में आई हूं तब से उनका जीवन स्वर्ग की तरह सुखमय हो गया। मुझे लगा कि वह मेरे ही विचार व्यक्त कर रहे थे। मेरे आनंद की सीमा नहीं है। सिवाए इसके कि यह आनंद अक्षय रहे, मुझे ईश्वर से और कुछ नहीं मांगना है।

२२ दिसम्बर

आज मैं खाना बना रही थी। बनातेबनाते जी ऐसा मिचलाने लगा कि फिर मुझे उठ कर गुस्लख़ाने में जाना पड़ा। क़ै हो गई। वह बैठक में थे। दौड़े-दौड़े आए और प्रेम से पीठ पर हाथ फेरने लगे। उनके मृदुल स्पर्श से मुझे बड़ी सेहत मिली। उन्होंने कहा, "देखो, सुशीला, आग के पास बैठने से तुम्हारा पित्त भड़क गया है, आज ये गूझे न बनातीं तो न चलता? अब चलो, ज़रा नींबू का आचार खा कर लेट जाओ। बाक़ी खाना

मैं बना लूंगा । मैं आनाकानी करती रही । लेकिन उन्होंने ज़बरदस्ती मुझे ज़मीन से उठा कर पलंग पर लिटा दिया और ऊपर से कंबल ओढ़ा दिया और खुद चूल्हे के पास बैठ गए ।

मैं उन से कैसे कहूं कि आज क़ै क्यों हो गई है और आज मुझे खाने की इच्छा क्यों हो गई । लाज लगती है । और उसी भावना से प्रेरित होकर मैंने अपना मुंह दीवार की तरफ फेर कर ढांक लिया । उन्हें आप ही पता लगे तब...

१७ जनवरी

वह जब दफ्तर से लौटे तो मैं जरसी बुन रही थी । देखकर पूछा, "क्या स्वेटर बुन रही हो ?" मैंने जवाब दिया, "नहीं ।" फिर जब उन्होंने नज़दीक से देखा तो उनके **दिमाग में उजियाला हुआ** । अवाक् हो गए । बोले, "समझा ! रानी की **गोदी भरने वाली है** ।" मैंने शरम से अपना मुंह दोनों हाथों से ढांक लिया । उन्हों ने अपने हाथों से मेरी ठोडी ऊपर उठा कर मेरी आंखों में देखा । उनकी आंखें वात्सल्य की पवित्र आभा से चमक उठीं । उनके नेत्रों का वह भाव मैं कभी नहीं भूल सकती । उस दिन से तो वह मुझे फूल की तरह लिए रहते हैं, कहीं कोई ज़रा सी भी तकलीफ़ न हो । मैं कहती हूं क्या मैं ही स्त्री हूँ जो दुनियां में मां बनने जा रही हूँ । लेकिन उनका व्यवहार ऐसा है मानो यही बात है ।

२० जनवरी

कल रात को हम लोगों में झगड़ा हो गया । वह कहने लगे, "मुझे लड़की प्यारी लगती है, लड़की ही होनी चाहिए और वह भी तुम्हारी जैसी सुन्दर ।" मैंने कहा, "मैं उस लड़की को हाथ भी नहीं लगाऊंगी । मुझे तो लड़का चाहिए, जो ठीक आप जैसा हो ।" इस झगड़े को मैं इतनी दूर तक ले गई कि रूठ कर मुंह फेर लिया । उन्होंने मुंह घुमा कर कहा, "अरी पगली, यह क्या अपने हाथ की बात है । जो ईश्वर चाहेगा सो ही होगा । इस में अभी से झगड़े की क्या बात है ?"

पर मुझे उस झगड़े में खूब आनंद आया । वह मुझ से इतने प्रसन्न

हैं कि मेरी ही प्रतिमा को फिर देखना चाहते हैं। तभी तो शांति कहती है कि न जाने मैंने उनपर क्या जादू कर दिया है। किसने किस पर जादू किया, यह आज भी बहस की बात है। हम दोनों तो इसे अब तक तय नहीं कर सके हैं।

२३ जनवरी

उन्होंने दफ़्तर पैदल जाना शुरू कर दिया है। तीन आदमी एक टांगा करते थे, सो बंद है। दैनिक अख़बार नहीं ख़रीदते हैं। कहते हैं, लाएब्रेरी में चार आने में पांच-छः अख़बार पढ़ने को मिल जाते हैं। दूध भी कम कर दिया है, पर अपना हिस्सा ज़बरदस्ती मुझे पिलाते हैं। कहते हैं, बच्चे के पोषण के लिए आवश्यक है। नया कोट बनाने वाले थे, सो कहा कि अगले साल बनवाएंगे। जो चप्पलें फेंक दी थीं उन्हें फिर ठीक करा कर काम में ले आए। मैंने पूछा, इतने त्याग की क्या ज़रूरत? कहते हैं कि प्रसूति के लिए रुपया इकट्ठा कर रहा हूँ। डाक्टर और दवा में ज़रा भी कमी न होनी चाहिए। लेकिन त्याग की भी तो हद होती है।

११ फरवरी

कल बहस हुई कि प्रसूति कहां होगी। वह बोले, "कहां होगी, अस्पताल में होगी और कहां होगी?" अरे दैया रे, अस्पताल में? न जाने कितने रुपये लगेंगे। मैंने सुझाया, "मां के यहां सस्ते में काम हो जाएगा।" "उस देहात में," उन्होंने पूछा, "जहां डाक्टर चिराग़ से ढूंढ़े न मिले? नहीं, यहीं अस्पताल में होगी और वहां से मां को भी यहीं बुला लिया जाएगा। अभी पांच-छः महीने हैं। तब तक काफ़ी रुपया इकट्ठा हो जाएगा। फ़िक्र मत करो।"

"अच्छा, लो नहीं करती फ़िक्र।"

१७ अप्रैल

कल मुझे डाक्टरनी के यहां दिखाने ले गए। एडवांस में तीन रुपये रखा लिए उसने। लूट है लूट! तीन रुपये में उनके लिये एक जोड़ी चप्पल नहीं आ जाती? कहते हैं, मैं बग़ैर टोपी के दफ़्तर जाने लगूंगा। आजकल यही तो फ़ैशन हो रहा है।

१३ जून

जैसे-जैसे दिन नज़दीक आ रहे हैं, आनन्द की एक सूक्ष्म अनुभूति से दिल भर आता है। जो जीव अन्तर में छिपा है उसके लिये ममता बढ़ती जा रही है। भगवान, उनकी मत सुनना मेरी सुनना। उन्हीं जैसा लड़का हो। हां, लड़का ही तो होगा। मुझे पूरा भरोसा है।

१६ जून

आज सुबह ठाकुरजी की आरती उतार रही थी तो हाथ से नीराजन गिर पड़ा और फ़ौरन बुझ गया। बड़ा अपशकुन होगया। दिल में ऐसा खटका हो गया है कि तब से किसी काम में मन नहीं लगता। इसका क्या अर्थ है—राम जाने। हे ईश्वर, सब कुछ करना पर उन्हें बिलकुल सुखी रखना। उनसे मैंने यह बात नहीं कही है, न कहूंगी। नहीं तो वह आज ही से चिन्ता करने लगेंगे। मेरा हाथ अचानक पेट पर गया।

२ जुलाई

मां को इत्तला जा चुकी है और वह अगस्त के पहले हफ्ते में आने वाली हैं। उनके सुख का क्या ठिकाना! नाती का मुँह देखने की खुशी में उन्हें नींद नहीं आती। मां, तेरी ममता बड़ी विचित्र है। वह अब निश्चिन्त से हो गए हैं।

१५ जुलाई

आज सुबह से ही बड़ी बेचैनी है। जल्दी ही दम फूल जाता है और पेट में दर्द होने लगता है। अजीब है यह दर्द। उनसे कहा तो वह चिन्तित हो गए। पर अभी समय तो नहीं आया है—काफ़ी दूर है। लेकिन वह आज ही जाकर डाक्टर से बात कर आए हैं और कमरा भी तय कर लिया है। कहने लगे, "महीने दो महीने पहले से ही रिज़र्व करना अच्छा होता है।"

१७ जुलाई

आज फिर वह तीखा दर्द उभड़ आया था—परसों से ज़्यादा सख्त और तेज़। सोचा कि बरदाश्त नहीं होगा। लेकिन फिर दो घंटे के बाद कुछ आराम हो गया। अब भी थोड़ा है। वह दफ्तर गए हैं और अकेले जी भी

तो नहीं बहलता। इसलिए डायरी ही क्यों न लिख डालूं ! क्यों न मां को बुला लूं ! आज उनसे कहूँगी। एकाध महीना पहले ही आ जाएं तो क्या हर्ज है ?

१८ जुलाई

मां को चिट्ठी तो चली गई कि फ़ौरन आजाओ। पर यह दर्द—हाय! उफ़ ! कैसी गहरी कसक है। लो, अब चला गया। अब कुछ आराम है। पर अब न लिख सकूंगी। यह सब कुछ निबट जाने पर ही फिर अपनी डायरी जारी रखूँगी—ओह !

इसके बाद वह आगे डायरी न देख सका। आँसुओं से उसकी आंखें धुँधली हो गईं और गरम पानी की बूँदें उसके पन्नों पर टपटप पड़ने लगीं।

लेकिन मन की आंखों के सामने उसे वे सब दृश्य दिखाई दिए, पड़ौसी रामू का साइकिल पर दफ्तर में घबरा कर इत्तला देना कि भौजी की तबीअत ख़राब है, नर्स का बुलाया जाना, डाक्टरी जांच, डाक्टरनी का चिन्ताग्रस्त चेहरा और फ़ौरन अस्पताल में दाखिल करने की सलाह, फिर रात ही को नौ बजे मृत बालक का जन्म, आपरेशन, रक्त का अविरल प्रवाह और प्रातःकाल पांच बजे माता की जीवनज्योति का अन्त—सातवां महीना !

वे सब भयंकर दृश्य उसके अन्तःचक्षुओं के सामने नाच उठे और उसने बेबसी से अपना अश्रुप्लावित चेहरा उस खुले सन्दूक के ऊपर ही रखी हुई डायरी पर टिका दिया। भावनाओं का आवेग झरझर बहने लगा।

बाहर से गाड़ी वाले की आवाज़ आई : "हो गया सब सामान, बाबूजी, कि अभी कुछ बक़ाया है ? जल्दी करो, घोड़ा बेसब्र है—दाने का वक़्त हो रहा है।"

उसने शायद कुछ सुना नहीं। फिर ज़ोर की और कुछ गुस्से की आवाज़ आई : "बाबू साहब !"

उसे होश आया। पत्नी की साड़ी से उसने अपनी आंखें पोंछी और सन्दूक में वह डायरी हिफ़ाजत से रख कर उसे बन्द कर दिया।

आखिरी बार उसने उन सब कमरों को, आले और खिड़कियों को, जहां उसके पौने दो वर्षों के स्वर्गतुल्य जीवन की स्मृतियां अवशेष थीं, जी भर कर देख लिया और फिर एक गहरा निःश्वास लिया। मन-ही-मन कहा, चलो भाई और कहीं बसेरा करें।

इतने दारुण दुःख के बाद भी जब वह मकान की सीढ़ियां उतर रहा था, तब उसके पैर नहीं लड़खड़ा रहे थे। उसके क़दमों में एक विचित्र ताक़त का भान होता था और उसके तौरतरीक़े से मालूम पड़ता था कि **जीवन का दामन उसके हाथ से छूटा नहीं है।**

उसकी उमर मुश्किल से सत्ताईस वर्ष की होगी और **उसके यौवन के उद्यान में अभी से श्मशान की आग जल रही है।**

फिर भी उसका **दिल पस्त नहीं हुआ है।** यह ख्याल कि इन पौने दो बरसों में उसने जो उत्कट प्रणय-सुख पाया है, वह भी कितने लोगों को नसीब होता है, उसे राहत दिये हुए है। इसी मधुर स्मृति की शक्ति ने मानो उसे अमीर बना दिया है, जैसे उसके हृदय में कोई अमूल्य निधि छिपी हुई हो।

इसी ख्याल की गरमी में वह छाती ताने और सिर ऊंचा किए बोल उठा, "चलो, चलें, गाड़ी वाले। देर हो रही है।"

प्रष्टव्य

१. **"डायरी और पत्र शैली भी आत्म-कथा शैली के ही रूप हैं, किन्तु इनमें कथा-शिल्प का चरम विकास कठिन ही रहता है।" इस कथन की विवेचना 'डायरी के पन्ने' के आधार पर कीजिए।**

२. **"डायरी के पन्ने' आदर्श दाम्पत्य प्रेम की मधुर झांकी प्रकट करती है"—इस कथन की पुष्टि कीजिए।**

श्री चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'

निठुर नियति कभी-कभी हृदय-विदारक आघात किया करती है। श्री हृदयेश जी का यौवन-प्रसून अभी अच्छी तरह खिला भी नहीं था, अभी उसकी दिव्य सौरभ विश्व-समीर ने अच्छी तरह चुराई भी नहीं थी, कि वह मुर्भा गया। केवल २८ वर्ष की अल्प-आयु में हृदयेश जी का निधन हो गया। आपका जन्म सन् १८९९ में पीलीभीत के एक सम्पन्न कायस्थ कुल में हुआ। आपकी असमय मृत्यु ने हिन्दी साहित्य की आशा-लता पर वज्रपात कर दिया। आपका बाल्य-काल सरल मस्ती और अल्हड़ता में व्यतीत हुआ। देहरादून और मंसूरी में रहने के कारण, प्राकृतिक पहाड़ी वातावरण ने आपकी सौन्दर्य-दृष्टि और कला-प्रियता को जगाया। आप को सच्चा कवि हृदय प्राप्त हुआ। आपने बी० ए० तक शिक्षा पाई थी। कुछ समय आप 'इण्डियन डिफेंस फोर्स' में रहे।

आपने अत्यन्त अल्प काल में भी हिन्दी कथा साहित्य को जो कुछ दिया है, उससे आपका नाम चिर-स्मरणीय रहेगा। 'मनोरमा' और 'मंगल-प्रभात' नामक दो उपन्यास भी आपने लिखे। आपकी सुन्दर भावात्मक कहानियाँ 'नन्दन-निकुंज' और 'वनमाला' नामक दो संग्रहों में संकलित हैं।

कहानी-कला और 'उत्सर्ग' : हृदयेश जी ने हिन्दी कहानी की विशिष्ट शैली का निर्माण किया। आप अपनी अलंकृत, मनोमुग्धकारी, भावप्रधान, कल्पनापूर्ण कवित्वमय गद्य-शैली के लिए प्रसिद्ध हैं। हिन्दी में बाण-भट्ट और दण्डी की कवित्वपूर्ण शैली के दर्शन आपकी कहानियों में ही हो सकते हैं। आपके गद्य में भी कविता का सा मजा आता है। उपमा-उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकार सर्वत्र पाए जाते हैं। कथा के बीच-बीच में जीवन-अनुभव से पूर्ण टिप्पणियाँ देने की भी प्रवृत्ति आप में पाई जाती है। यही कारण है कि आपकी कहानियों में निबंध, कविता और कहानी तीनों के तत्त्वों का सुखद

सम्मिश्रण है। कल्पना और भावुकता से युक्त संस्कृत-गर्भित शब्दावली का आपने सुन्दर प्रयोग किया है। कहीं-कहीं शैली में दुरूहता आ गई है।

आपकी कहानियों में संयोग और आकस्मिक घटना का ही आधार रहता है। प्रस्तुत कथा में बाबू विजयचन्द्र की पहली तत्नी की मृत्यु, फिर स्वयं उनका असमय ही निधन संयोगपूर्ण घटनाएँ ही हैं। किन्तु यह आधार मात्र रहता है। वे क्षीण से कथा-सूत्रों को अपनी भावुकता के बल पर विस्तार देते हैं। अत: घटना पर आधारित होने पर भी कथा में भावपूर्ण विस्तार ही रहता है। अत: कथा की गति बिल्कुल मंथर रहती है। हृदयेश जी कला-लाघव से काम नहीं लेते। भावुकता की अधिकता कथा की गति में भी बाधा उपस्थित करती है। 'उत्सर्ग' कहानी में वर्तमान छोटी कहानी के हस्तलाघव की कमी है। अपनी भाव-संवेदना को लेखक झट-पट चरम-सीमा पर तीव्र गति से पहुँचाने की प्रवृत्ति नहीं रखता। कथागत जिज्ञासा और कौतूहल की मात्रा भी उनकी भावप्रधान शैली में बहुत कम रहती है। इस पुस्तक में कथा-शिल्प की दृष्टि से यह कहानी दोषपूर्ण है। इसका इतना लम्बा भावपूर्ण विस्तार इसके कथानक तत्त्व को असफल सिद्ध करता है। इससे पाठकों को स्पष्ट हो जायेगा कि संक्षिप्तता और तीव्रता का गुण ही आधुनिक कहानी को श्रेष्ठ बनाता है। न तो इसका विकास ही तीव्र और उत्सुकतापूर्ण है, न अन्त। कथा के अन्त का पूर्वाभास भी हो जाता है। अन्त भी चरम-स्थिति पर नहीं होता।

हृदयेश जी आदर्शवादी लेखक हैं। आपका आदर्शवाद भी परम्परागत है। आपकी कहानियों में सेवा, त्याग, बलिदान, आदर्श प्रेम, पातिव्रत्य, आत्म-शुद्धि आदि की उच्च भावनाएं पाई जाती हैं। 'उत्सर्ग' कहानी हृदयेश जी की श्रेष्ठ आदर्शवादी भावप्रधान कहानी है। यह उनकी कहानी कला का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है। प्रेमचन्द, विश्वंभरनाथ शर्मा, ज्वाला दत्त शर्मा आदि की तरह हृदयेश जी की कहानियों में भी व्यावहारिक आदर्श की पूर्णत: रक्षा हुई है। प्रस्तुत कहानी में कला का 'उत्सर्ग'—त्याग और बलिदान बड़ा ही भव्य है। वह अपने कर्त्तव्य को बड़ी तन्मयता के साथ पूरा करते हैं। प्राचीन

भारतीय आदर्श सती-साध्वी का ही वह आधुनिक रूप है। वह अपना कर्त्तव्य पूरा करके—अपने पति के अन्तिम आदेश का पालन करके पति-चरणों की प्राप्ति के हेतु आत्मोत्सर्ग कर देती है। एक तरह से वह सती का कार्य ही करती है। अपनी तन्मयी साधना से अपने अधर को उच्च मानव बना देना तो उसके सुन्दर त्याग का द्योतक है, किन्तु बाद में पति के पद-पद्म पाने के लिए दुनिया से उत्सर्ग कर जाना आज के पाठक को बहुत अच्छा न लगेगा। प्राचीन विधवा नारी के आदर्श को वह खूब निभाती है। वह कहती भी है—"स्त्री का सतीत्व भी वैधव्य की कठोर यातना में पूर्णरूप से प्रमाणित होता है।...वैधव्य-व्यथा पति की पवित्र स्मृति-सरिता से सदा शीतल बनी रहे।" वह अधर के पूर्ण विकास की आशंका से अपने पितृ-गृह भी नहीं जाती। विमाता का एक चित्र आपने श्रीमती होमवती देवी की 'माँ' कहानी में पीछे देखा, दूसरा उससे बिल्कुल उल्टा आदर्श चित्र इसमें मिलेगा।

इस में कला के ही चरित्र की आदर्श झाँकी मिलती है। 'रूपा की आजी' की तरह आरंभ में तो कलावती को भी लोकापवाद का कुछ सामना करना पड़ता है, किन्तु वह अपनी एकांत तन्मयी साधना के कारण समाज के अभिशाप और अत्याचार से बची रहती है। 'रूपा की आजी' से उसकी परिस्थितियाँ भिन्न हैं, नहीं तो शायद उसका भी वही हाल होता, जो 'रूपा की आजी' का हुआ। कहानी में संवाद भी लम्बे भावपूर्ण हैं। कवित्वपूर्ण वातावरण सर्वत्र है। शैली की विशिष्टता द्रष्टव्य है।

उत्सर्ग

सारा गांव एक स्वर में चिल्ला उठा कि कलावती विष-कन्या है; पिशाचिनी है; राक्षसिनी है, पूर्वजन्म की भयंकर पापिन है; उसके देखने मात्र से पाप लगता है। उसकी छाँह पड़ने से शरीर अपवित्र हो जाता है; उसका बोल सुनने से अपशकुन होता है। युवती-मण्डल उसे देखते ही किसी भावी अमंगल की आशंका से उद्विग्न होकर उसके निवारण के लिये देवता को प्रसाद चढ़ाने का संकल्प करता; वृद्ध समाज उसे देखकर उसके पूर्वकृत पापों के लिये उसे धिक्कारता। गांव के उत्सव उसके लिये मरण-समारोह हो गये; तीज का त्यौहार उसके लिये रुदन-दिन हो गया। पर कलावती छाती पर वज्र बाँध कर सब सहने लगी। उसने किसी से कुछ न कहा; किसी के मर्म-भेदी व्यंग को सुन कर उसने उसे कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। वह अपने मन में ही कुढ़-कुढ़ कर अपना व्यथामय जीवन व्यतीत करने लगी। उसका एक प्रधान उद्देश्य था और वह उसी उद्देश्य की पूर्ति में तन, मन, प्राण से लग गई। अपने पति-देव की अन्तिम आज्ञा का पूर्ण रूप से पालन करने के लिये ही वह विश्व के व्यंग-बाण अपने कोमल वक्षस्थल पर निर्विकार होकर सहती रही। मुँह से उसने किसी के सामने आह तक नहीं निकाली।

प्रथम सौभाग्य-रात्रि के अवसान के साथ-साथ ही उसका सौभाग्य-चन्द्र भी सदा के लिये अस्त हो गया था। जिस कुक्षण में वह अपने पिता के यहाँ से अपने परमाराध्य पति के पवित्र घर में आई थी, उसके दूसरे ही दिन उसके हिम्र-शुभ्र ललाट का सिन्दूर दैव के कठोर विधान से पुछ गया। प्रथम रात्रि के शुभ मिलन के उपरान्त ज्योंही प्रातःकाल के समय उसके आराध्य देव विलासमय कक्ष से बाहर आये, त्योंही उनकी तबीयत घबड़ाने लगी। गर्मी के दिन थे—पहले तो कला ने समझा कि वह गर्मी से उत्पन्न होने वाली साधारण-सी व्याकुलता मात्र थी; पर जैसे-जैसे दिन चढ़ता गया तैसे-तैसे वह साधारण-सी व्याकुलता असाधारण वेश धारण करती गई और

देखते-देखते वह विभीषिकामयी विसूचिका[1] में परिणत हो गई। और सायं-काल होते-होते वे इस नश्वर धरा-धाम को छोड़ कर अक्षय स्वर्ग को चले गये। जिसने पहली रात्रि को पति के पर्य्यंक पर आनन्द से उन्मादिनी होकर अपने परमाराध्य परमेश्वर के प्रणय-पूर्ण वक्षस्थल का शीतल-विलासमय आलिंगन प्राप्त किया था, वही नूतन वधू दूसरी रात्रि के आते-आते—बारह घंटे बीतने से पहले ही—अपने प्राणेश्वर के मृत-शव के पूज्य पाद-पद्म में पतित होकर हाहाकार करने लगी। हा! दैव का कैसा कठोर, कैसा निर्मम, कैसा भयंकर विधान है!

यही कारण था कि सारा गांव कला को विष-कन्या कहने लग गया था। संसार की गति ऐसी ही है कि वह दारुण दुःख में सहानुभूति दिखाना तो दूर, और उल्टे उसे पूर्व जन्म के पापों का अवश्यंभावी परिणाम कह कर घृणा करने लगता है। यह विश्व व्यथा को देखकर आँखों में आँसू भर लाना तो दूर; प्रत्युत मरते हुए के मुख पर दो लातें और मारना जानता है। यही कारण था कि सारा गांव का गांव, युवती-युवक-बाल-वनिता सब के सब कलावती के सिन्दूर पुछ जाने पर उसके दुःख में रोये तो नहीं, और उसके प्रति घृणा से भरा हुआ निर्दयता का व्यवहार करने लगे। बेचारी निःसहाय, निर्बल विधवा इन सब दुर्वाच्यों को, दुर्व्यवहारों को चुपचाप घर के निभृत कोण[2] में नीरव रुदन करके, मध्यरात्रि के घन अन्धकार को अपनी वेदनामयी निश्वास से कण्टकित करके एवं अपने हृदय के उत्थित हाहाकार को, अपूर्व संयम से दमन करके, सहती रही।

वह समय की प्रतीक्षा करने लगी। वह एक प्रकार से कठोर तप में प्रविष्ट हो गई और उस दिन के आगमन की बड़ी साध से बाट देखने लगी जिस दिन के लिये उसने इस व्यथित जीवन की रक्षा की थी। उसी दिन के लिये उसने अपने ललाट का उज्जवल सिन्दूर पुछ जाने पर, उस पर तप्त

---

१. हैज़े जैसा भयानक रोग
२. एकान्त कोना

श्रंगार रख लिया था; हाथों की चूड़ी तोड़ कर उनमें उसनें दुःख की हथकड़ी पहन ली थी; पैरों के नूपुर निकाल कर उनमें उसने व्यथा की बेड़ी डाल ली थी और अपने स्वर्ग-सदृश सदन को उसने कठोर कारागार में परिणत कर दिया था। कलावती बन्दी-जीवन व्यतीत करने लगी। छोड़ दिया उसनें संसार के मोह को; तोड़ दिया उसने सम्बन्ध समूह को, त्याग दिया उसने उल्लासमय उत्सव को, ठोकर मार दी उसने जीवन के ममतामय व्यापारों को![1]

कठोर साधना—एकान्त तप—यदि सफल होती है तो कलावती उस सफलता से वंचित नहीं रह सकती।

२

कला के पूज्य पतिदेव का शुभनाम था—विजयचन्द्र। उनका पैतृक गृह तो था महेन्द्र नामक क़स्बे में, पर वे रहते थे विशेषतया लखनऊ में; क्योंकि वे वहाँ इलाहबाद बैंक की शाखा में नौकर थे। उनका वेतन था ८०)। इन ८० रुपयों में उनका और उनकी पहली पत्नी का निर्वाह बड़े आनन्द से हुआ चला जाता था। वे थे ज़रा ख़र्चीले स्वभाव के। जो मिलता, जो कमाते, सब का सब खर्च कर देते। न तो क़र्ज़ लेकर ख़र्च करते और न वे विचारशील गृहस्थ की भाँति संग्रह पर ही कुछ विशेष ध्यान देते। **रोज कुवाँ खोदना, रोज पानी पी लेना।**[2] चरित्र के थे पक्के, स्वभाव के थे खरे, और बचपन ही से व्यायाम के थे परम प्रेमी। आरोग्यता भी इसीलिए उन्हें भगवान् ने पूर्ण रूप से दी थी। न तो उन्होंने कभी तीव्र अनुभव किया किसी मानसिक ग्लानि का और न वे जर्जर हुए किसी भयंकर दैहिक व्याधि से; प्रेममयी सुशीला भार्य्या का अतुल, अनन्य, अखण्ड स्नेह पाकर वह आनन्द में मग्न हो कर अपनी इहलोक की जीवन-यात्रा में निश्चित भाव से, चले निकलते थे। विवाह के सातवें वर्ष उनकी स्नेहशीला सुशीला पत्नी ने उन्हें

1. भावात्मक प्रवाहपूर्ण शैली का सुन्दर उदाहरण है।
2. मुहावरा।

अपने पवित्र प्रेम के उपहार-स्वरूप एक पुत्ररत्न भेंट किया और वे उस कोमल शिशु को पाकर एक बार ही परमानन्द को प्राप्त हो गये ! इहलोक पहिले ही से आलोकमय था ; परलोक के अन्धकार को दूर करने के लिए भगवती ने उन्हें एक अमूल्य प्रदीप दे दिया। दोनों लोक सुधर गये।

पर महामाया की रहस्यमयी इच्छा; दैव का निर्भय प्रकोप, भावी का निष्ठुर प्राबल्य ! जब वह पुत्र लगभग २ वर्ष का हो गया—तब सहसा उसकी पुण्यमयी जननी को प्रलय-कल्प प्लेग ने भयंकर रूप से आक्रान्त कर लिया। डाक्टर और वैद्यों ने उसके जीवन से निराश होकर उत्तर दे दिया; धीरे-धीरे मृत्यु की प्रगाढ़ वीभत्स छाया ने **उस सुन्दरी सती के तेजोमय मुखमण्डल को, आषाढ़ के कृष्ण मेघ-मण्डल से समाच्छादित चन्द्रमा की भाँति; अन्धकारमय बना दिया।**[1]

प्रातःकाल का समय था। मन्द-मन्द वायु वह रही थी। नियम ही ऐसा है कि प्रातःकाल के समय प्रायः भयंकर से भी भयंकर व्याधि कुछ न कुछ अंश में शान्त हो जाती है; कम से कम व्याकुलता में तो अवश्य कमी हो जाती है। विजयचन्द्र अपनी प्रेम-प्लावनी पत्नी की रोग-शय्या के पास बैठे हुए एक टक उसके पवित्र, कृष्ण छाया से आवृत्त वदन-मण्डल को देख रहे थे। निर्वाणोन्मुख[2] प्रदीप जिस भाँति अंतिम बार प्रोज्ज्वल हो उठता है, उसी प्रकार उस महासती का पावन आनन्द भी सहसा तेजोमय हो उठा धीरे-धीरे क्षीणस्वर में, करुणा से सने हुए शब्दों में, स्नेह से भरी हुई वाणी में, वह बोली—"नाथ ! अब मैं जाती हूँ ! इस अपने २ वर्ष के बच्चे को मैं तुम्हारे हाथों में सौंपे जाती हूँ। पर तुम ठहरे पुरुष। तुम्हें उसका लालन-पालन करना एक बार ही कठिन हो जायगा। इसलिए प्राणेश्वर, तुम बहुत शीघ्र विवाह कर लेना। स्त्री ही लालन-पालन करना जानती है—सच पूछो तो हमने संसार में अवतार ही इसीलिए लिया है। तुम पुरुषों का न तो यह कार्य ही है और न ही तुम इसे सुचारु रूप से सम्पन्न ही कर

---

१. उपमा अलंकार २. बुझने वाला

सकते हो। इसीलिए मैं चाहती हूँ कि तुम शीघ्र ही दूसरा विवाह कर लेना। नहीं तो तुम्हें महा कष्ट होगा और बच्चा भी मातृ-स्नेह से वञ्चित रह जायगा।"

विजयचन्द्र ने बड़े दुःखपूर्ण स्वर में कहा—"न प्रिये! सो नहीं होगा। मैं स्वयं ही सब कुछ कर लूँगा। तुम्हारे इस निस्वार्थ स्नेह का क्या यही समुचित प्रतिकार होगा कि तुम्हें इस लोक से विदा करके मैं तुम्हारी उस काञ्चन पीठ पर दूसरी प्रतिमा को लाकर प्रस्थापित कर दूँ? न यह बड़ा निष्ठुर, निर्मम, स्वार्थमय, नीच कृत्य होगा। स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध ऐसा तुच्छ एवं सहज-छिन्न नहीं है। न-न, मैं ऐसे धर्म-निषिद्ध पापमय कृत्य को नहीं कर सकूँगा।"

उस महासती ने अनुनयपूर्वक कहा—"पर मेरा कहना तो मानना ही पड़ेगा। मेरी यह अन्तिम विनय तुम्हें स्वीकार करनी ही होगी। मृत्यु के द्वार पर खड़े होकर, अपने इस अन्तिम क्षण में मैं तुम्हारे पवित्र प्रेम के नाम पर तुमसे हाथ पसार कर भिक्षा माँगती हूँ। तुम क्या मेरी इस अभिलाषा को—अन्तिम समय की इस आकुल विनय को—अस्वीकार करके मुझे निराश कर दोगे, प्यारे?"

उस महासती के स्निग्ध श्याम लोचन में दो बिन्दु आँसू के झलक उठे।

विजयचन्द्र ने बड़ी व्यथित वाणी में कहा—"प्यारी! तुम नहीं जानतीं, तुम सरल हो—संसार को भी सरल ही जानती हो। विमाता आकर बच्चे को और भी कष्ट देगी।"

महासती ने विश्वास से भरे हुए शब्दों में कहा—"न मैं आशीर्वाद देती हूँ—अपने जन्म भर के पुण्य-पुञ्ज को साक्षी बना कर तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ कि भगवती राजराजेश्वरी कल्याणी सुन्दरी की असीम अनुकम्पा से तुम्हें ऐसी भार्या प्राप्त होगी जो हमारे इस सरल शिशु को अपनी गर्भजात सन्तान से भी अधिक स्नेह करेगी। मुझ से भी अधिक तुम्हारी सेवा करेगी और नाथ! विश्वास करके मानो, तुम उसे पाकर कदापि पश्चात्ताप न

करोगे। वचन दो, तुम मेरी इस प्रार्थना को स्वीकार करोगे। यदि तुमने इतने पर अस्वीकार कर दिया तो नाथ, सत्य मानना मेरे यह प्राण सदा आकुल भाव से इस घर के चारों ओर मंडराते फिरेंगे। प्राणेश्वर! मेरे ऊपर दया करके मेरी इस अनुनय की रक्षा करो।"

विजयचन्द्र ने रोते-रोते कहा—"मुझे स्वीकार है।"

महासती के **शुचि-स्वच्छ**[1] नयन सन्तोष की आभा से उद्दीप्त हो गये। उसने उस सरल, हास्य-वदन शिशु का कोमल कपोल चूम लिया और उसे अपने **जीवन-धन**[2] के कर कमल में दे दिया। विजयचन्द्र की चरण रज उठाकर उसने मस्तक पर लगा ली! इतना करके वह पवित्र तेजोमय आत्मा **अविनश्वर तुरीय धाम**[3] को अपने पवित्र तेज से समुद्भासित[4] करने के लिए प्रस्थान कर गई!!

सतीत्व-सूर्य्य की सुवर्ण-वर्ण किरण-माला के प्रेममय स्पर्श से पुण्य-पद्म प्रस्फुटित होता है।[5]

३

हमने प्रथम परिच्छेद में इस बात की सूचना दी थी कि कला ने किसी विशेष उद्देश्य को सम्मुख रख कर अपने ज्वालामय जीवन की गति के मार्ग को बदल दिया था। यद्यपि हम उसके पूज्य प्राणेश्वर की अकाल-मृत्यु का समाचार विवृत[6] कर चुके हैं, पर तो भी नीचे के दो परिच्छेदों में हम उस सम्बन्ध की घटनावली का उल्लेखन करेंगे। उसके विवृत किये बिना उसके उद्देश्य के मर्म एवं महत्व को पूर्ण रूप से हृदयङ्गम करना कठिन ही नहीं, असम्भव हो जायगा।

शिक्षा थी पर्य्याप्त, जीवन-निर्वाह के साधन थे यथेष्ट, शरीर था निरोग, देखने में थे सुन्दर और तिस पर भी थे प्रभाकर के अवस्थी। विवाह होने में क्या देर थी? शीघ्र ही—पहिली स्त्री के मरने के ४ महीने बाद

---

१. पवित्र २. प्राणनाथ ३. परलोक ४. प्रकाशित ५. रूपकालंकार। ६. स्पष्ट।

ही—एटा ज़िले के एक श्रीसम्पन्न डिप्टी-कलेक्टर की सुन्दरी, सुशीला, सुशिक्षिता कन्या से उनका शुभ-विवाह सम्पन्न होगया।

इस कन्या का नाम था—कला। सोने में सुगन्ध की भाँति, इसमें सौन्दर्य्य और सुशिक्षा दोनों का पूर्ण रूप से सम्मिश्रण था। वह अपने परिवार की एक-मात्र कन्या होने के कारण सब की लाडली थी। उसके केवल एक छोटा भाई था—उसका नाम था विमल। एक कन्या और दूसरा पुत्र—दोनों माता-पिता के नयन रूप थे—वे दोनों उनकी आत्मा के प्रकाश थे। कला का बाल्य-जीवन बड़े आनन्द और पवित्रता के साथ व्यतीत हुआ था—उसके पिता ने उसका विवाह भी बड़े सुयोग्य वर के साथ किया था। पर दैव के अटल विधान को कौन मेट सकता है? दैव के जिस आवश्यंभावी विधान से चन्द्रमा सहस्र-सहस्र तारिकाओं से मण्डलीभूत हो कर भी राहु का कवल बन जाता है; भाग्य के जिस प्रबल प्रकोप से प्रसन्न वन-श्री की कोमल गोद में झूमने वाली सरल, कोमल, गुलाब-कली ग्रीष्म की प्रचण्ड वायु के भयंकर आघात से छिन्न-भिन्न हो कर गिर पड़ती है, जिस ललाट-लिपि की अटल रेखा के प्रभाव से अमृत हलाहल में परिणत हो जाता है, जो नियति की निश्चित गति मनुष्य को अज्ञेय प्रेरणा से आक्रान्त करके हिमालय के सर्वोच्च शिखर पर ले जाकर उसे सहसा, सोचने का समय न देकर, विचारने का अवसर न देकर, अन्धकारमयी कन्दरा में ढकेल देती है—उसे डिप्टी साहब कैसे लौटा दे सकते थे? उस पर न तामील हो सकता था सम्मन, न कट सकता था वॉरण्ट, न दी जा सकती थी कठोर दण्ड की आज्ञा। वह तो समय के रूप में अक्षय, विधान के वेश में अमिट, भावी के स्वरूप में निश्चित एवं कर्म-फल के रूप में अटल होकर अपने कार्य में सतत रत रहती है। बाधा का भय नहीं, विरोध की आशंका नहीं; प्रतिरोध की चिन्ता नहीं। पाषाण-रेखा की भाँति उसके अटल विधान से डिप्टी साहब अपनी प्राणोपमा पुत्री की रक्षा न कर सके।[1]

विवाह के साथ ही साथ द्विरागमन[2] की भी रीति पूरी कर दी गई।

---

१. सुन्दर भावमयी, कवित्वपूर्ण, प्रवाहयुक्त भाषा २. गौणा।

स्वशुर-सास-विहीन घर में कला जब अपने छोटे भाई विमल को साथ ले कर आई—तब उसके पति ने सब से पहले अपने हृदय के प्रोज्ज्वल रत्न को—२½ वर्ष के उस प्रफुल्ल शिशु-कमल को—उसके कर-कमल में उपहार-स्वरूप अर्पण किया। कला ने हर्षोत्फुल्ल लोचनों से उसके मृदुल-कुसुम—हास्यमय मुख-चन्द्र को देखा। आनन्द से, प्रसन्नता से, बड़े प्यार से, उसने शिशु का कमल-कोमल मुख चूम लिया। पति को प्राप्त करते ही उसे प्रिय पुत्र की भी प्राप्ति हो गई। सरला कला आनन्दातिरेक से उन्मत्त हो गई। दिन भर वह उस शिशु को, परम मूल्यवान् रत्न की तरह, अपने वक्षस्थल से लगाये रही और एक क्षण भर के लिए भी उसने उसे अपनी प्रेममयी गोद से नीचे नहीं उतारा। वह सरल शिशु एक ही दिन में उससे अत्यन्त स्नेह करने लगा। उस मातृ-विहीन बालक को मिल गई स्नेहमयी मां और कला को मिल गया प्रेम-पात्र पुत्र। दोनों—शिशु और कला—मानो खोई हुई सम्पत्ति को पाकर प्रफुल्ल हो गये।

धीरे-धीरे, सायंकाल का समय आ गया। धीरे-धीरे मन्द मातङ्ग[1] गति से, उसने पति के विलास-शोभी प्रकोष्ट में प्रवेश किया। **इस प्रथम प्रवेश की सुखमयी स्मृति को कोई रमणी विस्मृत नहीं कर सकती—आजन्म इस आनन्द की पुण्य-पुराण प्रभा से उस का हृदय अक्षय प्रदीप की आलोक माला से उद्दीप्त पुण्य-निकेतन की भांति, समुद्भासित** रहता है। **उस प्रथम मिलन का स्फटिक-स्वच्छ सुख पवित्र-अक्षय-स्मृति का सौन्दर्यमय स्वरूप धारण करके उसके जीवन को मधुर बनाये रखता है।** उस प्रेम-प्रभा से प्रोज्ज्वल पर्य्यंक पर एक ओर थे पति परमेश्वर और दूसरी ओर निद्रित था सारल्य-शोभी शिशु और मध्य में, उद्दीप्त दामिनी की भांति, कान्त-कलेवरा कल्पना की भाँति, पुण्य प्रतिमा पवित्रता की भाँति, स्थित थी सौभाग्य-सुन्दरी कला। एक ही दिन, एक ही समय में—उसने प्राप्त किया था पति के प्रेम-प्लावी वक्षस्थल का आनन्दमय आलिङ्गन एवं प्राणप्रिय स्नेह-स्नायी सरल शिशु।

---

१. **हाथी।**

सरला कला—सौभाग्य-गर्विता होकर प्रफुल्ल गुलाब-श्री की भांति शोभायमाना हो गई।

पर प्रायः यह देखा जाता है कि जब मनुष्य को पूर्णानन्द प्राप्त होता है—जब वह सौभाग्य की चरम-सीमा पर जाता है—जब हिमाचल-सुवर्णोज्ज्वल शिखर पर आरूढ़ हो जाता है—तभी उस पर सहसा वज्रपात होता है। वैसा ही हुआ—कलावती के पुण्य ललाट पर सहसा वज्रपात हुआ। दूसरी रात्रि के आते ही आते वह दुर्भागिनी होकर भूतल पर लुण्ठित[1] होने लगी। कैसा व्यथापूर्ण दृश्य था; कल जो परम सौभाग्य के रत्न-जटित सुवर्णपीठ पर आसीन हुई थी—कल जिसने सब कुछ—पति-पुत्र-प्रेम—पाया था-आज वह सहसा मेघ-गर्जन-शून्य वज्रपात से चूर्ण विचूर्ण होकर पतिदेव को खो बैठी—सहसा सुवर्णासन-स्खलित[2] होकर भूतल पर पतित हो गई। पतिदेव प्रस्थान कर गये—पुत्र ही केवल उसकी सान्त्वना के लिये अवशिष्ट रह गया। उसका सरल हास्य ही उसका एक मात्र अवलम्ब रह गया।

यही देख कर शास्त्रकारों ने संसार को क्षण-भंगुर, असार कहा है। कितने ही प्रसाद नित्य भग्न होते हैं, कितने राजमुकुट नित्य स्खलित होते हैं,-कितने सौभाग्य बिन्दु नित्य विलुप्त हो जाते हैं—कितनी स्नेह-सरिताएँ नित्य शुष्क हो जाती हैं। सो कौन कह सकता है! सब कुछ खोकर कला भिखारिणी हो गई। आँखों की ज्योति जाती रही—प्राण-वायु की सुरभि विलीन हो गई—आनन्द का अम्बुज[3] विरस हो गया। सधवा से विधवा होने में उसे पूरे ४ प्रहर भी न लगे।

"विधि कर लिखा को मेटन हारा।"

४

सारे दिन विजय चन्द्र विषूचिका की विभीषिका से जलते रहे। वमन और दस्त—दिन भर यही तारमम्य[4] रहा। उसका सारा शरीर गौर

---

१. लोटने लगी २. गिर कर ३. कमल ४. क्रम।

से कृष्ण वर्ण का हो गया। उनका मुख विकृत हो गया। सायंकाल होते-होते उनका शरीर एक बार ही शिथिल हो गया और मृत्यु के अविलम्ब आगमन की सूचना उनके मुख पर स्पष्ट रूप से झलकने लगी। महा-आह्वान सुन कर वे जाने के लिये प्रस्तुत हो गये।

उनकी रोग-शय्या के एक पार्श्व में बैठी थी नव-वधू कलावती और दूसरी ओर बैठा था १३ वर्ष का सरल विमल। दिन भर वह नववधू अपने स्वामी की सेवा में, मूर्तिमती सुश्रूषा[1] बनकर, लगी रही, सारे दिन उसके मुख में अन्न का एक दाना भी नहीं गया, पानी एक घूंट भी उसके गले के नीचे नहीं उतरा। वह सब कुछ भूल गई, आत्म-विस्मृति की गोद में वह पड़ गई। यहाँ तक कि भाई विमल को भोजन कराना भी उसे स्मरण नहीं आया। **एक ही ध्यान, एक ही चिन्ता, एक ही भावना, एक ही तन्मयी धारणा! स्वामी की सेवा ही उसका महामन्त्र था। किसका ध्यान, किसकी चिन्ता! धीरे-धीरे उसका सर्वस्व, हृदय का हार, आत्मा का प्रकाश, जीवन का अवलम्ब, सिन्दूर का रंग, चूड़ी की ध्वनि, नूपुर की झंकार, सेवा का सौरभ, भक्ति की प्रतिमा, श्रद्धा का भाजन, प्रणयपद्म का विलास, लोचन की ज्योति, पुष्प का प्रभाकर, सौभाग्य का सुधांशु, सब कुछ धीरे-धीरे मृत्यु की अन्धकारमयी कन्दरा में पतित हो रहा था।** कला नीरव, बिना रुदन किये, बिना हाहाकार किए, अपने कर्तव्य–पालन में संलग्न थी। फल भगवती के अधीन है—कर्म हमारा निज का है। कला मानो इस सिद्धान्त की जीव-धारिणी प्रतिमा के स्वरूप में प्रकट होकर विजय चन्द्र की स्नेहमयी सुश्रूषा में एकान्त चित्त से लगी हुई थी।

धीरे-धीरे रोगी के मुख पर मृत्यु की छाया और भी गाढ़तर होने लगी। उसी समय उन्होंने—विजयचन्द्र ने—एकबार आँख खोलकर कला की ओर देखा। **उन आँखों की भाषा, उस दृष्टि का भाव, उस म्रियमाण पुत्तलिका की नीरव वेदना कौन वर्णन कर सकता है!** कला ने उनके मुख में गंगाजल दिया।

---

१. सेवा-परिचर्या।

विजयचन्द्र ने बड़े करुण, क्षीण स्वर में कहा—"प्यारी ! मैं जाता हूँ। और इस अपने २½ वर्ष के बच्चे को तुम्हारे हाथों में दे रहा हूँ। यह मेरी पहली स्त्री की भेंट है—यह मेरे उस मृत-प्रेम का एक मात्र अवशिष्ट चिन्ह है। कल ही मैंने तुम्हें प्राप्त किया था—और आज ही मैं तुम्हें खो रहा हूँ। कल के ही सहवास में मैंने तुम्हारे प्रेमप्लावित[1], सतीत्व-सुन्दर, स्नेह-कोमल हृदय का परिचय पा लिया है। इस बच्चे की माँ इसे मरते समय मेरे हाथ में सौंप गई थी और उसी की अन्तिम इच्छा को पूर्ण करने के लिये मैं इस विवाह-बन्धन में आबद्ध हुआ था। उसने अशीर्वाद दिया था कि मैं एक सुशीला, सती, स्नेहमयी भार्य्या को पाऊँगा। उसका आशीर्वाद तो सच्चा हुआ पर मैं तुम्हें एक प्रकार से चिर व्यथा में जकड़ कर जा रहा हूँ। पर मैं क्या करूँ ? मैं विवश हूँ। किसी तरह इस जीवन को—इस कष्टमय वैधव्य को—काटना ही होगा। पर मेरा यही तुम से अन्तिम अनुरोध है कि तुम मेरे इस बच्चे का—**मेरे इस लाल का—प्रथम प्रणय के इस कोमल, प्रसन्न, पल्लव का[2]—बड़े यत्नपूर्वक लालन-पालन करना। इसे** पाल-पोस कर यथार्थ मनुष्य बनाना। यही मेरा अन्तिम अनुरोध है। बोलो प्यारी—पालन करोगी ?"

कला ने आँखों के मोती आंखों में रोक कर कहा—"नाथ ! मेरे दुर्भाग्य से आप जा रहे हैं। जाएँ। इस बालक का—अपने इस परम प्रिय पुत्र का—बड़ी दीदी के लड़ैते लाल का—मैं आप के स्नेह का शेष स्मृति-चिन्ह मानकर लालन-पालन करूँगी। प्राण देकर भी यदि मैं इसे आदर्श मनुष्य बना सकी—तो मैं उन्हें त्याग देने में कण भर भी आगा-पीछा नहीं करूँगी। प्रियतम ! तुम्हारी आज्ञा की—तुम्हारे अनुरोध की—आवश्यकता नहीं थी ! यदि इस बालक के प्रति मेरा सहज स्नेह न होता—यदि इस निर्बोध शिशु का सरल मुख मेरे हृदय में पुत्र-स्नेह की धारा प्रवाहित न करता—तो कला—आप की एकान्त दासी—आप को इस महायात्रा में अकेले नहीं जाने देती।

---

१. प्रेम-भरा २. प्रथम प्रेम-तरु के कोमल, सुन्दर शिशु रूपी पुत्र का (रूपालंकार)

दासी आप के साथ ही चलती—पर नाथ मेरी भी एक विनय है—प्रभो ! उसे भी स्वीकार करना। दासी की यह प्रथम और शेष भिक्षा है।"

विजयचन्द्र के मुख पर सन्तोष के चिन्ह परिस्फुट रूप में परिलक्षित हो रहे थे। वे सस्नेह बोले—"कला ! प्राणेश्वरी ! तुम्हारे लिए मेरे पास कुछ भी अदेय[1] नहीं है।"

कला ने रुद्ध कण्ठ से कहा—"पर मुझे यह वर देते जाइये प्रभो, कि जब मेरा यह शिशु—मेरा यह प्यारा अधर—मनुष्य हो जाय; संसार में पूर्ण रूप से अपनी स्थिति को संस्थापित करले, तब मैं आपके लोक को प्राप्त होऊँ—तब मैं निर्विकार हृदय से विगत-प्रोन्मना हो कर—आप के पाद-पद्म में फिर से समुपस्थित होऊँ—यही आशीर्वाद दीजिये मेरे दीनानाथ।"

विजयचन्द्र ने स्नेह-सरसित स्वर में कहा—"एवमस्तु।"

यही उनके अन्तिम शब्द थे। इसी 'एवमस्तु' पर—इसी पुण्यश्लोक आशीर्वाद पर —इसी इष्ट पर—इसी शुभ वाक्य पर—कला का जीवन स्थित था।

कला उस अबोध शिशु को हृदय से लगाकर पति के पूज्य पाद-पद्म में, नीरव रुदन करती हुई, लुण्ठित होने लगी—विमल—भूखा, प्यासा विमल भी बहिन के इस दुर्भाग्यकाण्ड को देखकर हाहाकार कर उठा।

आत्मा के प्रलय का यह जाज्वल्यमान[2] चित्र था। इसी को देखकर कवि का हृदय विस्मय से अवाक्, दुख से कातर, एवं समवेदना से व्यथित हो जाता है।

५

सब समाप्त हो गया। आत्मा अनन्त में विलीन हो गई—शरीर भी भस्म हो गया और भस्म मोक्षदायिनी मन्दाकिनी[3] में प्रवाहित कर दी गई।

---

१. न देने योग्य

२. प्रकाशमान ३. गंगा

अब रह गई कला के हृदय में प्रणय के प्रोज्ज्वल वर्णों में चित्रित विजयचन्द्र की कल्पना-कलित छवि, उनके प्रेम का शेष स्मृति-चिन्ह शिशु-अधर और कर्तव्य के आवरण से ढकी हुई कला के हृदय की प्रलयाग्नि !

मध्याह्न काल का समय था—कला वैधव्य-वेश में अपनी कोठरी में बैठी हुई थी। आपादलम्बित[1] केशकलाप का कहीं नाम भी नहीं था—पति की भस्म के साथ वे मन्दाकिनी के अनन्त गर्भ में निमग्न कर दिये गये। मस्तक का सिंदूर दुर्भाग्य के कृष्णाम्बर[2] से पुंछ गया था—हाथ की चूड़ी वज्राघात से टूट गई थी। पैरों के नूपुर बहिष्कृत हो चुके थे। शुभ्र सारी में वह व्यथित-कलेवर आच्छादित था। रंग-विलास—सब चिता पर भस्म होगए—भूति ही अब उसके शरीर की भूषण थी। विमल बैठा था एक कोने में—उदास, बेचारे का मुख कुम्हलाया हुआ और सामने ही कुशासन पर सौम्यदर्शन ऋषिकल्प डिप्टी-साहब बैठे हुए थे। अश्रुधारा से उनका गण्डस्थल आर्द्र हो रहा था।

वे बड़े दुःख भरे कण्ठ से बोले—'बेटी ! अब तू इस घर में रहकर क्या करेगी ? चल ! अपनी माँ की गोद में चल—जहाँ से आई थी वहीं चल। चल तुझे लेकर मैं संन्यासी हो कर, मन्दाकिनी-दुकुल[3] पर कुटी बना कर, रहूँगा। इस घोर व्यथा को शान्त करने का एकमात्र उपाय है तन्मयी साधना।"

कला ने गंभीर स्वर में कहा—"न पिता ! पति का पवित्र घर ही रमणी के लिए पावन तीर्थ है। उसी की धूलि से अपने शरीर को धूसरित करके वह पवित्र हो सकती है।"

पिता ने करुण-कण्ठ से कहा—"सो ठीक है बेटी। पर तेरा है नूतन वयस। तू इस घर में एकाकी कैसे रहेगी। तेरी सास नहीं, स्वशुर नहीं—किसके लिये तू विपत्ति में गुहरावेगी[4] ?"

---

१. लम्बे-लम्बे, पांव तक जाने वाले।
२. काला कपड़ा।
३. गंगा के पवित्र जल-तट पर।
४. पुकारेगी।

कला ने पवित्र तेज के साथ कहा—"पर पिता ! पति की स्मृति तो अक्षय रूप से मेरे साथ चिर-सहचरी की भाँति रहती है। **सतीत्व का अच्छेद्य कवच धारण करके मैं पति के इस चरण-पूत घर को अभेद्यदुर्ग में परिणत कर दूँगी। पति की अमर स्मृति ही अन्धकारमय जीवन के कण्टकाकीर्ण मार्ग को आलोकित करती रहेगी।** पिता ! तुम्हीं तो इस सम्बन्ध में मेरे दीक्षा-गुरू हो।"

पिता ने कुछ अप्रतिभ होकर कहा—"मैं जानता हूँ बेटी ! पर तेरे ऊपर एक बालक का बोझा है। जहां तक मुझे ज्ञान है तेरे पति तो कुछ विशेष सम्पत्ति भी नहीं छोड़ गये हैं। तब तेरा निर्वाह कैसे होगा ?"

कला ने उसी आत्मविश्वास के साथ कहा—"**इन्हीं चूड़ी-रहित हाथों से ! आपने मुझे कला-कौशल सिखाया है। काढ़ूँगी—सीऊँगी—आवश्यकता होनेपर चक्की पीसूँगी। उसी से जो उपार्जन करूँगी—उस से इस शिशु का पालन करूँगी।**[1] पिता ! पति की इस आज्ञा को उनकी दासी प्राण देकर भी पालन करेगी ?"

पिता ने कुछ-कुछ अनुनय के भाव में कहा—"बेटी ! तू क्या मेरी नहीं है ? मैं क्या तेरा नहीं हूँ ? यदि मेरे घर ही पर इस शिशु का पालन-पोषण होगा तो क्या उसमें कुछ हानि है ?"

कला ने बड़े उज्ज्वल आत्म-प्रकाश के स्वर में स्वर मिलाकर कहा—"हे पिता !—पूज्य पितृ-देवता—अप्रसन्न मत होना। **यदि कदाचित् बड़ा होकर यह बालक यह जान पावेगा कि मैंने इसके पिता की आज्ञा न मानकर स्वयं अपने हाथों से नहीं किन्तु ननिहाल के द्वारा इसका लालन-पालन करवाया था—तो वह आजन्मव्यापी आत्मग्लानि पावेगा और स्वयं मैं पति की अन्तिम आज्ञा का उल्लंघन करने वाली नीच पापिन मानी जाऊँगी। पिता—मेरे देवता—इस कलंक से मुझे बचाइये।**"[1]

पिता ने एक बार अन्तिम प्रयास करते हुए कहा—"न, सो मैं नहीं चाहता—पर तू मेरी स्थिति को देख। देख मेरा यह बूढ़ा शरीर—उस पर

---

१. **कैसी आदर्शमयी उच्च भावनाएं हैं।**

वज्र-सा आघात ! मैं तेरा यह कठोर जीवन देख कर कैसे जीवित रहूँगा बेटी ?" कला ने विशुद्ध धार्मिक अनुभूति की प्रेरणा से कहा—"इसीलिए मैं चाहती हूँ कि आप दो मास में—१ मास में कम से कम एक बार मुझे दर्शन दे जाया करें ! मैंने जिस प्रकार अपने जीवन-निर्वाह की क्रिया को सम्पादन करने का संकल्प किया है—उसमें आपकी सहायता अनिवार्य्य रूप से आवश्यक है। मुझे विश्वास है कि आपके चरण-कमल की पुण्य-पराग को मैं अपने मस्तक पर धारण करके अपने इस वैधव्य-व्रत को सफलतापूर्वक उद्यापन[1] कर सकूँगी। पिता ! मुझे मार्ग दिखाओ—तुम्हारी यह अधम पुत्री तुम्हारे चरणों में यह भिक्षा माँगती है। आशीर्वाद दीजिये पिता ! मैं अपने इस पुण्य संकल्प को पूरा कर सकूँ।" पिता ने अन्ततः साश्रुलोचन, एवं गद्‌गद् कण्ठ होकर कहा—"ऐसा ही हो बेटी ! यद्यपि तू आज वैधव्य वेश में है पर मैं तेरी जैसी सती-साध्वी का अभागा जनक हूँ—यह बात मेरे मन को शीतल-सा कर रही है। ओहो ! ऐसी पुण्यमयी सती की ऐसी दुखमयी जीवन-लीला ! हा महामाया ! हा जगज्जननी !"

वृद्ध पिता के स्निग्धोज्ज्वल लोचन से अविरल अश्रुधारा पतित होने लगी। पिता के आँसू अपने अञ्चल से पोंछकर दुखी बेटी उनके दुःख में उन्हें सान्त्वना देने लगी—बोली—"**पिता ! वैधव्य एक प्रकार की अग्नि-परीक्षा है। उसमें हम स्त्रियाँ अपने शरीर की आहुति देकर पवित्र होती हैं। पिता ! पुण्य को दुख में देखकर ही उसके पावनत्व और महत्व का परिचय प्राप्त हो सकता है। पाप तो नित्य पतित है। जैसे सोने का खरा-खोटापन अग्नि की ज्वलन्त शिखा में प्रकट होता है—स्त्री का सतीत्व भी वैधव्य की कठोर यातना में पूर्ण-रूप से प्रमाणित होता है।** पिता ! धीर गम्भीर मेरे पिता ! आपके चरणों की दासी, आपकी यह अधम सन्तान आपके सम्मुख पूर्ण विश्वास के साथ कहती है कि वह व्यथा के महादुस्तर सागर को अतिक्रम करके पतिलोक को प्राप्त कर लेगी। पिता ! माँ को भी समझाइयेगा—मेरे इस बज्रपात को सुन कर वे मर्माहत हुई होंगी—जिसमें उनके प्राणों की रक्षा हो—उस पर विशेष लक्ष्य रखना होगा। पिता ! चरण-रज दीजिये।"

---

१. **पूरा (किसी व्रत की समाप्ति का कृत्य—हवन, भोज आदि)**

कला ने पूज्य पिता के वंद्य पादारविन्द की पुण्य पराग को अपने चिर-पुण्य ललाट पर लगा लिया। वाष्पावरुद्ध कण्ठ से पिता ने, उसके पुण्य मस्तक पर शान्त शीतल कर स्थापित करके कहा—"बेटी! **तेरी यह वैधव्य-व्यथा पति स्मृति-सरिता से सदा शीतल बनी रहे**[1]।"

देवताओं ने आकाश में, धर्म ने निखिल सृष्टि के सत्य-सिद्धांत-सदन में, एवं जगद्धात्री ने प्रत्येक परमाणु में स्थित होकर कहा—'एवमस्तु।'

६

हिन्दुओं के यहां जितने नियम हैं—सब में एक प्रकार की आन्तरिक सहानुभूति का शुद्ध परिचय मिलता है। जब हमारे यहां कोई रमणी देव-प्रकोप से विधवा हो जाती है तब निकट के सम्बन्धी उसे कुछ रुपया देते हैं। कला को भी इस प्रकार लगभग १५०) रुपये मिल गये थे। ५०) घर में नक़द शेष थे। इस प्रकार उसके पास २००) नक़द, कोई २०००) का गहना और वह पैतृक गृह था। ३ महीने के लिये भोजन भी पर्य्याप्त था। पर उसका आदर्श था इतना ऊँचा कि उसकी सफलता के लिये लगभग १०,०००) की आवश्यकता थी।

वह अधर को विलायत भेजकर उच्च शिक्षा दिलाना चाहती थी। **जब संकल्प दृढ़ हो जाता है; अध्यवसाय अशिथिल हो जाता है, और महामाया के श्री चरणों में अखण्ड विश्वास हो जाता है—तब उद्देश्य की सफलता भी निश्चित हो जाती है। सुना है संकल्प की शुद्धि और दृढ़ता ने भगवान तक को घण्टों कच्चे धागे में बांधकर नाच नचाया है।**[2]

इसी २००) का उसने बढ़ाने के लिये कपड़ा, सूत, रेशम, सलमा इत्यादि मँगाया। साल भर में यह काम उसने पूरा किया। २००) के लगभग ४२५) उसे प्राप्त हुए। इसी भांति जब तक अधर ११-१२ वर्ष का हुआ—तब तक उसने लगभग २०००) रुपया जमा कर लिया। वह उसने अधर के नाम से बैङ्क में जमा करा दिया था।

---

१. रूपक २. **बीच-बीच में लेखक की टिप्पणियाँ**

भगवती की कृपा से अधर की प्रतिभा बड़ी प्रखर थी। महेन्द्रपुर का स्कूल था केवल ८वीं कक्षा तक। वहां की पढ़ाई समाप्त करके वह लखनऊ पढ़ने गया। अपने कला-कौशल से, रात्रि-दिन परिश्रम करके वह उसे खर्चा भेजती रही! अधर ने इतिहास में एम० ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। इधर बैंक में २०००) के हो गए ३२००)।

अब अधर चले विलायत को। उस समय का दृश्य करुणा, स्नेह और मामता का महा समारोह था। ३२००) बैङ्क से निकाल कर एवं १८००) में अपने समस्त आभूषण बेच कर उसने अधर के वास्ते ५०००) का प्रबन्ध कर दिया। पर उसे विलायत भेज कर कला का वह अध्यवसाय, वह साहस, वह स्फूर्ति—सबके सब अन्तर्हित हो गये। **जब उद्देश्य सिद्ध हो जाता है, जब मनुष्य सुदूरवर्ती लक्ष्य पर पहुँच जाता है—तब स्फूर्ति तो अन्तर्हित हो जाती है और आत्म-सन्तोष एवं आत्मानन्द का सम्मिश्रित अलसभाव उसके स्थान पर अधिकार कर लेता है**[1]।

कला अधर के पुनरागमन की प्रतीक्षा करती हुई अपने घर में बैठी रहती। किसी प्रकार कुछ कर लेती और उसी से उसका भोजन चल जाता।

❀ ❀ ❀

आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि उसी गाँव के वे ही लोग जो उसे विष-कन्या, राक्षसिनी, पिशाचिनी कहते थे—अब उसे देवी अन्न-पूर्णा कहने लगे। इतने बड़े, ऊँचे, शिक्षित पुरुष की पुण्यमयी जननी होकर कला गाँव भर में पुजने लगी।

तन्नमयी साधना ही सिद्धि का एकान्त साधन है[2]।

७

अधर बैरिस्टर हो कर विलायत से वापिस आ गये। अब वे लखनऊ में बैरिस्टरी करने लगे। प्रतिभावान थे--शीघ्र ही उनका यह व्यवसाय चल पड़ा। वे शीघ्र धन के स्वामी हो गये।

---

१. बीच-बीच में लेखक की टिप्पणियाँ। २. सुन्दर सूक्ति।

यद्यपि अधर ने बहुत कुछ कहा पर कला अपने पति के पैतृकगृह को छोड़ कर लखनऊ नहीं गई। वह पति ही के घर को काशी मानती थी—अब तो पति-लोक जाने का समय था—अब क्या अन्तिम समय में वह काशी को छोड़कर चली जाय ? असम्भव !

अधर प्रति शनिवार को आकर मातृवन्दना करते—प्रति सोमवार को वे जननी के पद-पंकज की पराग मस्तक पर धारण करके अपने कार्य-क्षेत्र को लौट जाते।

इतवार का दिन था। प्रातः काल का समय था। **सूर्य देव अपनी सुवर्ण-वर्ण किरणों से पीताम्बर गूँथ कर परम-प्रिया पृथ्वी देवी को प्रेमपूर्वक पहिना रहे थे। मन्द समीर पल्लवपुंज से प्रेममय परिहास कर रहा था। पक्षिगण महामाया का गुणानुवाद गा रहे थे।**[1]

अधर ने आकर माता के श्री चरणों में प्रणाम किया। कला ने सस्नेह उनके सिर पर हाथ रख कर आशीर्वाद दिया। उन्होंने उसे अपने पास ही बैठा लिया। वह एक टक अधर के प्रसन्न मुखमण्डल को देखने लगीं।

कला के मुख पर एक स्वर्गीय तेजोमय भाव उदित हुआ था। उसके मुख पर एक विशेष प्रकार की आभा परिलक्षित होती थी। अधर भी मां के पवित्र मुखमण्डल पर अनिवेष दृष्टि का प्रवाह बहाने लगा। थोड़ी देर बाद अधर ने पूछा—"मां ! आज तुम्हारा यह भाव कैसा है ? आज तो तुम मानो किसी विशेष संकल्प की आभा से जगमगा बैठी हो।"

कला ने कहा—"हाँ ! बेटा ! **आज मैं अपने शुद्ध संकल्प की प्रसन्न-सफल-मूर्ति को देखकर आनन्द से उत्फुल्ल हो उठी हूँ। मैंने जिस उद्देश्य से, जिस भावना से, आज तक प्राणों की मोह-ममता का परित्याग नहीं किया था, वह आज पूरा हो गया।** तू संसार में प्रविष्ट हो गया—तेरा सुख-सूर्य चमक उठा। तुझे २½ वर्ष का मेरे हाथों में सौंप कर मेरे स्वामी मुझे यह आज्ञा दे गये थे कि मैं तुझे मनुष्य बनाऊँ। भगवती के श्री चरणों की कृपा से मेरी वह कामना सफल हो गई। इस लोक में मेरा जो उद्देश्य था—वह सफल हो गया। बेटा ! अब मैं आज तुमसे विदा लूंगी। तेरे पिता मुझे वचन और वर दे गये

---

1. **प्रातः प्रकृति का सुन्दर कवित्वमय मानवीकृत चित्रण।**

हैं कि अधर के मनुष्य होते ही वे फिर मुझे अपने पाद-पद्म की सेवा में ले लेंगे, वे मुझे अपने पास बुला लेंगे। अब आज मैं उनके पास जाऊँगी। बेटा प्रसन्न मन से अपनी माँ को विदा करो। भगवती तुम्हारा कल्याण-साधन करेंगी—वे ही अब से तुम्हारी माँ होंगा।"

अधर बालकों की तरह रो पड़े। बोले—"माँ मैं नहीं जाने दूँगा। तुमने विमाता होकर भी मुझे जिस प्रकार पाल-पोस सब कुछ करके, अबाध परिश्रम और रात्रि-दिन अध्यवसाय करके मुझे शिक्षित बनाया, ऐसी तो गर्भधारिणी माँ भी नहीं होती। पर माँ! पिता का अधिकार है तो पुत्र का भी माता पर अधिकार है। न माँ! मैं नहीं जाने दूँगा।" अधर मां का शुभ्र-स्वच्छ अञ्चल पकड़ कर बालकों की भाँति रोने लगे—किसी भी भाँति उन्हें सन्तोष नहीं होता था।

कला ने उसके आँसू अपने अञ्चल से पोंछ डाले—वे बोलीं—स्नेह भरे, करुणा से सने, प्रेम से परिपूर्ण शब्दों में बोलीं—"बेटा! ज़रा सोच तो सही। तेरे पिता को स्वर्ग में मेरे बिना कष्ट होता होगा! मैं जानती हूँ कि तेरी माँ—मेरी बड़ी दीदी—उनकी सेवा करती होंगी पर तो भी उनका हाथ बटाना मेरा कर्त्तव्य है। वे जब थक जाएंगी—मैं दोनों की सेवा करूंगी। बेटा! तू मुझे मेरे कर्तव्य से रोकता है इस प्रकार का भाव तुझे शोभा नहीं देता बेटा! ना लाल। **स्त्री के लिए पति-देव के श्री पाद-पद्म ही पुण्य तीर्थ है।** इस पावन तीर्थ-यात्रा में बाधा डालना पाप है।"

अधर चुप हो गया—माता के चरणों में प्रणाम करके, उनके उस तेजस्वी, पवित्र भाव से उद्भासित, बदन-मण्डल को एक टक होकर देखने लगा।

सती उठी। गोबर से लिपी हुई पृथ्वी पर वह लेट गई। देखते-देखते क्षण भर में, उस प्रफुल्ल-चन्द्र से एक पवित्र तेज निकल कर अनन्त आकाश की ओर चला गया।

पराग उड़ गया, विरस पुष्प रह गया। प्रकाश चला गया, स्नेह-शून्य प्रदीप रह गया। पुण्य चला गया, पाप मात्र रह गया।

❀ ❀ ❀

अधरचन्द्र ने एक बड़ा विशाल कला भवन स्थापित किया। उसमें देश के नवयुवक कला-कौशल की शिक्षा पाने लगे। वही कला-कौशल जिस के आश्रय से महासती कला ने धन उपार्जन करके अधरचन्द्र को उच्च शिक्षा से विभूषित किया था।

उस विशाल मन्दिर के सर्वोच्च सुवर्ण-मण्डल पर सूर्य देव और चन्द्रदेव, नित्य प्रोज्ज्वल वर्णों में लिख देते हैं—"उत्सर्ग" !!

प्रष्टव्य

१. "तन्मयी साधना ही सिद्धि का एकांत साधन है"—यह उक्ति कला के आदर्श-चरित्र पर कहां तक लागू होती है ?

२. कहानी के 'उत्सर्ग' शीर्षक की विवेचना कीजिए।

३. 'स्त्री के लिए पति-देव के श्री पाद-पद्म ही पुण्य तीर्थ है', प्राचीन भारतीय नारी के समान स्वर्ग में पति के चरणों को पाने के लिए आत्मोत्सर्ग की इस भावना को आप कहां तक उचित मानते हैं, युक्तियुक्त उत्तर दीजिए।

४. 'उत्सर्ग' के आधार पर 'हृदयेश' जी की कहानी कला पर प्रकाश डालिए।

५. काले टाइप के संदर्भों की अपने शब्दों में व्याख्या कीजिए।

डा० आज़म करेवी

बहुत समय से एक विचार मन में घूम रहा है। फारसी लिपि में उर्दू-लेखकों द्वारा ऐसे विपुल साहित्य की रचना हो रही है, जो केवल लिपि-भेद के कारण हिन्दी-साहित्य में प्रवेश नहीं पा रहा है। हम हिन्दी-विद्वानों के सामने यह सुझाव प्रस्तुत करना चाहते हैं, कि फारसी लिपि में रचित ऐसा समस्त उर्दू-साहित्य, जिसकी भाषा सरल प्रचलित खड़ी बोली है, हिन्दी की भी सम्पत्ति माना जाना चाहिए। उर्दू के कितने ही लेखकों ने अपनी उर्दू-रचनाओं को देवनागरी में प्रायः ज्यों का त्यों प्रस्तुत करके उन्हें हिन्दी साहित्य में सम्मिलित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस बात से कौन इन्कार कर सकता है कि उपेन्द्रनाथ अश्क, कृष्णचन्द्र, शौकत थानवी, अहमद नदीम क़ासिमी, श्रीमती हिजाब इम्तियाज़ अली, मुन्शी प्रेमचन्द आदि अनेक उर्दू-लेखकों ने अपनी रचनाएँ हिन्दी साहित्य में लाकर उसकी अद्भुत सेवा की है! केवल लिपि की दीवार के कारण हिन्दी साहित्य को इस अमूल्य साहित्य-सामग्री से वंचित रखना सर्वथा अनुचित है। यदि लिपि-भेद को ही सबकुछ मान लिया जाता, तो हिन्दी के विपुल सूफी-साहित्य से भी हम वंचित रहते। आज गुरुमुखी लिपि में ब्रजभाषा हिन्दी की विपुल हस्तलिखित साहित्य-सामग्री पंजाब में पाई जाती है। वह हिन्दी साहित्य में सम्मिलित क्यों न हो? फारसी-अरबी की कठिन क्लिष्ट शब्दावली से रहित सरल उर्दू भाषा में और हिन्दी में अन्तर ही क्या है? फारसी लिपि के कारण ही हिन्दी वाले सरल उर्दू में लिखे गए साहित्य को अपनाने से हिचकिचाते हैं। हमने इस विषय पर विस्तार के साथ अन्यत्र प्रकाश डाला है, और उर्दू की अनेक रचनाओं के उदाहरण-उद्धरण देकर इस बात की पुष्टि की है, कि सरल भाषा में रचित कितना उर्दू साहित्य हिन्दी के बाहर पड़ा है, उसे अपनाने की आवश्यकता है। इसे उर्दू के विरोध की बात समझना और भी दुर्भाग्यपूर्ण होगा। वस्तुतः उर्दू भाषा और साहित्य की हानि या विरोध का कोई प्रश्न

ही नहीं उठता। ऐसी रचनाएँ उर्दू और हिन्दी दोनों की समान सम्पत्ति रह सकती हैं। इससे दोनों ही को लाभ होगा। अस्तु !

उर्दू-लेखकों के भाषा-प्रयोग में आश्चर्यजनक परिवर्तन के कारण, उर्दू में ऐसे कथा-साहित्य की कोई कमी नहीं, जो भाषा की दृष्टि से हिन्दी के निकट ही नहीं, बिल्कुल हिन्दी का माना जा सकता है। हम उर्दू के प्रतिभावान् लेखकों की अमूल्य देन से लाभान्वित क्यों न हों ? इसी विचार से हमने उर्दू के प्रसिद्ध कथाकार डा० आज़म करेवी की एक प्रसिद्ध कहानी 'कुर्बानी' प्रस्तुत पुस्तक में दी है।

डा० आज़म करेवी की कहानियों पर प्रेमचन्द का प्रभाव स्पष्ट है। आप अपनी सरल, सरस भाषा-शैली, सामाजिक यथार्थवादी प्रवृत्ति, वर्गगत पात्रों का प्रकाशन, ग्रामीण जीवन की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों के सजीव चित्रण तथा दलित मानवता के प्रति संवेदना आदि विशेषताओं में प्रेमचन्द से अपूर्व समानता रखते हैं। समाज के भिन्न-भिन्न वर्ग के लोगों की मनोवृत्तियों का आपको प्रेमचन्द-जैसा ही गहरा अनुभव है। आपने अधिकतर निम्नवर्ग के पात्रों को अपनी कहानियों में स्थान दिया है। आपकी कहानियों में संवाद भी अत्यन्त सजीव, स्वाभाविक, रोचक और पात्रानुकूल होते हैं। उर्दू और हिन्दी का अद्‌भुत, सुन्दर सम्मिश्रण आपकी भाषा की एक विशेषता है। आप उर्दू के वर्तमान काल के प्रसिद्ध कहानीकार हैं। शेख़-ओ-ब्राह्मण, इन्क़िलाब, कँवल, नए अफ़साने आदि आपके प्रसिद्ध संग्रह हैं।

कुर्बानी : प्रस्तुत कहानी डा० करेवी की एक अत्यन्त दर्द भरी, प्रभावपूर्ण छोटी कहानी है। इसमें छोटी कहानी की कलात्मक पूर्णता पाई जाती है। आरम्भ भी आकर्षक है, अन्त भी रुलाने वाला। इसमें लेखक ने पुलिस के दारोग़ा के अत्याचार, हृदयहीनता और अनुचित रौब व ज़्यादती का भी कच्चा चिट्ठा खोला है। साथ ही कुर्बानी के 'कारे-सवाब' पर भी जबरदस्त चोट की है। बालक अहमद कहता है—"अच्छा तो मेरा पीरा

मारा जायगा। तब तो बेचारे को बड़ी तकलीफ़ होगी, अम्माँ ! लोगों को ऐसा करने में क्या मज़ा मिलता है ? लोग क़ुर्बानी क्यों करते हैं ?"······ "अम्माँ जान, मारने से अल्ला मियाँ खुश क्यों होते हैं ? अगर तुम मुझको मार डालो, तब तो अल्ला मियाँ और भी खुश होंगे। क्यों माँ, ठीक है न ?" कैसी दर्द-भरी चुभन है, व्यंग्य है, मीठा-तीखा ! कथा का विकास बड़ा ही स्वाभाविक है। आरम्भ से अन्त की ओर उसकी सीधी गति है। उत्सुकता और रोचकता को बढ़ाती हुई कथा चरम सीमा पर समाप्त होती है। बच्चे का अपने बेज़बान पीरा के साथ सहज, निश्छल प्रेम बड़ा मार्मिक है। दारोग़ा की निष्ठुरता ने उसे और भी रंग दे दिया है।

कथा में पुलिस के दारोग़ा, उसके अर्दली और गरीब मुन्शी की मनोवृत्तियों का सजीव अनुभूतिपूर्ण चित्रण हुआ है। लेखक को पात्रों की मनोवृत्तियों का यथार्थ अनुभव है। दारोग़ा, अर्दली और मुन्शी तीनों के चरित्रों की रेखाएँ सजीव हो उठी हैं।

डा० करेवी के संवाद भी प्रेमचन्द जैसी विशिष्टता रखते हैं। पात्रानुकूलता, संक्षिप्तता और रोचकता उनका भारी गुण है। कथा और चरित्रों को वे सर्वत्र स्पष्ट करते हैं। नाटकीयता उनकी विशेषता है। लेखक की उर्दू-हिन्दी-मिश्रित भाषा-शैली बिल्कुल सरल, सरस, बोलचाल की-सी है। बीच-बीच में मुहावरे और लाक्षणिक प्रयोग भी पाए जाते हैं। सादगी, प्रवाह और चुस्ती अद्भुत है। उर्दू का कोई भी तो कठिन शब्द नहीं। सब प्रचलित बोलचाल के शब्द हैं। कहानी का शीर्षक अपने लक्ष्य को स्पष्ट करता है। यह क़ुर्बानी कितनी निर्दयतापूर्ण है ! दो जीवों के निश्छल प्रेम को खा जाने वाली, हँसती-बोलती-खेलती आत्माओं को समाप्त कर देने वाली ! पर यह क़ुर्बानी क्या अहमद को उसके पीरा से जुदा कर सकती है ? इस दुनिया वाले चाहे उन्हें अलग करदें, वे कहीं और मिल जायेंगे। अहमद बुड़बुड़ाने लगा— "पीरा तू इतनी देर से कहाँ था ? कब से मैं तुझको ढूँढ रहा था। ले मैं भी तेरे पास आगया, अब हम दोनों को कोई जुदा न कर सकेगा।"

क़ुर्बानी

दरोगा अब्बास अली अपने बंगले के बरामदे में एक पुरानी आराम-कुर्सी पर लेटे थे। बग़ल में एक स्टूल पर हुक्का रखा हुआ था और उसकी नली उनके हाथ में थी। चेहरे के उतार-चढ़ाव से मालूम होता था कि वह किसी गहरी सोच में डूबे हुए हैं। एक बार हुक्का 'गुड़-गुड़' कर उठा, किन्तु चिलम ख़ामोश रही। धुआँ न निकला। 'उफ ! ज़रा-सी बात को सोचते-सोचते इतनी देर होगई, हुक्का तक ठंडा होगया'—कहते हुए दरोगा जी ने अपने चारों तरफ नज़र दौड़ाई। "बड़ा पाजी नौकर है। कमबख़्त, घड़ी-भर यहाँ नहीं बैठ सकता।" बुड़बुड़ाते हुए दरोगा जी ने ज़ोर से पुकारा—"छोटा ! अबे ओ छोटा ! कमबख़्त कहाँ मर गया ?"

(नाटकीय आरम्भ बड़ा आकर्षक है)

"जी हुज़ूर !" कहता हुआ अधेड़ उम्र का एक आदमी मैले-कुचैले कपड़े पहने दरोगा जी के सामने आकर खड़ा होगया।

"बेवकूफ़ ! तुझे अब मेरे काम की फ़िक्र ही नहीं रहती ! जा चिलम में आग भर ला।"

छोटा चिलम लेकर जाने लगा तो दरोगा जी ने दूसरा हुक्म दिया—"अबे ओ, सुन ! चिलम भरकर रहमत को फौरन बुला।"

छोटा चिलम भरकर रहमत को बुलाने चला गया और दरोगा जी हुक्का गुड़गुड़ाने लगे। पाँच मिनट के बाद रहमत आता दिखाई दिया। दरोगा जी **कुर्सी पर अकड़ गए।**

रहमत ने दरोगा जी को क़ायदे से सलाभ किया और एक तरफ़ खड़ा होगया, बुत की तरह—रंग आबनूस को मात करने वाला, कपड़े साफ़-सुथरे।

दरोगा जी ने फरमाया—"रहमत कल बक़र-ईद है !"

"जी हुज़ूर"

"तुमने कुर्बानी के लिए तो कुछ इन्तज़ाम कर ही लिया होगा ?"

रहमत एकदम अनजान, भोला-भाला और सीधा बन गया ।[1] बोला—"मैं थोड़ी-सी तनख्वाह पाने वाला ग़रीब सिपाही भला कुर्बानी का इन्तज़ाम क्या करूँगा ?"

दरोगा के होठों पर मुस्कराहट आगई, बोले—"तुमने मेरा मतलब नहीं समझा, रहमत ! मैं पूछ रहा हूँ कि तुमने मेरे लिए क्या इन्तज़ाम किया है ?"

"ख़ता माफ हो, मुझे मालूम नहीं था कि हुज़ूर कुर्बानी करेंगे, नहीं तो यह कौन-सी बड़ी बात थी ! एक छोड़ पचास कुर्बानियों का फ़ौरन इन्तज़ाम कर देता । आज ही तो देहात से लौटा हूँ । अगर हुज़ूर ज़रा-सा इशारा कर देते तो मोटे-ताज़े बकरे खरीद लाता । **किसकी मजाल है जो हुज़ूर के नाम पर इस कारे-सवाब (पुण्य-कार्य) के लिए रहमतबेग से 'नहीं' कहने की हिम्मत करे ।**"[1] इतना कहकर रहमत तन कर खड़ा होगया । उसका दावा भी झूठा न था । एक तो वह पुलिस का कांस्टेबल, दूसरे दरोगा जी का अर्दली । सारे इलाके में उसका रौब था । फिर भी शायद दरोगा जी को रहमत का जवाब कुछ पसन्द न आया । उन्होंने कहा—"कैसे अर्दली हो भाई ! जैसे जब तक मैं न कहूँ, तुम मेरी ज़रूरत का ख्याल ही न करोगे ? वाह ! वाह !! मुझे तो मरने तक की फ़ुर्सत न थी । जाँच पर जाँच; क़तल, डाका, चोरी की जाँच-पड़ताल करते-करते मेरा **नाक में दम आगया** । ऐसी हालत में भला मैं कौन-कौन सी बातें याद रखता ! लेकिन तुम मेरे अर्दली हो, तुमको ज़रूर मेरा ख्याल रखना चाहिए था । कोई अच्छा-सा बकरा ही तलाश कर रखते, अब यहाँ देहात से ज्यादा पैसे खर्च होंगे फिर भी बढ़िया माल न मिलेगा ।"

"अब तो ग़लती हो गई हुज़ूर !" कहकर रहमत ने इस तरह **सिर लटकाया, इस तरह मुँह बनाया,** जैसे उसने सचमुच कोई **बड़ी** ग़ल्ती कर डाली है और उस को उसपर दिली सदमा (हार्दिक वेदना) हो रहा है । कुछ देर चुप

---

१. **अर्दली की मनोवृत्ति का सजीव चित्रण ।**

रह कर उसने कहा—"अब भी काम बन सकता है। मेरी निगाह में एक अच्छा बकरा है, आप उसे देखेंगे, तो **फड़क उठेंगे**। मेरे ख्याल में बहुत सस्ता भी मिल जायगा।"

खुशी के मारे दारोग़ा जी की **आँखें चमक उठीं**। उठकर बैठ गए और बोले—"कहाँ है वह बकरा ? कितने में मिल जायगा?"

"जो आप के छोटे मुंशी जी हैं ना, बस उन्हीं के पास वह बकरा है। बाज़ार में पंद्रह-बीस से कम में न मिलेगा, लेकिन जो आप देंगे, वह उन्हें मंज़ूर करना पड़ेगा, घर का मामला जो ठहरा!"

दारोग़ा जी ने कहा—"तो बस ठीक है तुम ज़रा जाकर मुंशी जी को फौरन बुला लाओ।" दारोग़ा जी का हुकुम पाते ही रहमत थाने में पहुंचा। मुंशी जी मेज़ पर झुके हुए थे। **उनका क़लम रजिस्टर पर दौड़ रहा था**। रहमत ने हुकुम सुनाया "मुंशी जी, फौरन चलिए, दारोग़ा जी आप को याद फरमा रहे हैं।"

(उत्सुकता और संघर्ष का आरंभ)

दारोग़ा जी के अर्दली की आवाज़ सुनकर मुंशी जी चौंक पड़े। एक नज़र रहमत के चेहरे पर डाली और पूछा—"रहमत यह तो बताओ, सरकार ने मुझे क्यों फौरन बुलाया है ?"

रहमत ने मुस्कराकर कहा—"वहीं चलकर सुन लेना।"

मुंशी आरज़ू घबरा गए। घबराने की बात ही थी, दारोग़ा जी ने फौरन बुलाया है और वह भी अपने बंगले पर! उन्होंने कभी और इस तरह से नहीं बुलाया था। आखिर आज कौन ऐसा संगीन (कठिन) मामला आ पड़ा, जो मुझे बुलाया है। यह सोचते हुए मुंशी जी रहमत के साथ चल दिए। रास्ते में उन्होंने फिर पूछा—"आखिर भाई, बताओ तो सही, क्या मामला है?"

इधर-उधर नज़र दौड़ा कर रहमत ने जवाब दिया—"मुंशी जी क्या बताऊँ, आप तो जानते ही नहीं, यह दारोग़ा नहीं पाजी है, बदमाश है, शैतान है ! लोगों को तंग करने ही में इस को मज़ा आता है..."[1]

---

1. **अर्दली की यथार्थ मनोवृत्ति।**

मुंशी जी की घबराहट बढ़ी और बोले—"मैंने तो कोई क़सूर नहीं किया, अपने काम से काम रखता हूँ..."

"तो सुनिए," रहमत ने कहा, "उसकी नज़र आपके बकरे पर पड़ गई है; कल बक़र-ईद है। वह सोच रहा है कि अगर यह बकरा मिल जाए तो..."

मुंशी जी का चेहरा उतर गया। भर्राई हुई आवाज़ में बोले—"उफ़! यह तो बड़ी मुसीबत का सामना है, रहमत! तुम तो मेरे पड़ौसी हो, तुम को खूब मालूम है, मेरा बच्चा..."

बात काटकर रहमत ने कहा—"कुछ कहने की ज़रूरत नहीं, मैं सब जानता हूँ। मैंने इस बदमाश से कई बार कहा कि आप मुंशी जी पर रहम कीजिए। गाँव में बकरों की कमी नहीं है, आपको अच्छे से अच्छा बकरा लादूँगा। मगर उस कमबख़्त ने मेरी एक न मानी। ज्यादा जोर भी नहीं दे सकता। जानते हो नौकरी का मामला है।" ये बातें रहमत ने ऐसे कीं मानों उसके दिल में हमदर्दी का दरिया लहरें मार रहा हो।

मुंशी जी दारोग़ा जी के सामने जा कर खड़े हो गए। उनका जी घबरा रहा था, सिर घूम रहा था, गला सूखा जा रहा था। और उनकी आँखें दारोगा जी की तरफ़ इस तरह से देख रही थीं, जैसे वे दारोगा जी के दिल में छिपी शराफत और रहम को ढूँढ रही हों।

दारोग़ा जी ने पूछा—"मुंशी जी, क्या तुम अपना बकरा बेचोगे?"

मुंशी जी घबरा कर बोल उठे—"हुज़ूर रहम! रहम!"

दारोग़ा जी ने हैरानी से मुंशी जी की तरफ़ देख कर कहा—

"क्या मतलब?"

मुंशी जी ने हाथ जोड़ कर कहा—"हुज़ूर, मैं एक दुखी आदमी हूँ। आठ बच्चे हुए और सब मर गए। अब खुदा के करम से सिर्फ एक बच्चा ज़िंदा है, जो बूढ़े की ज़िंदगी का सहारा है। मेरे इस इकलौते बच्चे का वह बकरा प्यारा खिलौना है। वह इस बकरे को बहुत प्यार करता है। ज्यादा क्या

कहूँ ! उसने अपने मुंह का कौर खिलाकर इस बकरे को पाला है। मेरी आप से यही प्रार्थना है कि आप मेरे इस बच्चे पर रहम करें। इसका खिलौना न छीनें, नहीं तो वह अपनी जान रो-रो कर दे देगा।"

मुंशी जी की आंखों से कुछ लड़ियाँ आँसुओं की निकलीं, जो उनकी खिचड़ी दाढ़ी को चूमती हुई पत्थर के फ़र्श पर गिर कर बिखर गईं। लेकिन दारोग़ा जी "अहा-हा-हा" कर के हंस पड़े और बोले—"वाह ! मुंशी जी, वाह ! तुम भी खूब मुसलमान हो ! मैं तुमसे कोई मुफ्त तो लेता नहीं। फिर भी तुम इस कारे-सवाब (धर्म-कार्य) के लिए इन्कार करते हो।"

(संवाद में नाटीकयता का गुण)

मुंशी जी ने आंखें पोंछते हुए जवाब दिया—"हुज़ूर कारे-सवाब के लिए तो मैं अपनी जान तक दे सकता हूँ, लेकिन अपने नादान बच्चे का **दिल कैसे तोड़ूँ। वह मेरे घर का चिराग़ (दीपक)** है। हुज़ूर भी बाल-बच्चे वाले हैं। मेरे बच्चे का ख़्याल करके उस पर रहम करें।" लेकिन दारोग़ा जी भला कब मानने वाले थे, बिगड़ गए। "तुम आदमी हो या अहमक ! बच्चे तो मिट्टी के खिलौने के लिए भी रोते हैं, लेकिन जब वे उन्हीं के हाथ से टूट जाते हैं, तो थोड़ी देर रो कर भूल जाते हैं। बच्चों का रोना-धोना ही क्या ? जब तुम्हारा अहमद बकरे के लिए रोए तो थोड़ी सी मिठाई देकर समझा-बुझा देना; इस पर भी न माने तो दो चपत लगा देना, बकरे का नाम भी न लेगा। समझे कि नहीं ? अब तुम फौरन जाकर बकरा लाओ। मैं तुम्हारी एक भी न सुनूँगा। रहमत, तुम भी इन के साथ चले जाओ। इनको या इनके घर में किसी को बकरा देने में कुछ हिचक हो, तो तुम खुद उसे पकड़ लाना।"

रास्ते में रहमत ने कहा—"देखा मुंशी जी आपने ! कितना ज़ालिम है ! रहम तो इसमें नाम को भी नहीं। आपने कितनी खुशामदें कीं, इस का **दिल न पसीजा।**" मुंशी जी का **दिल भरा हुआ था,** सिर्फ़ आह भर कर रह गए।

२

पुलिस लाईन के सामने वाले खुले मैदान में बकरा बड़ी आजादी से हरी-हरी दूब चर रहा था। मुंशी जी को सामने आता देखकर वह ठुमकता हुआ उनकी तरफ़ दौड़ा, और मुंशी जी के क़दमों और हाथों से सिर रगड़-रगड़ कर वह बेज़बान अपने दिल की छिपी मुहब्बत ज़ाहिर करने लगा। वह रोज़ ही ऐसा करता और मुंशी जी सिर पर हाथ फेरते हुए अपने घर में चले जाते थे। लेकिन आज बक़रे की इस हरकत ने उनके दिल को मसोस डाला। आज उन्होंने बकरे को प्यार न किया! "आह पीरा!! तू मेरे यहाँ क्यों पैदा हुआ था, तुझे क्या मालूम कि आज तेरी ज़िंदगी का आखिरी दिन है, बेटा? तू अपना यह प्यार अपने साथ ही लिए जा।" अच्छा रहमत! तुम इसको ले जाओ, लेकिन देखना मेरे अहमद को मालूम न होने पाए।"

मुंशी का वह उतरा हुआ चेहरा, डुबडुबाई आँखें और भरा हुआ गला! सबने पत्थर-दिल रहमत के दिल को भी तड़पा दिया। उसने बकरे के कान पकड़े और दारोग़ा जी के बंगले की तरफ ले चला। लेकिन अब उसकी आंखों में वह चमक न थी, न चेहरे पर मुस्कराहट थी और न अब वह चाल में तेज़ी! वह अब कुछ सोचता-सा जा रहा था।

रहमत अभी दारोग़ा जी के बंगले से कुछ दूर पर ही था कि सामने से बग़ल में छोटा-सा बस्ता दबाए अहमद आ निकला। उसको देखते ही बकरा एकदम "मैं मैं" करके चीख़ उठा और छूटने के लिए तड़पने लगा—बिल्कुल उसी तरह जैसे छोटा बच्चा "माँ! माँ" कह कर अपनी माँ की तरफ दौड़ता है। अहमद ने दौड़कर बकरे की पीठ पर हाथ फेरा और रहमत से कहा—"मेरे पीरा को कहाँ लिए जा रहे हो? छोड़ दो, मैं स्कूल से आ गया हूँ, इसके साथ खेलूंगा।"

(संघर्ष तीव्र होता है)

रहमत ने जवाब न दिया। वह आहिस्ता-आहिस्ता आगे बढ़ने लगा। नन्हा-सा बच्चा "चचा मेरे पीरा को छोड़ दो, चचा! मेरे पीरा को छोड़ दो" कहता हुआ उसके पीछे चला। पहले उसकी आवाज़ में नरमी थी फिर गरमी आई और आखिर में ख़ुशामद आ गई। लेकिन रहमत चुप-चाप अपना काम किए जा रहा था।"

दारोग़ा जी ने पीरा को देखा—बड़ा मोटा ताज़ा, लम्बे-लम्बे सींग, भरी हुई गर्दन। खूब चमकता हुआ काला रंग! दारोग़ा जी का दिल खुश होगया। कहने लगे—"रहमत, वाक़ई बड़ा बढ़िया माल लाए हो। कोई परवाह नहीं अगर चार-छः रुपये खर्च हो जायेंगे। अच्छा, इसे अस्तबल (अश्वशाला) में ले जा कर बाँध आओ।" रहमत ने वैसा ही किया।

"मेरा पीरा, मेरा पीरा", अहमद फूट-फूट कर रोने लगा और दारोग़ा जी के सामने जाकर कहने लगा—"चचा मेरे पीरा को छोड़ दो।" दारोग़ा जी ने जेब से चार पैसे निकाल कर अहमद के हाथ पर रखे और कहा—"ये पैसे ले जाओ, मिठाई खाना। मैंने पीरा को तुम्हारे अब्बा (पिता) से खरीद लिया है, अब वह तुमको नहीं मिलेगा।" अहमद ने पैसे फेंक दिए और दारोग़ा जी के पाओं से लिपट गया। "नहीं दारोग़ा जी, मेरे अच्छे चचा जी! मैं पैसे न लूँगा, मेरा पीरा मुझे दे दो।"

दारोग़ा जी को गुस्सा आ गया। उन्होंने ज़ोर से अहमद का कान मल दिया। फूल-सा बच्चा तिलमिला उठा। भागकर बरामदे से बाहर निकल आया। वह कभी अस्तबल (घुड़शाला) के सामने जा खड़ा होता और कभी बरामदे के पास पहुँचकर चिल्लाता—"मेरा पीरा, मेरा पीरा!" उधर बन्द बकरा भी शायद बच्चे के हाल पर तड़प रहा था और बार-बार "मैं-मैं" कह कर अहमद को पुकारता था।

दारोग़ा जी इस चीख-पुकार से तंग आ गये। उन्होंने गरज कर अपने नौकर छोटे को हुकम दिया—अबे जाकर उस मुंशी से कह दे कि अपने बाप को यहां से ले जाये, नहीं तो मारे हंटरों के खाल उधेड़ दूंगा।"

बेचारे मुंशी जी घबराए हुए आये। उनको देखकर अहमद चिल्ला उठा—"अब्बा, मेरा पीरा! अब्बा मेरा पीरा!" मुंशी जी ने दिल थामकर कहा—"बेटा, घर चलो। पीरा को सदा के लिए भूल जाओ।" अहमद मचल गया और "पीरा! पीरा!" कहकर ज़मीन पर लोटने लगा। मुंशी जी ने बड़ी मुश्किल से उसको गोद में उठाया और घर का रास्ता लिया। उनकी

आंखों से आंसू गिरते जाते थे और अहमद बराबर चिल्ला रहा था—"मेरा पीरा, मेरा पीरा !"

घर पहुँचकर उसका और भी बुरा हाल हो गया। माँ बाप उसे समझाते थे, प्यार करते, गोद में उठाते थे, लेकिन वह एक रट लगा रहा था—"मेरा पीरा, मेरा पीरा!" माँ अहमद को गोद में लेकर कहती थी—"मेरे लाल रो मत, मैं तुझे पीरा से भी अच्छा बकरा मंगा कर दूंगी।" लेकिन अहमद किसी की कुछ न सुनता था। वह यही कहे जाता था—"मेरा पीरा! मेरा पीरा दिला दो !" वह घण्टों रोता रहा। न तो उसने कुछ खाया, न पिया। उसकी यह हालत देखकर माँ बाप भी कुछ न खा सके। आखिर अहमद रोते–रोते थककर सो गया। वह शायद सपने में भी पीरा को देख रहा था, क्योंकि वह कभी–कभी 'पीरा, पीरा' कह कर चौंक उठता था। माँ बाप रात भर चुप–चाप आँसू बहाते रहे।

पिछली रात को अहमद का शरीर कुछ गरम मालूम हुआ और सुबह होते-होते खूब ज़ोरों का बुख़ार चढ़ आया। जब अहमद की आँख खुली तो उसने पूछा—"अम्माँ, मेरा पीरा कहाँ है ?" माँ बेचारी क्या जवाब देती ? उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। यह देख कर अहमद ने कहा—"मत रोओ, मुझे याद आ गया। मेरे पीरा को उस दारोग़ा ने पकड़ लिया है। अब मैं उस के लिए नहीं रोऊँगा, तुम भी न रोओ अम्माँ !" इतना कह कर बच्चा बेहोश हो गया।

मुंशी जी से उनकी बीवी ने कहा—"ज़रा एक बार फिर उस ज़ालिम के पास जाओ और कहो कि खुदा के लिए मेरे बच्चे की जान बचा लें।" मुंशी जी ने कहा—"अहमद की माँ, उस ज़ालिम से कुछ ऊमीद न रखो, फिर भी तुम्हारे कहने से मैं उस के पास जाऊँगा, रोऊँगा, गिड़गिड़ाऊँगा, शायद उसे हमारे हाल पर रहम आ जाए।"

मुंशी जी दारोगा के पास गए और उनके पैरों पर सिर रख दिया। रो-रो कर कहा—"हुज़ूर, मेरे बच्चे के हाल पर रहम क़ीजिए। मैं झूठ नहीं कहता। आप खुद चलकर देख सकते हैं। आप की मेहरबानी से मेरा

बच्चा अब भी बच सकता है।" **लेकिन पत्थर में जोंक नहीं लगती** । दारोग़ा जी के दिल पर मुंशी जी की चीख़-पुकार का कुछ भी असर न हुआ और वह निराश हो कर अपने घर लौट आए।

(३)

बक़र-ईद का दिन था। सब मुसलमानों के घरों में खुशियां मनाई जा रही थीं। लेकिन मुंशी जी के घर पर **दुख के बादल छाए हुए थे**। न वे नहाये, न कपड़े बदले और न ही ईदगाह तक जा सके। घर में चुप-चाप बैठे रहे। उनकी बीवी का हाल और भी बुरा था। अहमद की हालत बिगड़ती जा रही थी, अचानक उसने आंखें खोलीं और माँ से पूछा—"**अम्माँ, दारोग़ा जी ने मेरे पीरा को क्यों पकड़ लिया ? उसने उनका तो कुछ बिगाड़ा नहीं था।**" बेचारी माँ बच्चे को कैसे समझाती। उसकी ज़बान से निकल गया—"बेटा, आज बक़र-ईद है; दारोग़ा जी तुम्हारे पीरा की कुर्बानी करेंगे।"

"**अच्छा, तो मेरा पीरा मारा जाएगा ? तब तो बेचारे को बड़ी तकलीफ़ होगी, अम्माँ ! लोगों को ऐसा करने में क्या मज़ा मिलता है ? लोग कुर्बानी क्यों करते हैं ?**" कहते-कहते अहमद की आँखें भर आईं।

"बेटा, कुर्बानी करने से अल्लामियाँ खुश होते हैं।"

"**अम्माँ जान, मारने से अल्लामियाँ खुश क्यों होते हैं ? अगर तुम मुझे मार डालो, तब तो अल्लामियाँ और भी खुश होंगे। क्यों अम्माँ , ठीक है न ?**"[१]

माँ ने बेटे को कलेजे से लगा लिया और उसके सिर पर हाथ फेरते हुए बोली, "बेटा ऐसा न कहो तुम तो **मेरी आँखों के तारे हो**।" बच्चा खामोश हो गया। खुदा जाने उस वक़्त वह क्या सोच रहा था। ठीक उसी वक़्त दारोग़ा जी का नौकर छोटा आया। उसने थाल पर से कपड़ा उठाकर एक रान निकाली। उसको देखकर मुंशी जी की आँखों से आँसू बहने लगे। लेकिन कुर्बानी का तब्बरक (प्रसाद) वह कैसे वापिस करने की हिम्मत कर सकते थे ? वह रान को अन्दर ले आए। रान पर अहमद की नज़र पड़ी। बच्चा सब कुछ समझ गया। एक ठण्डी साँस भर कर बोला—"आह ! मेरा पीरा खत्म हो गया, अब मैं उसे कहां पाऊँगा ?"

---

१. **कुर्बानी पर सुन्दर व्यंग।**

इतना कह कर वह चिल्ला उठा—"मेरा पीरा, मेरा पीरा !" और फिर आँखें बन्द कर लीं। थोड़ी देर के बाद वह बुड़बुड़ाने लगा, "पीरा तू इतनी देर से कहां था ? कब से मैं तुझ को ढूंढ रहा था। ले मैं भी तेरे पास आ गया। अब हम दोनों को कोई जुदा नहीं कर सकेगा।"

माँ ने घबरा कर अहमद के बदन पर हाथ रखा। फिर मुंशी जी को बुलाकर कहा—"ज़रा देखो तो सही, मेरा लाल कैसा हुआ जा रहा है !" मुंशी जी ने देखा, बहुत ज़ोर से बुखार चढ़ा हुआ था। बोले—क्या डाक्टर को बुला लाऊँ ?" "जैसी मर्ज़ी"—कहकर अहमद की माँ चुप हो गई।

मुंशी जी दौड़ कर डाक्टर को बुला लाए। डाक्टर ने बच्चे की नबज़ देखी। थर्मामीटर लगाया और हसरत भरी निगाहों से बच्चे की तरफ देखते हुए मुंशी जी से कहा—"मुंशी जी अब तक क्या करते रहे ? बच्चे की यह हालत हो गई और तुम ने मुझ को खबर तक न की। खैर, चलो मैं तुम को दवा देता हूँ, लाकर फौरन पिला दो।"

मुंशी जी डाक्टर के यहाँ से जल्दी ही दवा ले आए। लेकिन अभी वह घर से बाहर ही थे कि उनके कानों में रोने की आवाज़ आई—"मेरा लाल ! मेरा कलेजा ! तू मुझे छोड़ कर कहाँ चला गया ? हाय !"

मुंशी जी की आंखों में अन्धेरा छा गया। वह लपक कर घर में घुसे। उन्हों ने देखा की पंछी उड़ गया है, सिर्फ पिंजरा खाली पड़ा है, और बच्चे की माँ सिर धुन रही है। उनके हाथ से दवा की शीशी गिर गई और एक आह खींच कर वह भी ज़मीन पर गिर पड़े।

(चरम सीमा पर दुखांत समाप्ति)

प्रष्टव्य

१. 'कुर्बानी' कहानी की मूल संवेदना बताते हुए, लेखक का उद्देश्य स्पष्ट कीजिए।

२. 'कुर्बानी' कहानी के शिल्प और शैली की समीक्षा कीजिए।

श्री नन्दकिशोर

अनेकानेक नव-प्रतिभाएँ हिन्दी कथा-साहित्य को समृद्ध बनाने में योगदान दे रही हैं। इनकी संख्या इतनी अधिक है कि गणना करना भी अत्यन्त कठिन है। प्रान्त-प्रान्त और नगर-नगर में माँ भारती के प्रातिभ पुत्र उसे अपनी पुष्पांजलि अर्पित कर रहे हैं। हमारी ये नव-प्रतिभाएँ ही विकसित होकर कल के रवीन्द्र, शरत्, प्रेमचन्द, प्रसाद आदि बनेंगी।

अम्बाला के साहित्यिक जीवन का कई वर्षों से अध्ययन करने के कारण, कई नव प्रतिभा-सम्पन्न तरुण कलाकारों से परिचय हुआ है। किन्तु कहानीकार के रूप में भावी आशा की सर्वाधिक स्पष्ट किरणें मुझे श्री नन्द-किशोर में दिखाई दीं। मैं पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि यदि श्री नन्दकिशोर ने अपना लेखन-कार्य पूर्ण उत्साह से जारी रखा, तो हिन्दी साहित्य उनकी श्रेष्ठ कहानियाँ पाकर अवश्य गौरवान्वित होगा।

श्री नन्दकिशोर अम्बाला छावनी के सार्वजनिक तथा साहित्यिक जीवन के उत्साही महारथी हैं। आपका जन्म सन् १९१० में अम्बाला छावनी (पंजाब) के एक सम्पन्न घराने में हुआ था। आपके दादा श्री हरगोलाल आरम्भ में एक साधारण स्कूल-अध्यापक थे। किन्तु उन्होंने अपनी अपूर्व मेधा के बल पर साईंस का सामान बनाने की हरगोलाल एण्ड संस नामक एक फर्म स्थापित की। सुयोग्य पुत्र-पौत्र-संचालकों के हाथों इस फर्म ने दिन-दुगनी रात-चौगुनी उन्नति की। श्री नन्दकिशोर इस समय अपने इस प्रसिद्ध उद्योग के योग्य संचालक हैं। यह एक विरोधाभास श्री नन्दकिशोर जी के जीवन में दिखाई देता है कि वे विद्यार्थी और संचालक रहे विज्ञान और तत्सम्बन्धी उद्योग-धन्धे के तथा लेखक हैं अधिकांशत: साहित्य के। आपने आरम्भ से ही पढ़ने-लिखने में विशेष रुचि दिखाई। रुड़की से सिविल इन्जीनियरिंग करके आप, गवर्नमेंट सर्विस में न जाकर, अपनी ही फर्म के कार्य में लग गए। वास्तु-निर्माण कला, डिज़ाइनिंग आदि के आप विशेषज्ञ माने जाते हैं। विज्ञान और साहित्य का समन्वय आपके जीवन की अद्भुत संगति है।

अपने विद्यार्थी काल से ही हिन्दी व अंग्रेज़ी में लेख-कहानी लिखने की ओर आपकी रुचि थी। गवर्नमेंट कॉलेज लाहौर की प्रसिद्ध पत्रिका 'रावी'

में आपके कई लेख निकले। आपकी कई कहानियां पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं। आपने अबतक लगभग ३० कहानियां लिखी हैं। संग्रह प्रकाशित करने की सोच रहे हैं। आपकी कहानियों में जीवन की सामान्य अनुभव की सवेदनाएँ रहती हैं। कुछ कहानियां आपने विज्ञान-सम्बन्धी भी लिखी हैं। कुछ समस्या-प्रधान कहानियां हैं। भाषा की सरलता और स्वाभाविकता उनका विशेष गुण है।

कांग्रेस-प्रधान कहानी लेखक की एक सुन्दर, रोचक, समस्या-प्रधान मनोवैज्ञानिक कहानी है। इसमें मनोहरलाल के चारित्रिक अन्तर्द्वन्द्व का बड़ा स्पष्ट चित्रण हुआ है। उसकी समस्या एक सार्वजनिक नेता की यथार्थ समस्या है। सच्चा जन-सेवक किस प्रकार अपना जीवन-निर्वाह करने में कठिनाई का अनुभव करता है, किस प्रकार यदि वह अपने रसूख़ से कोई धंधा—डिपो, कोटा, परमिट आदि पाता भी है, तो लोकापवाद के भय से उसे आतंकित होकर छोड़ना पड़ता है। वह अपने यश और कीर्त्ति को धब्बा नहीं लगने देता। किन्तु इस कीर्त्ति की रक्षा के लिए उसे कितना मूल्य चुकाना पड़ता है, अपनी पत्नी का बलिदान, अपने स्वास्थ्य की होली तथा अपने बच्चों की उपेक्षा करनी पड़ती है। यही नहीं, बढ़ते-बढ़ते यह कीर्त्ति का नशा इतना बढ़ जाता है कि उसे अपनी व्यक्तिगत भावनाओं—अपने प्रणय का भी ख़ून करना पड़ता है। कीर्त्ति ही उसकी सच्ची महारानी है, वही उसकी प्रेयसी है! करुणा ठीक ही तो कहती है—"नहीं, यह बात नहीं (मैं विवाह करके विधवा होने से नहीं डरती)। मैं डरती हूँ कि कहीं वह कीर्त्ति विधवा न हो जाए, जिसका हाथ तुमने वर्षों से पकड़ा हुआ है। यह एक ऐसी वधू है मनोहर, जो किसी और का आना नहीं सहन कर सकती। इसको सदा सुहागिन रखना है। मेरा क्या, तुम्हारे पश्चात् मैंने भी कितने दिन रहना है? परन्तु वह कीर्त्ति जिसके कारण हम और तुम एक न हो सके, तुम अधिक दिन जीवित न रह सके, अखण्ड सुहागिन रहे, यही मेरी अन्तिम सेवा होगी।" लेखक ने सार्वजनिक नेता की आर्थिक समस्या और सच्चा जन-सेवक बनकर यश-कीर्त्ति-लाभ की अभिलाषा—इन दो यथार्थ स्थितियों का अच्छा चारित्रिक द्वन्द्व प्रकट किया है। मनोहरलाल जन-सेवा में अपना सब कुछ

लगा देता है। अपनी समस्त सम्पत्ति को दान कर देता है। अपनी पत्नी और लड़कियों के खान-पान, स्वास्थ्य की परवाह नहीं करता। फलत: दुखी परिवार की दुखी गृहिणी को प्राण त्यागने पड़ते हैं। जेल की यातनाओं, और स्वास्थ्य का ध्यान न रखने के कारण, प्रधान जी हृदय-रोग के शिकार हो जाते हैं। जनता ने अपने नेता का अभिनन्दन किया, और भारत-प्रधान पं० नेहरू से अपने प्रधान पं० मनोहरलाल की तुलना करते हुए कह ही तो दिया, कि 'दोनों ने ही देश की ख़ातिर अपनी-अपनी पत्नी की मृत्यु पर दोबारा शादी नहीं की'। फिर क्या था? मनोहरलाल, जोकि करुणा से वचन-बद्ध हो चुके थे कि २६ जनवरी को दोनों वैवाहिक बंधन में बंधेंगे, यह सुनते ही फिर मानसिक संघर्ष में डूब गए। एक ओर थी लोगों के सामने यह आदर्श और कीर्त्ति रखने की भावना, दूसरी ओर थी करुणा और उसका प्रेम पाने की कामना! बड़ा विकट संघर्ष था! आखिर कीर्त्ति देवी की बाह्य विजय होती है, मानसिक विजय सच्ची अन्तर्भावना की ही होती है। इस प्रकार कहानी में महत्त्वपूर्ण समस्याएँ हैं। लेखक की जीवन-दृष्टि इस कथा में पर्याप्त सूक्ष्म दिखाई देती है। उसकी कला इस कहानी में आन्तरिक गहराई तक पहुँचने का प्रयत्न कर रही है। अज्ञेय, यशपाल आदि प्रसिद्ध लेखकों की-सी अन्तर्दृष्टि और चारित्रिक अन्तर्द्वन्द्व की सूक्ष्मता इस कहानी की विशेषता है। निश्चय ही लेखक की कला प्रौढ़ता को छूती है। मनोहरलाल का आदर्श चरित्र प्रेरणा का प्रकाश-स्तम्भ है। आज देश को ऐसे ही सच्चे, नि:स्वार्थी नेताओं की आवश्यकता है। परन्तु समाज को भी उन्हें थोथी कीर्त्ति का शिकार होने से बचाने का ध्यान रखना होगा।

इस कथा में चरित्र ही कथांश को अग्रसर करता है। मनोहरलाल और करुणा का चरित्र-चित्रण अत्यन्त सजीवता से हुआ है। कथा भी आरंभ से स्वाभाविक अन्तिम परिणति—चरम सीमा पर समाप्त होती है। कथा-विकास और विधान में लेखक को अपूर्व सफलता मिली है। संवाद भी सार्थक और उपयुक्त हैं। उनमें प्रसंग के अनुरूप गम्भीरता पाई जाती है। लेखक की भाषा-शैली भी पर्याप्त मंजने लगी है। उसमें प्रचलित मुहावरे और लोकोक्तियां भी यत्र-तत्र रहती हैं, जैसे—काटो तो बदन में खून नहीं, पानी में मिलना, कोयलों की दलाली में हाथ काले आदि। नि:सन्देह हिन्दी-साहित्य को लेखक से बड़ी आशा है।

कांग्रेस-प्रधान

१

सन् १६२८ में भारत एक बार फिर ब्रिटिश सरकार के प्रति घृणा और विद्रोह की ज्वाला से भड़क उठा। ये वे दिन थे जब भारतवासी देश के कोने-कोने से "साइमन कमीशन लौट जाओ", "साइमन कमीशन लौट जाओ" के नारे लगा रहे थे। आज़ादी के दीवाने देश-प्रेम से उन्मत्त हो गए थे। ये वे दिन थे जब पंजाब में लाला लाजपत राय पर लाठियों की बौछार हुई थी, जब लाहौर के बड़े मैदान में पंजाब-केसरी ने ललकार कर कहा था—"हम पर बरसी एक-एक लाठी ब्रिटिश साम्राज्य के कफ़न में मेखों का काम करेगी।"

उन मतवालों में से जो कॉलेज छोड़ कर और माता-पिता की अवज्ञा कर मैदान में आ गए थे, मनोहर और करुणा भी दो सिपाही थे। वे जेल गए, एक बार नहीं कई बार। पिता के देहान्त के बाद ही देश-प्रेम के जोश में आकर मनोहर ने अपनी सारी सम्पत्ति देश को अर्पित कर दी थी। इस प्रकार उन्होंने इस कलंक को दूर किया कि वे आज़ादी के एक सिपाही होते हुए जमींदारी और किराये की आमदनी पर निर्वाह करें।

परन्तु उन्होंने यह न सोचा कि निर्वाह होगा किस चीज़ पर। न कॉलेज की पढ़ाई पूरी हो सकी, न कोई हाथ का काम आता था। बस उनको एक यही सान्त्वना थी कि भूखों मरने वालों में वे अकेले नहीं थे। उन जैसे हज़ारों वीर अपने-अपने जीवन की आहुतियाँ देश-अर्पण कर रहे थे। मनोहर लाल का विवाह छोटी अवस्था में हो चुका था। उनके दो लड़कियां भी थीं, सावित्री और शीला।

करुणा के पिता रिटायर्ड जज थे। वे करुणा के क्रान्तिकारी विचारों से बहुत परेशान थे। पर इकलौती लड़की का मन भी नहीं तोड़ना चाहते थे। उनको केवल यही सन्तोष था कि मनोहर लाल के प्रभाव से वह चंचल लड़की साम्यवादी विचारों से बची रही।

२

१९३९ आया। विश्व-युद्ध आरम्भ हुआ। कांग्रेस का आन्दोलन एक नए रूप में आगे बढ़ने लगा। आज़ादी की भूख ने मनचले युवकों को तो क्या बूढ़े महात्मा को भी व्याकुल कर दिया। और १९४२ में वह पुकार उठे "अंग्रेज़ो, जाओ, भारत छोड़ दो"।

अंग्रेज़ी सरकार ने नेताओं को पकड़ लिया। पथ-प्रदर्शक अज्ञातवास करते रहे। युवक और युवतियाँ मैदान में निकल पड़े। सत्याग्रही सत्याग्रही न रहे। विदेशी शासक को बर्बरता का नग्न नृत्य करने का अवसर मिल गया।

और इन्हीं दिनों आज़ादी के दो मतवाले, मनोहर और करुणा, हाथ में हाथ पकड़े, छुपते-बचते सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहे थे। करुणा ने मनोहर से कहा, "तुम पीछे रह गए। वर्षों तक मैं तुम्हारी अनुगामिनी रही, पर अब तुम्हारी बारी है। प्रयोगशाला में अब मेरे यन्त्र की परीक्षा होनी है। मैं आगे चलती हूं, तुम पीछे आओ।" और मनोहर लाल करुणा का अनुसरण कर रहे थे।

परन्तु मनोहर लाल का ग़रीब परिवार ये सब यातनाएं न सह सका। पुलिस ने बहुत तंग किया। पेट भर खाना भी नसीब न हुआ। रोज़गार का कोई साधन भी न था। बस, दुखी परिवार की दुखी गृहिणी दोनों लड़कियों को छोड़ कर चल बसी।

३

१९४५ आया। विद्रोही नेता मुक्त किये गए। १९४६ में नेता सरकार के संचालक बने। आज़ाद हिन्द सेना के सिपाही मुक्त हो चुके थे। चोटी के नेताओं को राज्य-शासन बुला रहा था। भारत अपने नेताओं को अपना राजा बनाने को उत्सुक था।

परन्तु जब स्वतन्त्रता के सिपाही मुक्त होकर अपने घरों को लौटे, तो कइयों के घरों पर ताले लगे पड़े थे, कई युवतियों का सिन्दूर मिट चुका

था, हज़ारों की सम्पत्ति लुट गई थी। शासन उनको अपनाने के लिये उत्सुक नहीं था।

मनोहर और करुणा भी ऐसे ही दो सिपाही थे।

४

फिर १९४७ का अगस्त आया। पंजाब जल रहा था। मानवता दानवता में परिवर्तित होकर मनमाने अत्याचारों पर उतर आई थी। युवक, बूढ़े, बच्चे और युवतियां सब कत्ल किये जा रहे थे। और सबसे घोर अत्याचार था नारी के सतीत्व पर आक्रमण। किन्तु मनुष्य फिर भी जीवित था, मानवता फिर भी स्थिर थी, भारत फिर भी स्वतन्त्र था!

करुणा के पिता भी इसी साम्प्रदायिक अग्नि की भेंट हो गए। किसी तरह मनोहर, करुणा और मनोहर की दोनों लड़कियां अपने प्राण लेकर स्वतन्त्र भारत में आगए। कितनी उमंगें थीं मनोहर और करुणा के मन में, जब गोरखे सिपाही उन्हें लाहौर शरणार्थी शिविर से निकाल कर अमृतसर कैम्प ले जा रहे थे! उस ३२ मील की यात्रा का एक-एक गज़ उन्हें कितना साहस और आशा दे रहा था!

परन्तु भारत पहुंच कर उनका मन धक् सा रह गया। मानवता और प्रेम के बदले स्वार्थ और घृणा ने उनका स्वागत किया। बहुत हाथ-पांव मारते रहे, महीनों बीत गए परन्तु अभी तक न कोई घर था न द्वार। बस यही एक सान्त्वना थी कि इस भीषण परीक्षा में वे अकेले परीक्षार्थी न थे।

सूर्य का प्रकाश छिपाए नहीं छिपता। एक वर्ष के पश्चात् ही गंगानगर की शरणार्थी बस्तियों में करुणा और मनोहर लाल का नाम चमक उठा। शरणार्थियों के लिये दोनों ने कोई कसर न उठा रखी। गंगानगर के पूर्व वासियों ने भी गुदड़ी के लाल को ढूंढ निकाला और एक दिन मनोहर लाल शरणार्थियों के अध्यक्ष और कांग्रेस के प्रधान चुने गए। उधर करुणा शरणार्थियों के हस्पताल में थोड़े वेतन पर काम करने लगी।

परन्तु अध्यक्षता या प्रधान-पद अपना पेट भरने में तो असमर्थ ही हैं। फिर भी सेवा के नाम में एक वह जादू होता है, नेता की क़द्र और उसकी

कीर्त्ति इतनी ऊँची होती है कि कई मतवाले अपने घर को आग लगाने में भी नहीं चूकते। मनोहर लाल भी इन्हीं पुरुषों में से एक थे।

५

एक दिन बातों ही बातों में करुणा ने कहा, "कुछ खाने-पीने की भी चिन्ता है या योंही जीवन के साथ खिलवाड़ करते रहोगे ! पत्नी को तो इस संसार से विदा कर दिया। इन लड़कियों का भी कुछ ख्याल है ?"

"और यों क्यों नहीं कहा," मनोहर लाल बोले, "कि मेरा भी कुछ ख्याल है ? तुम्हारे पास कौन-सा कुबेर का धन आ गया है ?"

ये शब्द सुनते ही करुणा व्याकुल-सी हो गई। पता नहीं उसने क्या सुना और क्या समझ बैठी। उससे उत्तर न बन पड़ा। केवल इतना कहा "मेरा तो ईश्वर मालिक है।"

"तो क्या ईश्वर हमारा मालिक नहीं जो हम खाने-पीने की चिन्ता करें ?" मनोहर लाल बोले। कुछ मौन के पश्चात् उन्होंने कहा, "अच्छा, कल मैं राशनिंग ऑफ़िसर के पास जाऊंगा। आशा है कि वे मुझे निराश नहीं करेंगे।"

अगले दिन राशनिंग अफ़सर ने एक क्षण में ही कैम्प की डिपो मनोहर लाल के हाथ में सौंप दी। उसकी क्या शक्ति थी कि शरणार्थियों के अध्यक्ष और कांग्रेस के प्रधान को नाराज़ कर सकता।

डिपो से सौ डेढ़ सौ रुपये मासिक ईमानदारी से बच सकते थे। इससे अधिक की मनोहर लाल को आवश्यकता न थी। कुछ सन्तोष से घर पर आकर बैठे। सावित्री और शीला को प्यार किया। फिर शाम को शरणार्थी मडली में बैठे। खज़ान सिंह कहने लगा, "पंडित जी, आप जैसा कोई विरला ही मिलेगा। कोई और होता तो अब तक चार डिपो लेकर हज़ार रुपये की आमदनी करता। मगर एक तुम हो जो इस ओर ताकते भी नहीं।"

ये शब्द सुनते ही मानो मनोहर लाल पर वज्रपात हो गया। उन्हों ने सोचा, मेरी कीर्त्ति कितनी ऊंची, मेरा यश कितना महान् ! परसों किस

मुँह से डिपो खोलूंगा। वे चुप होकर घर चले आए। अगले दिन प्रातः काल राशनिंग अफ़सर से कृतज्ञतापूर्ण शब्दों में अपना नाम वापिस ले लिया।

मनोहर लाल करुणा से कोई बात छिपाते ही न थे, यह सुन कर करुणा को बड़ा दुःख हुआ। वह पूछने लगी, "कीर्त्ति और वास्तविक यश कारोबार करने में है या भीख मांगने में? यह कीर्त्ति की भूख तुम्हें कहीं का न रखेगी। अब तो शरणार्थी तुम्हें अपकीर्त्ति देते हैं कि तुमने अपने प्रभाव का दुरुपयोग करके राशनिंग की डिपो ले ली, पर कल जब तुम टुकड़े-टुकड़े के मोहताज हो जाओगे तो देखूंगी कीर्त्ति तुम्हारा लालन-पालन कैसे करेगी?"

"मैं विवश हूँ करुणा। जनता को मुझसे बड़ी ऊंची आशाएं हैं। मैं उसे निराश नहीं कर सकता।" मनोहर लाल ने उत्तर दिया।

"उसकी आशाएं अभी इस घर को उजाड़ कर पूरी नहीं हुईं? अभी तो बहुत कुछ शेष है। कीर्त्ति की चोटी पर पहुंचने के लिये अभी तो शायद दो तीन प्राणियों की आहुति की आवश्यकता है।" कुछ देर रुक कर करुणा ने समझाया, "डिपो छोड़ दिया है तो लोहे के सामान का कारोबार करो। स्टील कन्ट्रोलर तुम्हें अवश्य स्टील का कोटा दे देंगे। दो-ढाई सौ रुपये मासिक की आय हो जाएगी। बच्चे पल जायेंगे।"

मनोहर लाल मान गए। पांच-सात दिन के अन्दर ही उन्हें चार टन स्टील के कोटे का परमिट मिल गया। वे सोचने लगे कि करुणा उनका और उनके घर-बार का कितना ध्यान रखती है। यदि उसका परामर्श और सहयोग न मिलता तो उनका बचा-खुचा घर कभी का समाप्त हो गया होता। यदि वह सावित्री और शीला की देखभाल न करती तो पाकिस्तान से उनका सुरक्षित आना और यहाँ निर्वाह करना असम्भव हो जाता। न जाने कितनी बार उन्होंने कुछ समझा। करुणा क्या कहना चाहती है, वे सोचते। कई बार उन्होंने दबे शब्दों में कुछ समझाना चाहा। परन्तु एक बड़ी दीवार खड़ी थी। वे शरणार्थियों के अध्यक्ष थे और कांग्रेस के प्रधान। जनता में उनका कितना मान था, उनसे कितनी ऊंची आशाएं थीं।

वे यह सोच ही रहे थे कि ध्यानचन्द ने आकर कहा, "ज़ुल्म हो गया, पंडित जी। बुरा न मानना। ये नेता बड़े छोटेपन पर उतर आए हैं। अब तो ख़ूब डिपो लेते हैं, ठेके लेते हैं, अफ़सर बनते हैं, वज़ीर बनते हैं। देखो तो सही, शाहबाद के ढोंगी प्रधान आज जेलखाने में बैठे हुए हैं।"

"जेलखाने में? क्यों? क्या किया उन्होंने?" विस्मित स्वर में मनोहर लाल ने पूछा।

"अरे! दो टन कोटे पर हाथ मारा और एक ही बार में १४००० रुपये बना लिये। ब्लैक करते थे, ब्लैक। धरे गए।"

ये शब्द सुनते ही मनोहर लाल के शरीर में काटो तो ख़ून नहीं। एक नाटक का चित्र उनकी आँखों के सामने नाचने लगा। उन्होंने भी चार टन का कोटा लिया है। मंगलवार को वे अपनी दुकान खोलेंगे। लोग उनसे आकर कहेंगे, पंडित जी, होशियारी से रहना, ब्लैक न करना। उन्हें लगा कि किसी ने वैर में उनकी रिपोर्ट थाने में कर दी। पुलिस उनके द्वार पर उपस्थित हुई। 'मैंने कोई अपराध नहीं किया, मैं निर्दोष हूँ,' थानेदार ने हथकड़ी छनछनाई, कहा, "मेरे साथ चलो। फ़ैसला तो कचहरी में होगा।"

आह! कितना हृदय-विदारक दृश्य था। वर्षों की कमाई क्या योंही पानी में मिल जाएगी। कोयलों की दलाली में हाथ काले। ऐसा काम क्यों किया जाय जिस पर लोग कड़ी निगाह रखें, ईर्ष्या और द्वेष पैदा हो। इससे भूखा रहना लाख दर्जे अच्छा है।

६

अगले दिन मनोहर लाल ने परमिट वापिस कर दिया। करुणा ने कहा, "मनोहर, तुम काल्पनिक भय से डर गए। जब तुमने ईमानदारी से रहना था तो भय किससे? मैं तुम्हें चेतावनी देती हूँ कि जिस यश और कीर्त्ति के तुम भूखे हो, उसकी भूख तुम्हें बरबाद कर देगी। तुम तड़पोगे, पछताओगे, पर कुछ हो न सकेगा।"

यह कह कर करुणा गिड़गिड़ा कर मनोहर लाल के पैरों पर गिर पड़ी। मनोहर लाल ने उसे उठाया। वह बोली, "नहीं, मनोहर, इस प्रकार

न उठाओ मुझे। अधिकारी बन कर उठाओ। क्या तुमने मेरी सेवा-शुश्रूषा में कुछ कमी देखी ? क्या मुझमें कुछ असत्य और स्वार्थ देखा जो मेरे भावों को न पहचान सके ? मैं नारी हूँ, मुझे लज्जित न करो। यह तुम्हें शोभा नहीं देता।"

"लज्जित तो मैं हूँ करुणा, स्वार्थी और निष्ठुर !" मनोहर लाल व्यथित स्वर में बोले।

"हां, तुम स्वार्थी और निष्ठुर हो," करुणा ने आवेश में कहा, "कई लोग रुपये के स्वार्थ से देश और मित्र से द्रोह करते हैं। कुछ व्यसनों में पड़ कर परिवार से विश्वासघात करते हैं। तुम भी एक व्यसनी हो मनोहर ! तुम्हें भूख है कीर्त्ति की, तुम मतवाले हो यश के। तुम भीरु हो, कायर हो ! जो मनुष्य अपनी आत्मा के आदेश को स्वीकार नहीं कर सकता, वह भीरु होता है। एक वस्तु चाहे वह कितनी ही महान् क्यों न हो, यदि घर और बच्चों के प्रति कर्त्तव्य में बाधा डालती है तो व्यसन है। यह त्याग त्याग नहीं, कायरता है। साहस करके किसी पथ पर न चल सकना, मान के लालच से त्याग करना, मन में दग्ध रहना और भावनाओं को कुचलना आत्म-प्रवंचना है।"

मनोहर लाल सब सुन रहे थे। सब ठीक था। परन्तु वे विवश थे।

इस प्रकार जीवन बीतता गया। मनोहर लाल ने सरकार से ट्रक चलाने की आज्ञा ली। विवशतः उन्होंने वह ट्रक भी बेच दिया, वह भी घाटे पर। साधारण जीविका भी दुष्कर हो गई।

एक दिन करुणा ने आकर एक शुभ समाचार दिया, "लो, मैं सारी समस्या का हल खोज लाई हूँ। अब न गवर्नमेंट से डिपो लो, न लोहे का कोटा; न कोई ट्रक लो न पदवी। अपनी आत्मा को शान्ति दो। सेठ हुक्म चन्द तुम्हें अपनी मिल में रखने को बड़े उत्सुक हैं। और जानते हो किस पदवी पर नियुक्त करेंगे, '**लेबर वैल्फेयर ऑफ़िसर**'।"

"करुणा ! तुम भी मेरे लिये जीवन बन कर पृथ्वी पर आई हो।" यह कह कर मनोहर लाल सोचने लगे कि अब जीवन की सारी कठिनाइयां

दूर हो गईं। दो ढाई सौ की मासिक आय होगी। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि काम भी मेरे आदर्श के अनुकूल होगा। मेरा कर्त्तव्य होगा, मज़दूरों की आवश्यकता की देखभाल और उनके प्रति सद्व्यवहार।"

७

पांच छ: महीने बीत गए। मनोहर लाल की दुनिया बदल गई। भर पेट खाना और कपड़ा मिलने लगा। अनुरोध-पूर्वक वे ५० रुपये करुणा को भी दे दिया करते थे।

परन्तु भाग्य ने दूर तक साथ न दिया। मिल में साम्यवादी प्रभाव दिन पर दिन बढ़ता गया। इधर महँगाई बढ़ रही थी, उधर मज़दूरों की मांगें नदी की बाढ़ की भाँति बढ़ती चली जा रही थीं। सेठ हुक्मचन्द ने मनोहर लाल की बात मानने में हर प्रकार का सहयोग दिया। मनोहर लाल ने मज़दूरों की उचित मांगें बहुत मनवाईं पर वहाँ कोई सीमा थोड़े ही थी। उनके अथक प्रयत्नों के बावजूद एक दिन हड़ताल हो ही गई। मिल बन्द हो गई। मज़दूरों ने नारे लगाए, "मनोहर लाल मुर्दाबाद"। व्याख्यान हुए, "मनोहर लाल ने हमें बरबाद कर दिया है। वह हुक्मचन्द के पैसों से पला कुत्ता है। दिखावे को शरणार्थियों का अध्यक्ष, कहने को कांग्रेस का प्रधान, परन्तु वास्तव में पूँजीपति का ख़रीदा हुआ पिट्ठू है। सब ढोंग है।"

८

मनोहर लाल के पास करुणा बैठी थी। उन्होंने त्याग-पत्र दे दिया था। करुणा मनोहर लाल को और मनोहर लाल करुणा को समझा रहे थे। करुणा भी सच्ची थी, मनोहर लाल भी ठीक थे, पर करते क्या?

आज उन्होंने एक नये कार्य-क्रम के विषय में सलाह की। मनोहर लाल मान रहे थे कि यश और कीर्त्ति की भूख ने उन्हें कहीं का न रखा। उन्हें अब क्रियात्मक जीवन व्यतीत करना चाहिये। ऐसे कब तक काम चलेगा! कीर्त्ति ने न उनके शरीर को स्वस्थ बनाया, न मन को शान्ति दी।

उन्होंने निर्णय किया कि वे शरणार्थियों की अध्यक्षता और कांग्रेस के प्रधान पद को छोड़ देंगे।

अवसर पाकर करुणा ने फिर वही इच्छा दोहराई, "मुझसे दूर रह कर, अपनी भावनाओं को कुचल कर, तुमने कौन-सी विजय प्राप्त कर ली? मुझसे विवाह करके तुम देश का क्या बिगाड़ दोगे? कौन-से डिपो, कौन-सी पदवी लेकर तुम किसी के अधिकार पर हस्तक्षेप करोगे? कौन-सी ऐसी वस्तु पा लोगे जिस पर किसी और का अधिकार हो?"

कुछ देर रुक कर वह फिर बोली, "तुम्हें याद है मनोहर, २० वर्षों से मैंने तुम्हें अपना नेता माना हुआ है। फिर भी वर्षों तक तुम्हारी संगिनी बनने की भावना मैं मन में न लाई। मैं केवल इसी में प्रसन्न थी कि तुम्हें अपना पथ-प्रदर्शक समझूं। शायद देश पर बलिदान होने की लगन भी इतनी ही प्रबल थी जितनी तुम्हारे संग की। समय बदलता गया। कुछ से कुछ हो गया। अब तुम्हारी रुचि देखी तो तुम्हारा हाथ पकड़ने का साहस किया। और तुम अब भी अनिश्चित हो?"

"अनिश्चित? नहीं-नहीं, तुमने यह क्या कह दिया? ऐसी बात हर्गिज़ नहीं है। हम शीघ्र ही एक घर में प्रवेश करेंगे। एक छोटा-सा व्यवसाय चलायेंगे। सन्ध्या समय दुखी-पीड़ितों की सेवा में जाया करेंगे। प्रातःकाल हस्पताल जाकर रोगियों की दवा-दारू किया करेंगे। हम······हम···अवश्य विवाह करेंगे।"

और दोनों ने आगामी २६ जनवरी को विवाह बन्धन में बन्धने का निश्चय कर लिया।

९

अगले ही दिन मनोहर लाल ने शरणार्थियों की अध्यक्षता और कांग्रेस के प्रधान-पद से त्याग-पत्र दे दिया। फिर क्या था; नगर ही क्या ज़िला और प्रान्त भी हिल उठे। कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं के समूह के समूह आने लगे। शरणार्थी निःसहाय और निराश्रित हो गए। चिट्ठियां और तार आए, 'अपना त्याग-पत्र वापिस लो।' नगर में मनोहर लाल का नाम गूंज रहा था। आज

मनोहर लाल का यश और मान एक प्रत्यक्ष रूप धारण करके उनके नेत्रों को चकाचौंध कर रहा था। और आज ही उन्हें पता लगा कि उनका यश कितना ऊंचा पहुँच चुका था। परन्तु मनोहर लाल ने अन्तिम निर्णय कर लिया था। शायद वे निर्णय वापिस भी ले लेते पर उन्होंने प्रधान पद के त्याग में कुछ और ही प्रभा देखी। जब तक वे प्रधान थे उन्होंने कभी इतने यश का मुँह न देखा था। उन्हें आभास हुआ कि कीर्त्ति पद के त्याग में है, ग्रहण में नहीं।

हम यह बताना भूल गए कि मनोहर लाल को कारावास के दिनों में हृदय-रोग लग गया था। बार-बार की जेल-यात्रा, '४२ की यातनाएं, भारत-विभाजन के कष्ट और वेदनाएं और उसके पश्चात् भूखा, निर्धन जीवन, इन सबने उनके शरीर को जीर्ण-शीर्ण कर दिया था। प्राय: पांच-छ: महीनों में एक बार दौरा पड़ जाया करता था। फिर जल्दी पड़ने लगा। आज फिर दौरा पड़ा था। लेने के देने पड़ गए परन्तु करुणा की सेवा ने उन्हें मौत के मुंह से बचा लिया। मनोहर लाल ने मित्रों से कहा, "भाइयो! तुम अपनी आँखों देख चुके हो। अब कांग्रेस का भार मुझसे उठाए नहीं उठता। इस नामुराद रोग ने मुझे कहीं का न रखा।"

उनका त्याग-पत्र मानने के सिवाय और कोई चारा न था।

१०

आज रामलीला के मैदान में बड़ा भारी जलसा हुआ। लोग हज़ारों की संख्या में एकत्रित हुए। आज विदा होते हुए नेता के चरणों में श्रद्धांजलि भेंट की जानी थी। लोगों के हृदय वेदना से पूर्ण थे। नगर में एक विचित्र-सा शोक-पूर्ण वातावरण था।

वक्ता ने उच्च स्वर से कहा, "मनोहर लाल", जनता ने सहयोग दिया, "ज़िन्दाबाद"। मैदान 'मनोहर लाल ज़िन्दाबाद' के नारों से गूँज उठा। वक्ता ने बोलना आरंभ किया, "भाइयो! आज जिस महानुभाव, नहीं-नहीं महात्मा को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिये हम एकत्रित हुए हैं, उसने देश के लिये अनुपम बलिदान किये हैं। इंडियन नैशनल कांग्रेस के समस्त इतिहास में ऐसे व्यक्ति केवल उंगलियों पर ही गिने जा सकते हैं जिन्होंने देश के लिये अपना

सर्वस्व त्याग दिया हो और निःस्वार्थ भाव से अपने उद्देश्य पर डटे रहे हों। यह एक गौरव की बात है कि पंडित जी ने कभी किसी से किसी प्रकार की आर्थिक सहायता स्वीकार न की। देश भक्ति का दावा करते हुए किसी ने राशनिंग डिपो से अनुचित लाभ उठाया, किसी ने स्टील कोटा लिया। किन्तु दूसरी ओर है, पंडित जी का त्यागमय आदर्श जिन्होंने इन अनुचित उपायों से एक पैसे का भी लाभ उठाने की स्वप्न में भी कल्पना न की।" इसके बाद वक्ता ने मनोहर लाल के जीवन का संक्षिप्त वर्णन करना आरम्भ किया कि किस प्रकार उन्होंने पढ़ाई छोड़ी, कई बार जेल गए, और शरणार्थियों की तन मन से सेवा की। आगे वक्ता ने कहा, "क्षमा करना, यदि मैं अपने नगर के पंडित जी की विशाल भारत के महान् पंडित जी से तुलना करने की धृष्टता करूं। दोनों ने अपनी मातृ-भूमि के लिये बलिदान किये, दोनों ने अपने-अपने जीवन का अधिकाँश जेलों में बिता दिया। दोनों ने अपनी-अपनी सम्पत्ति अपने देश के कल्याण के लिये अर्पित कर दी। इस के अतिरिक्त दोनों ने राष्ट्रीय आन्दोलन के दिनों में अपनी-अपनी पत्नी की मृत्यु देखी और दोनों ने ही अपनी-अपनी पत्नी की मृत्यु के उपरान्त दूसरा विवाह न किया।"

वक्ता के अन्तिम शब्दों पर मनोहर लाल का शरीर रोमांचित हो उठा। उनके हृदय में घोर वेदना हुई। वे अपने स्थान पर बैठे न रह सके, खड़े हुए, परन्तु गिर पड़े। डाक्टर उनकी देखभाल करने पहुँचे। श्रोताओं में हलचल मच गई। वे फिर भी चिल्ला रहे थे, "मनोहर लाल ज़िन्दाबाद।"

११

करुणा मनोहर लाल के सिरहाने बैठी थी। वह बोली, "तो तुम घबरा गए थे न?"

"हां, वक्ता के शब्दों से मुझे चक्कर आ गया था", मनोहर लाल क्षीण स्वर में बोले।

"ठीक है, जनता समझती है कि तुम्हारे त्याग में अभी कुछ कमी है। तुम्हारे बच्चे चलते-फिरते दिखाई देते हैं। तुम्हारी करुणा अभी जीवित है।" कटुता से भर कर करुणा बोली।

"ऐसा क्यों कहती हो करुणा ?"

"इसलिये कि मैं तुम्हें समझा सकूं कि जिस देश के लिये तुमने इतने कष्ट सहे हैं, वह अभी भी तुम्हारे बलिदानों से असन्तुष्ट है। देश ने स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है परन्तु इसके वासी अभी पराधीन हैं। वे अज्ञान और अन्ध-विश्वास के बन्धनों में जकड़े हुए हैं। क्या तुम नहीं समझते कि जनता तुमसे यह आशा करती है कि तुम अत्यधिक निर्धनता में जीवन बिताओ, परिवार की चिन्ता न करो और बच्चों की उन्नति का ख्याल न करो ?"

"परन्तु कांग्रेस के विधान में तो ऐसी कोई बात नहीं।"

"ठीक है कांग्रेस के लिखित विधान में तो ऐसा वर्णन नहीं है, परन्तु हमारे समाज के विधान में, जिसका कांग्रेस एक अंग है, ऐसे सहस्रों प्रतिबन्ध भरे पड़े हैं जो बिना कारण, बिना किसी लाभ के, व्यक्तियों के जीवन निस्सार और दुःखमय बना रहे हैं।"

इस बातचीत को कुछ समय व्यतीत हो गया। रोगी की दशा दिन पर दिन बिगड़ती चली गई। एक दिन वे बोले, "२६ जनवरी में कितने दिन शेष हैं, करुणा ?"

"इसकी चिन्ता न करो, मनोहर।"

"जानती हो हमने क्या प्रण किया था ?"

"जानती हूँ" करुणा का संक्षिप्त उत्तर था।

"क्यों, डर गई क्या तुम विधवा होने से ?"

"नहीं, यह बात नहीं। मैं डरती हूँ कि कहीं वह कीर्त्ति विधवा न हो जाए जिसका हाथ तुमने वर्षों से पकड़ा हुआ है। यह एक ऐसी वधू है मनोहर, जो किसी और का आना नहीं सहन कर सकती। इसको सदा सुहागिन रखना है। मेरा क्या, तुम्हारे पश्चात् मैंने भी कितने दिन रहना है ? परन्तु वह कीर्त्ति जिसके कारण हम और तुम एक न हो सके, तुम अधिक दिन जीवित न रह सके, अखंड सुहागिन रहे, यही मेरी अन्तिम सेवा होगी।"

यह सुनते ही रोगी की व्याकुलता बढ़ गई। करुणा ने समझाया, "घबराओ मत, इससे रोग बढ़ता है। बच्चे घबराते हैं। और फिर मुझमें और

तुममें दूरी ही कब थी। जीवन या मृत्यु न हमको दूर कर सके, न कर सकेंगे। संस्कार विशेष मात्र का ही नाम तो विवाह नहीं है।"

इतने में रोगी को घोर दौरा पड़ा। डाक्टर आये। नगर के मुख्य कार्यकर्त्ता भी उपस्थित थे। रोगी की दशा बिगड़ती जा रही थी। सावित्री और शीला खड़ी रो रही थीं। करुणा उन्हें सान्त्वना देने का विफल प्रयास कर रही थी। कुछ व्यक्ति निराशापूर्ण नेत्रों से भगवान के चित्र की ओर देख रहे थे। इतने में मनोहर लाल हिले। दोनों लड़कियों के हाथ करुणा के हाथों में पकड़ा दिये। गगन-भेदी चीत्कार हुआ। सूर्य अस्त हो गया। बाहर से नाद आया, "मनोहर लाल अमर रहें।"

(चरम सीमा पर समाप्ति)

प्रष्टव्य

१. "'कांग्रेस-प्रधान' कहानी एक समस्या-प्रधान कहानी है"—इस उक्ति पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहानी की समस्याएँ स्पष्ट कीजिए।

२. मनोहरलाल और करुणा के चारित्रिक द्वन्द्वों को स्पष्ट कीजिए।

३. 'कांग्रेस-प्रधान' कहानी की संक्षिप्त समीक्षा कीजिए।